अनुभूति और चिन्तन

—o—

—लेखक:—

श्री कमलेश गौड़

—o—

—: प्रकाशक :—

नवयुग ग्रन्थागार

सी, ७४७, महानगर, लखनऊ

अनुभूति और चिन्तन

(आधुनिक साहित्य पर आलोचनात्मक निबंध)

लेखक

कमलेश गौड़

हिन्दी-प्रवक्ता

नेशनल कालेज, लखनऊ

प्रकाशक

नवयुग ग्रन्थागार

प्रकाशक
नवयुग ग्रन्थागार
सी. ७४७, महानगर
लखनऊ ६

प्रथम संस्करण—१९६६
मूल्य ७·५० रुपये

अनुभूति और चिन्तन

हमारा आलोचना साहित्य

अनुभूति और चिन्तन	श्री कमलेश गौड़
हिन्दी साहित्य में विरह प्रसंग	डा० हनुमानदास "चकोर"
हिन्दी साहित्य : कुछ विचार	डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित
नई समीक्षा : पुराना साहित्य	श्री उपेन्द्रनाथ राय
गीतावली का काव्योत्कर्ष	डा० परमलाल गुप्त
विनयपत्रिका आलोचना और भाष्य	श्री दानबहादुर पाठक एम० ए०
कुछ विचार कुछ समीक्षाएँ	श्री मुरली मनोहर एम० ए०
कवि सेनापति समीक्षा	आचार्य जितेन्द्र भारतीय एम० ए० शास्त्री
दीप से दीप जले	डा० गोपीनाथ तिवारी
कविता में प्रयोगवाद की परम्परा	डा० प्रताप सिंह चौहान
विचार और समीक्षा	,,
हिन्दी उपन्यासों का मनोविज्ञानिक मूल्यांकन	आचार्य 'विकल'
अनुभूति और अध्ययन	आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र एम० ए०
विचार वीथिका	,, ,,
रसखान का अमर काव्य	,, ,,
सेनापति और उनका काव्य	,, ,,
कहानी कला की आधार शिलाएँ	,, ,,
भक्ति काव्य के मूल स्रोत	,, ,,
छायावाद-विश्लेषण और मूल्यांकन	प्रो० दीनानाथ "शरण"
छायावाद और निराला	डा० हनुमानदास "चकोर"
कामायनी के पन्ने	श्री भुवनचन्द्र पाण्डेय एम० ए०
हिन्दी दर्शन	प्रो० रामअभिलाष शुक्ल

अपनी बात

'अनुभूति और चिन्तन' मेरे विचारों का संग्रह है। किसी साहित्यकार की कृति को पढ़ने के बाद मैं स्वाभाविक रूप से उस पर सोचने को बाध्य हो जाता हूं—इसी सोचने के दौरान मे कुछ विचार आते हैं, उन्हीं को एकत्रित करते करते 'अनुभूति और चिन्तन' को रूप मिल गया।

साहित्य, धर्म और संस्कृति इन तीनों पर पढ़ने मे आनन्द आता है। मानव की भाव-प्रधान अभिव्यक्ति, भाषा का कलेवर लेकर साहित्य का रूप ले लेती है, समाज के नियमन और अध्यात्म चिन्तन के फलस्वरूप धर्म आया और समाज की अभिरुचियों के परिपक्व होते होते, रुचियो के परिष्कार ने संस्कृति को जन्म दे दिया फल यह रहा कि, मानव समाज के विकास मे इन तीनो का महत्व है, बलिक तीनों सहायक हैं—साहित्य, धर्म तथा संस्कृति। इसीलिए इनका अध्ययन आवश्यक लगता है साहित्य का अध्ययन अधूरा लगता है जब तक इनका समावेश भी अध्ययन मे न हो। यही कारण है कि सस्कृति, साहित्य, तथा धर्म पर भी मैं सोचने को बाध्य हुआ हू। यह जानता भी हू कि अभी ककहरा ही इन विषयो का पढ़ पाया हू–अभी पढ़ने के मार्ग में हू–यह दृष्टि मुझे मिली है मेरे विद्वान गुरू डॉ० केसरी नारायण जी शुक्ल के द्वारा। उनको धन्यवाद देकर मैं अपने इस गुरु ऋण को हल्का नहीं बनाना चाहता।

खेद इस बात का है कि प्रत्यक्ष रूप से वे मुझसे दूर हैं, परन्तु उनके द्वारा दिए गए गुरु मंत्र मेरे कानो में अब भी गूंज रहे हैं। इसीलिये उन्हें सदैव मैं अपने निकट ही पाता हूं। इस सम्बन्ध मे डॉ० दीनदयालु जी गुप्त श्री अयोध्या नाथ जी शर्मा तथा डा० त्रिलोकी नारायण जी दीक्षित भी श्रद्धा के पात्र हैं जिनसे मुझे सदैव प्रेरणा ही मिलती रही है।

विशेष आभार मैं अपने मित्रों का प्रकट कर रहा हूं—भाई डा० पुत्तूलालजी शुक्ल तथा डा० कृष्ण विहारी जी मिश्र तथा भारत के प्रसिद्ध वायलिन वादक श्री गोपीनाथ गोस्वामी एवम् श्री रमाशंकर शर्मा से भी बात करके, साहित्यिक चर्चा के बीच कुछ न कुछसीखता ही रहा हूं। कहकहों के बीच किसी निष्कर्ष पर पहुच जाना, बात बात मे ही एक निश्चित धारणा पर आ जाना, इनके ही मध्य हुआ है।

इन लेखो के विषय में मुझे कुछ नही कहना है, जैसे हैं आपके सामने हैं। बहुत सतर्क रहने पर भी प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धिया रह ही गई हैं।

अन्त में भाई रामेश्वर तिवारी को भी धन्यवाद दे दूं, जिनके कि सतत प्रयत्न ने मेरे इन विचारों को आपके समक्ष ला दिया। मेरे निकट के सम्बन्धियो ने भी इसमे योगदान दिया, श्रीमती रमा गौड़ ने कभी कभी प्रूफ संशोधन और कभी-लेखो को देखा, आदरणीय चाचा जी श्री राधेश्याम गौड़ भी अपनी सम्मति देते रहे। बहिन सुधा की पढ़ाकू प्रवृत्ति से भी कुछ सीखा ही है, जो सवेरे एक पुस्तक लेकर बैठ जाती तो शाम को समाप्त करके ही उठती।

बी/ए ९१ महानगर

गौड़

विषय-सूची

प्रकाशक की ओर से

श्री कमलेश गौड़ की कृति 'अनुभूति और चिन्तन' का प्रकाशन करके मुझे हर्ष हुआ। लेख तो आपके समक्ष हैं, उसके मर्मज्ञ तो पाठक ही हैं, उसके विषय में मैं क्या कहूं, नहीं जानता। हां, लेखक को बहुत निकट मैं जानता हूं—उठते, बैठते उन्हें देखा है, परखा है। अपने चिन्तन और विश्लेषण में वे सदा ईमानदार और निष्पक्ष हैं—निष्पक्ष रहना उनकी प्रवृत्ति बन गई है। इसलिए मुझे विश्वास है कि अपने दृष्टिकोण में भी उनकी वही प्रवृत्ति अधिक सक्रिय होगी।

मैंने निवेदन किया कि मैंने उन्हें जीवन में बहुत निकट से देखा है—अपनी मस्ती और स्वाभाविक-हँसी में वे जीवन की विषमताओं को कुछ क्षणों के लिए भूल जाँय परन्तु उसके प्रति जागरूक तो रहते ही हैं। यही जागरूक रहना उन्हें यथार्थ के अधिक निकट रखता है। आदर्श उनके जीवन में है, परन्तु वे आदर्श यथार्थ के आधार पर ही आधारित है। मानव के से अभाव उनमें भी हैं, भुलक्कड़ बहुत—कभी कभी मन उस भूल पर ऊबा और बिगड़ा भी है परन्तु उन्हें समक्ष देखते ही और उनसे उन भूलों का कारण सुनते ही गुस्सा कहीं ऐसा लगता है काफूर हो गया। कहने का तात्पर्य यही कि ज्वलन्त और ईमानदार व्यक्तित्व—सरल और स्पष्ट हँसी में मन भाव सर्वदा उमड़ कर स्पष्ट मुखाकृति पर आ जाते हैं कहीं दुराव नहीं, छिपाव नहीं इसी लिए मैंने प्रकाशन के लिए उनकी कृति चुनी, क्योंकि मुझे लेखक और उनकी प्रवृत्तियों में साम्य मिला यह नहीं कि सोचना कुछ और कहना कुछ। नेताओं के निकट रहते हुए भी उन पर नेताओं की यह छाप नहीं। जो पहिली बार मिला वह प्रभावित हुआ, और जीवन भर मित्र बना रहा। थोड़ा सा इनकी-प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाल दूं, कि सामने लम्बी बहुत दूर तक जाती हुई सड़क हो, उस पर वृक्ष हों, न हों, उस पर चलने में इन्हें आनन्द आता है। अधिक वृक्ष तथा उनका तनोवा आकाश की स्वाभाविक सुषमा को नष्ट कर देते हैं।

'मुझे मुस्कान में आनन्द नहीं आता, कवियों को मुस्कान अच्छी लगी हो परन्तु मुस्कान-तो स्वाभाविक और उमड़ते हुए, आन्तरिक भावों को दबा लेती है मुझे अल्हड़ और मुक्त हँसी अच्छी लगती है जिसके कहकहे आन्तरिक भावों की अन्तिम ध्वनि को भी कर देते हैं"

इस प्रकार से उनके विचार अपने, अलग हैं। जीवन और अपने रहन-सहन में भी उतने ही परिष्कृत जितना अपने विचारों में। सौन्दर्य दृष्टि निखरी हुई, परिपक्व, जिस पर कहीं मैलापन नहीं, और बनावट भी नहीं। मैं तरसता रहा यह देखने को कभी इनके कमरे में कागज फैले मिलते, अस्त-व्यस्त कमरा होता, यह सब कभी नहीं मिला। इसके ठीक विपरीत साफ रगड़ी हुई कमरे की फर्श—संयत ढंग से लगाई गई कुर्सियों की कतार—ताजे फूल—महक हो न हो—गुलदस्ते में रखे हुए। वह कमरा साहित्यिक का लगा ही नहीं—इनके व्यक्तित्व में जितनी परिपक्व अभिरुचि है उतनी ही चुस्ती कमरे मे भी मिली, जिसका वातावरण सदा रोबदार मिला। प्रत्येक वस्तुएँ संयत कहीं फैली नहीं, बिखरी नहीं।

मैं इनकी प्रवृत्तियों का वर्णन इसलिए कर रहा हूं कि ये इनके विचारों की बाह्य आकृति हैं। कमलेश जी कविताएं भी लिखते हैं पहिले के लिखे हुये बहुत से गीत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये। 'सुकवि' में यह निरन्तर रूप से लिखते रहे परन्तु अब गीत कम अतुकान्त, चिन्तन प्रधान कविताएँ, अधिक जिसे सुनाते बहुत कम हैं।

'आकाश वाणी' से प्रायः आपके द्वारा लिखे स्केच और मीमांसाप्रधान लेख सुनने को मिलते हैं। अबतक तीन कृतियाँ इनकी प्रकाशित हो चुकी हैं। 'साहित्य-चिन्तन' लेखों की पुस्तक है। साहित्य-दर्शन और परीक्षण इनके द्वारा सम्पादित लेखों का संकलन है।

इन शब्दों के साथ 'अनुभूति और चिन्तन' आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं। अब आप देखें कि लेखक ने अपनी रुचियों के साथ किस अंश तक बाह्य और आन्तरिक समन्वय किया है।

—रामेश्वर तिवारी

साहित्य के सृजनात्मक तत्व

मानव के हृदय मे भावनाओ का महत्वपूर्ण स्थान है, अन्य आन्तरिक प्रवृत्तियो के साथ ही साथ मानव मे भावना का भी जन्म हुआ होगा। आदि काल का मानव इतना ही सवेदन शील, स्पन्दन युक्त और भावुक भी रहा होगा, हो सकता है कि भावुकता के स्तर मे अन्तर हो गया हो। बुद्धि के विकास के साथ ही साथ भावुकता मे भी श्रेणी गत अन्तर होता गया हो, और यह भी सम्भव है कि वह अन्य विकास की ओर उन्मुख हो, परन्तु भावुकता का बीज जो कि मानव के अन्तस्थल मे धंस गया है उसका मानव मन मे कभी कोई स्थान ही न रहा हो, यह सम्भव नही प्रतीत होता। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव की आदि वृत्तियो के साथ ही साथ भावना का जन्म हुआ और यही भावना साहित्य के प्रेरक तत्व के रूप मे है, क्योकि मानव मन मे यह आदि काल से व्याप्त रही है। भावुकता अथवा भावना मे श्रेणी गत अन्तर होता है इसका तात्पर्य यही कि भावनाओ के ऊपर समाज का भी प्रभाव पडता है और उक्त प्रभाव के फलस्वरूप साहित्यकार की भावना एक मूर्त रूप धारण करती है। अव्यक्त भावनाएँ भी मूर्त रूप धारण करने के लिए कभी-कभी बहुत प्रबल हो जाती है और यह स्थल तब का होता है जब मन' स्थिति एक बिन्दु पर केन्द्रित होकर रुक जाती है। मन: स्थिति का केन्द्रीकारण भी बाह्य वातावरण पर निर्भर रहता है। रात के सन्नाटे मे बैठ कर सोचना अथवा दिन के कोलाहल और व्यस्त जीवन के बीच बैठकर सोचना की बाह्य अवस्था मे अन्तर है। आग्ल कवि वर्डसवर्थ की डेफोडिल्स की रचना[1] 'एकान्त के वरदान' मे हुई परन्तु उस वर-

---

[1] एवर इन माइ कोच आइ लाइ,
इन वेकेन्ट आर इन पेंसिव मूड,
दे फ्लाश अपान दि इन वर्ड आइ,
विच इजद ब्लिस आव सालिट्यूड,

(डेफाडिःस—वर्डसवर्थ)

दान का सूत्रपात बहुत पहले ही हो चुका था रचना और उसकी पृष्ठभूमि मे अन्तर है परिस्थितियो का । सूत्रपात के समय कोलाहल और भावो का केन्द्रीकरण नही हो सका था, हाँ, स्वस्थ रूपरेखा साहित्यकार के उर्वर मस्तिष्क मे अवश्य खिच गयी थी, परन्तु इसी पर डेफोडिल्स का निर्माण हुआ । बाद मे एक विशिष्ट वातावरण मे भावना अपना सयत-रूप धारण कर लेती है उक्त समय का यदि किन्हीं गत बातों से सम्बन्ध हुआ तो एक-एक करके सभी बातें तारतम्य के साथ मानस पटल पर आती जाती हैं और इसी स्थल पर भावना का साथ हो जाने पर साहित्य सृष्टि हो जाती है ।

अब प्रश्न यह है कि सभी भावनाएँ इस प्रकार से फल फूल क्यो नही पाती है, क्यो साहित्यकार के मस्तिल्क मे आये हुए सभी विचार बढ नही पाते, और सभी भावनाएँ मुखर नही हो पाती । एक ही दृश्य को देखने के पूर्व संचारी भावो का एक साथ उदय होता है और इन्हीं के अनुसार भावनाएँ भी अपना प्रभाव छोडना चाहता है, यह प्रभाव रह नही पाता, उसमे स्थायित्व नही आता, स्थायित्व इसी विचार मे आ पाता है जिसमें वातावरण के प्रति सूक्ष्म बनने की क्षमता होती है । एक विकलांग, कुष्ट गलित व्यक्ति को देखकर, दया, दबी हुई घृणा (उसके रूप पर जो दयनीय स्थिति को पार कर चुका है ।) और ग्लानि होती है । इस प्रकार से एक ही केन्द्र से कई भावों की स्थितियो का उद्भव हुआ, परन्तु साहित्यकार जो इस दृश्य से प्रभावित होगा वह सर्व प्रथम दया और करुणा की ही बात करेगा और इस प्रकार उसकी कृति मे करुण रस की प्रधानता होगी, ग्लानि और घृणा की भावना हटती सी प्रतीत होगी । इन दोनो तत्वों का स्थान रहेगा परन्तु प्राथमिक रूप मे नही गौण रूप से । प्राथमिक रूप से कार्य करने वाला होता है, साहित्यकार का स्वभाव और उसका आन्तरिक पक्ष । यदि दूसरे शब्दो मे कहे तो यही की साहित्यकार के आन्तरिक और वाह्य वातावरण का भी सम्बन्ध आवश्यक है । साहित्यकार का आन्तरिक पक्ष यदि वाह्य वातावरण से सामंजस्य नही कर पाया तो साहित्य सृष्टि उस दशा मे संभव नही हो सकेगी । 'अज्ञेय' के शेखर और भुवन के सफल व्यक्तित्व का चित्रण साहित्यकार के मन के आन्तरिक और वाह्य समजस्य के फलस्वरूप ही हो सका है । होरी मे प्रेमचन्द का दबा और विप्लवी रूप, शेखर मे अज्ञेय का बौद्धिक विकास, और भुवन में बौद्धिक विलास से बढ़ी हुई एक भावना मुखरित हुई है । अब प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द होरी के चित्रण मे क्यो इतने सफल हो सके हैं । कारण यह है कि होरी मे प्रेमचन्द्र की अनुमति और गाँवों की दरिद्रता का आँखो देखा और अनुभव किया हुआ चित्र है, और इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रेमचन्द अन्तर से विलासी नही है इसलिए विप्लवी और सच्चे

आदर्शवादी व्यक्तित्व का चित्रण कर पाये हैं। यदि बिहारी के सामने एक क्या सैकडो होरी अपना पेट दबाए हीनावस्था लिये बैठे रहते, तब भी उनकी दृष्टि और अनुभूति उस तक केन्द्रित नही होती। होरी उनके काव्य का पात्र हो ही नही सकता था, आँख वहाँ गड न सकती, जाती और फिसल जाती, इसके ठीक विपरीत प्रेमचन्द का क्राँतिकारी पक्ष ऐसी बातो को ले उडा है और जहाँ ऐसी बातें आई है वहाँ उनके पौरुष को जमाने मे सहायक सिद्ध हुई है। 'अज्ञेय' का 'शेखर' बौद्धिक है, ऐसा बौद्धिक जो जीवन की चट्टानो से टकरा कर कुछ सीखता है, वह अपने जीवन मे पूर्ण है—प्रेमी है, कर्तव्यनिष्ट है और क्रान्तिकारी भी है—किसी भी सिद्धान्त को (सामाजिक अथवा राजनीतिक) वह यो ही नही मानता, अतएव अज्ञेय का व्यक्तित्व वातावरण से पूर्ण सामंजस्य करता सा प्रतीत होता है। तभी लेखक अपने व्यक्तित्व को भूल जाता है और और अपने नायक के स ाथ ही बोलने लगता है। साहित्यकार की कृति मे व्यक्तित्व की यही सफलता है।

यह तो साहित्य सृष्टि का कारण रहा। अब हमे अध्ययन यह करना है कि ऐसा साहित्य जो इस माध्यम को लेकर आता है उसमे सार्वभौमिकता क्यो रहती है। यह हम ऊपर सकेत कर चुके है कि भावना की दृष्टिमानव में आन्तरिक चेतना के उदय के साथ ही साथ हुई अश्रु रुदन, हास चीत्कार विभिन्न मनः स्थितियों के वाह्य संकेत है। मानव अनुभव ने शरीर पर पड़े हुये वाह्य दुख की आन्तरिक अभिव्यंजना की। यही भावना का यह रूप साहित्य में प्रमुख स्थान रखता है। प्रत्येक का सुख दुख और सुख दुख मे अनुभव की जाने वाली भावना सबकी एक सी हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति पीडा होने पर कराह उठता है और प्रसन्न होने पर नाच उठता है क्यो ? इसलिये कि भावनाओं मे एक सी ही अनुभूतियाँ हैं। वाह्य पक्ष प्रबल है, अन्तर पक्ष एक सा है, अतएव एक कवि का सुख दुख और उसका स्थाई कारण सम्पूर्ण समाज के सुख दुख का स्पष्टीकरण कर देता है। सीता की अग्नि परीक्षा और शकुन्तला के आर्तनाद की कल्पना करके सभी दुखो हो जाते है सीता और शकुन्तला का सा ही धडकता वक्ष सभी के पास है—यही भावो की समानता है। भावो की समानता यदि न हो-तो साहित्य सृष्टि न हो पाती। दुख या चीत्कार ही तो साहित्य नही, वह साहित्य का अवलम्ब है, उपकरण है। इसी अवलम्ब पर आधारित है, साहित्य। यदि ऐसा न होता तो शकुन्तला के विरह की कातर वाणी को पढ़कर पाठक दुख का अनुभव न करता और दुष्यन्त-शकुन्तला मिलन पर पाठको के हृदय मे एक रागात्मक प्रवृति पैदा न होती। अतएव मानव प्रकृति की एकरूपता भी साहित्य के रचनात्मक तत्वों में से एक है।

धीरे-धीरे यह भाव विकसित होता जा रहा है। मनुष्य की दृष्टि ज्यो-ज्यो विस्तृत होती जा रही है साहित्यकार का मानसिक स्तर उतना ही विकसित हो रहा है। प्रकृति को देखने के दृष्टिकोण मे भी परिवर्तन हो रहा है। पहिले के हिन्दी साहित्य के वर्णन मे कवि की मन प्रकृति के सुख दुख मे साथ नही देता था न और उसके सुख दुख मे प्रकृति भी साथ नही देती थी। आज का साहित्य का प्रकृति के दुख मे अपना दुख मानता है। अपने दुख में प्रकृति भी उसे दुखी होती दिखाई पड़ती है—यह उसके 'आत्म का विकास' है। जब साहित्यकार का 'आत्म' इतना ऊपर उठ जाता है, कि वह कुछ रह ही नही जाता तभी उसका आत्म - विकास हो पाता है और उसकी साहित्य सृष्टि का कारण बन जाता है इस सृष्टि मे प्रधान रूप मे ये तत्व कार्य करते है। १—ऐतिहासिक आधार, २—सौन्दर्य बोध की भावना और ३—वातावरण का प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया।"

साहित्य सृष्टि में साधारण भावो का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। कालीदास के काल के शास्त्री अंगों पर विचार करके यह नही कह सकते कि 'कुमार सम्भव' और 'रघुवंश' एक सफल रचना है। तुलसी के मानस की अलंकारिक चमक-दमक ही सब कुछ नही है, उसमे मानव का हृदय है हृदय की सम्वेदना तथा आदर्श है। हम उसी साहित्य को सफल साहित्य कह सकेंगे जिसमे व्यक्ति के सुख दुख और उसके आदर्शों की झाँकी मिल सकती है। अब हमे यह विचार करना है कि ऐसा साहित्य बनता किस प्रकार है। देश की साधारण जनता के मस्तिष्क मे जो कहानियाँ किस्से जाते हैं वे धीरे-धीरे प्रचलित होते रहते हैं इस प्रकार से कुछ छोटे-छोटे विश्रृंखलित भाव मस्तिष्क मे चक्कर काटते रहते है किन्तु कवि के हाथो मे पड कर यह भाव अत्यन्त विस्तृत रूप धारण कर लेते है। वे कुछ सांस्कृतिक परम्पराओं से तथा राजनीतिक परिस्थितियो से होते हुए उनसे प्रभावित महाकाव्य हो जाते है। महादेव और पार्वती की कहानियाँ, राम सीता की कथा युधिष्ठिर के सत्यव्रती होने की कथा ही सूत्र मे बंध कर महाकाव्य बन गई। यही कारण है कि भावना के मौलिक सूत्रो में तो कोई अन्तर नही मिलता परन्तु गौण सूत्रो मे अन्तर मिल जाता है पहाड़ियों के बीच की प्रचलित रामायण में हम सीता को राम की बहन के रूप मे जानते हैं। उनके यहाँ बहन (चचेरी) और भाई के बीच विवाह प्रथा प्रचलित थी। इस कारण सीता राम की बहिन मानी गई। यह उस स्थान की ऐतिहासिकता का प्रभाव है रामायण पर। यह तो कथावस्तु का अन्तर हुआ। टेकनिक का भी अन्तर पाया जाता है। गावो की टूटी फूटी भाषा में कुछ ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जो पुराणों से सम्बन्धित होती हुई भी पुराणों से नही मिलती वही कहानियाँ है जिन्हें कवियो ने छन्द बद्ध कर डाला है। साधारण जनता के

बीच से उठकर जब अपनी कविताओ को उन्हें राज प्रासादो को सुनाना होता था तभी ऐसी प्रचलित कथावस्तु को सुगठित छन्दो मे बाध दिया जाता था । प्राचीन को नवीन बनाना यह सदा ही से कवि को इष्ट रहा है । बाल्मीक की ऐतिहासिक रामायण को तुलसी ने नई तथा युगो की समस्या को हल करने के रूप मे देखा । राम राज्य की कल्पना करके उन्हो ने अपने समय की प्रचलित राज्य व्यवस्था के प्रति शान्ति पूर्ण विद्रोह ही किया । यह विद्रोह काल्पनिक ही सही, परन्तु विचारो काही विद्रोह बढकर उग्र रूप ले लेता है। अन्त में एक सुगठित राज्य की रूपरेखा भी बताई गयी है । तुलसी के ऊपर पडे हुए बाह्य प्रभाव का ही यह फल है । भाई-भाई का आदर्श बतलाया गया है । तुलसी का युग एक ऐसा युग था जब राज्य के मामलों में उसके उत्तराधिकारियों से झगड़ा होता था । कवि ने राम के त्याग की भावना दिखला कर एक आदर्श की स्थापना की है । मैथिलीशरण और आगे आये । उनकी दृष्टि उपेक्षिता उर्मिला पर पडी । उर्मिला मे उन्होंने त्याग, बलिदान तथा सम्मान अधिक देखा, और वह युग दलितों को सहारा देने, गिरो को उठाने तथा अछूत उद्धार का युग रहा है । गाँधीवादी विचारों का प्रभाव उस युग पर पूर्णरूप से रहा है । गुप्त जी की दृष्टि राजनीतिक परिस्थितियों से छन कर सामजिक आदर्शों तक आई । उर्मिला इन परिस्थितियो के बीच बढ़ी और गुप्त जी के व्यक्तिगत आदर्शो ने उसके त्याग मय प्रेम को पहचाना, वह नायिका बन गई । इस प्रकार से कोई भी कथा का सूत्रपात जनता के हृदय मे होता है, कवि की लेखनी का आधार पाकर वह बहुत ऊँचा उठ जाता है । मुकुन्दराम की चंडी, धर्मराम का धर्म मंगल, बगाल की छोटी-छोटी कहानियों से सम्बन्धित हैं । पचतन्त्र, कथा सरित्सागर, और इंग्लैण्ड के आर्थर की कहानी इसी प्रकार उत्पन्न हुई ।

इस प्रकार से यह सत्य है कि ऐतिहासिक आधारो को लेकर भी साहित्य सर्जना होती है । साहित्य सृष्टि केवल ज्ञान व तत्व विवेचन के आधार पर नही होती । उसके लिए वातावरण की आवश्यकता होती है और फिर वह वातावरण यदि कवि के अन्तर से सामजस्य कर गया, तो इन दोनों के सहयोग से जो काव्य-सृष्टि होती है, वही स्वाभाविक होती है ।

ऐतिहासिक आधारों के अतिरिक्त सौंदर्यबोध की भावना भी अपना विशेष महत्व रखती है । सौंदर्यबोध की भावना से तात्पर्य सौंदर्य की ओर मानव की रुचि के आन्तरिक झुकाव से है । सौंदर्य के परखने की भावना मानव के अनुभूतियो के साथ इतना घुल-मिल गई है कि अनुभूति के परे ऐसी भावना को पृथक-पृथक स्थान देना अथवा पृथक रूप से आँकना सम्भव नही प्रतीत होता और सौंदर्य बोध की परख मे भी बुद्धि के विकास के साथ ही अन्तर होता चलता है । बुद्धि

का परिष्कार सौंदर्य बोध की प्रगति का ही आधार लेकर चला है। एक बच्चे का उदाहरण हम लें, वह गुलाब के फूल की ओर आर्कषित होता है। उस फूल की सुषुमा उसके रंग और ,बनावट के महत्व से ही मिलकर बनीं है। इस लिए यह कहना कि फूल के प्रत्येक अगों के विश्लेषण के पश्चात् बच्चा उसकी सुषुमा की ओर आर्कषित हुआ यह ठीक नही। उसका आकर्षण तथा उसकी दृष्टि के आर्कषण के आधार रूप है बच्चे की मनोवृत्ति। अब हम परिष्कृत एवं विकसित मस्तिष्क को ले, वह भी फूल की कमनीयता की प्रशसा करता है, परन्तु उस प्रसशा का प्रोसेस दूसरा है सम्भवत: उसका विकसित मस्तिष्क पुष्प के प्रत्येक अगो की विश्लेषणात्मक व्याख्या के पश्चात् ही सौन्दर्य कोअपना पाया हो। कहने का तात्पर्य यह कि सुन्दरता की और आकर्षण प्रारम्भ से ही है मानव मे जन्मजात है। प्रवृति मूलत: यही है, परन्तु अवस्था, अनुभव मस्तिष्क का परिष्कार इस मूल प्रवृति मे बहुत कुछ योग दे देता है। यही सौंदर्य मानव की प्रगति का मेरुदण्ड है। सौंदर्य की अनुभूति और उस अनुभूति को परिष्कृत करने की प्रवृत्ति से ही साहित्य में इन गुणो का विकास हुआ होगा। यह क्रिया मानसिक विकारों के साथ-साथ बढ़ती गई। साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को लीन करके, परिस्थितियों से समन्वय करके ही सूक्ष्म सौंदर्य की व्याख्या कर सका होगा। यह दशा तभी की हो सकती है जब मानव इतना चेतनशील हो गया होगा कि अपने वाह्य का आन्तरिक समन्वय कर सके। टैगोर के शब्दो मे आनन्द की पूर्णता सत्य की पूर्णता में है और सत्यकी पूर्णता के द्वारा ही सौदर्य की सृष्टि होती है। सौंदर्य से तात्पर्य यहाँ किसी विशेष सौदर्य से नही परन्तु सौदर्य के व्यापक रूप से है। उसके सार्वभौमिक रूप से है। ससार की कोई वस्तु को सौंदर्य दृष्टा असुन्दर कहने पर उद्यत नहीं होता। इसका कारण केवल यही है कि वह अपनी आन्तरिक दृष्टि से जब किसी वस्तु को देखता है तो वह उसकी उत्पत्ति और मूल पर विचार करता है। उसके पूर्वा पर विचार करते ही वह उसे सुन्दर पाता है। दूसरी बात अनुभूति के साम्य के कारण सौदर्य को परखने की कसौटी केवल एक ही है—वह है आन्तरिक चेतना मे साम्य। गुलाब का फूल सभी को सुन्दर लगता है। क्यो ? केवल इसीलिए कि सभी की मूल रुचि का स्त्रोत एक सा है। एक स्थिति और होती है। प्रकृति वादी (Naturalist) मानते हैं कि पुष्प की सुन्दरता से प्रसन्नता, तादात्मय की स्थिति पुरुष विशेष की मनोदशा पर आधारित रहा करती है। एक दु:खी को वातावरण भी उतना दुखी लगेगा जितना कि उसका संचित दु:ख। इस लिए कुछ वस्तु सुन्दर होने के साथ ही साथ (विशेष अवस्था मे) प्रसन्नता अथवा शान्ति दे सकने मे असमर्थ भी होती है।

जो मगलमय है वह भी सुन्दर माना गया है। साहित्य में मंगल की तमाम भावनाएँ सुन्दर ही प्रतीत होती हैं। वास्तव मे जो वस्तु मगलमय होगी वह हमारी आवश्यकता को पूरी करेगी और वह सुन्दर भी होती है अर्थात् उस वस्तु के द्वारा काम हो जाने के बाद भी, तृप्ति प्राप्त होने के पश्चात् भी, उसकी आकर्षण शक्ति मे कमी नही होगी, इसलिए आकर्षण का शाश्वत होना एक वस्तु को सुन्दर बना देता है। सभी सुन्दर वस्तुओ का ससार के मंगल के साथ सामन्जस्य है। यही मंगल का तन्तु एक व्यक्ति को ससार के अन्य व्यक्तियो से जोडता है और तभी उसका कार्य ससार के मगल के लिए हो जाता है।

ससार मे इसी सौदर्य की अपनी एक विशेष महत्ता है। कवि अपनी अनुभूतियो के सहारे एक सत्य की सर्जना करता है। उस सत्य को सभी अपना लेते हैं। अपनाने का कारण भी यही है कि उस सत्य मे सभी अपने व्यक्तित्व का आभास पाते हैं। साहित्य ही क्यो, कला, जो अनुभूति पर आधारित है वह नित्यकी लीलाओ में ही सुन्दर मय भगवान का दर्शन कर पाती हैं।[1]

---

१ "आधार एक ही है मनुष्य की भावना ने जिसकी महत्ता का अनुभव किया उसकी अर्चना के लिए सैकड़ों मन मिट्टी पत्थर तथा चूने ला-ला कर के एक मन्दिर तैयार कर दिया।"

—साहित्य और सौंदर्य
रवीन्द्र ठाकुर

द्विवेदी-युग और निबन्ध

निबन्ध की कोई सर्वमान्य परिभाषा नही दी गई है। समय-समय पर परिभाषाये बदलती रही है। यदि निबन्ध शब्द पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'निबध्नान्नीत निबन्ध'[1] जो कि बध जाता है अथवा जिसमें विचार बध जाते है वही निबन्ध है। निबन्ध शब्द की ध्वनि से भी यही स्पष्ट होता है, कि निबन्ध वही है जिसमे हमारे विचार, भाव अपनी सीमा मे बंधे होते है। हिन्दी के आलोचको ने भी इस शब्द की कोई अपनी परिभाषा नही दी है। आचार्य शुक्ल, 'यदि गद्य कवियों या लेखको की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है',[2] यही उक्ति कह करके निबन्ध के विषय मे शान्त रह गये है। यह स्पष्ट है कि उक्त बात से निबन्ध की कोई परिभाषा नहीं मिल पाती।

मौण्टेन ने निबन्ध को साहित्य की वह विधा माना है जिसमे लेखक के आत्म प्रकाशन का प्रयास मात्र रहता है। फ्रांसिस बेकन ने निबन्ध को 'विकीर्ण चिन्तन' के रूप में माना है। डॉ० जानसन ने निबन्ध को मस्तिष्क का शिथिल प्रकाशन[3] माना है तथा उनका कहना है कि उसमे क्रमबद्धता और एक श्रृंखला नही रहती। डॉ० जान्सन की यह परिभाषा कुछ उचित नही प्रतीत होती। निबन्ध में निबन्धकार के विचारों का एक क्रमबद्ध चित्रण रहता है, यदि चित्रण क्रमबद्ध न हुआ तो निबन्ध की असफलता मानी जाती है। अतएव डा० जान्सन की यह उक्ति कि Irregular Digested Piece है कुछ तर्क सम्मत नहीं प्रतीत होती। निबन्धकार के मानसिक स्थिति का स्पष्टी-

---

१ शब्द कल्पद्रुमः स्यात् राजा राधाकान्त देव बहादुरेण विरचितः द्वि० काण्ड सन् १८१४ ई० पृष्ठ ८८४।

२ हि० सा० का इति० पं० रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ५०५।

3 An essay is the salley of the must, an irregular undigested piece, not a regular and orderly composition.

Dr Johnson

करण ही तो निबन्ध का बाह्यस्वरूप है विषय चाहे जो भी हो, विषय की क्रमबद्धता उसका तार्किक आवेश निबन्ध को जन्म देता है। अतएव निबन्ध के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि निबन्ध, निबन्धकार के मस्तिष्क का तार्किक विश्लेषण है, ऐसा विश्लेषण जिसमें विषय का प्रतिपादन होता रहता है।

निबन्ध के स्वरूप को स्थापित करने मे भी विभिन्न दृष्टिकोण हैं, और उन दृष्टिकोणों का अन्तर भी मौलिक है। निबन्ध शब्द का अर्थ जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है 'कसाव' अथवा 'तनाव' से है। 'कसाव' आन्तरिक और बाह्य दोनों आपेक्षित हैं। विचारो में क्रमबद्धता, और कसाव होना ही निबन्ध का लक्ष्य है। इससे तो पाश्चात्य लेखक भी पृथक धारणा नही रखते। आक्सफोर्ड कोष ने निबन्ध की परिभाषा मे सामान्य लम्बाई[1] शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार से लम्बाई के बारे में तो सभी एकमत है कि निबन्ध की लम्बाई असामान्य नही होनी चाहिए। यह तो वाह्याकृति का मूल्यांकन रहा, आन्तरिक अथवा विचारो के कसाव मे ही मति की भिन्नता है और उस भिन्नता का आधार है अंग्रेजी का 'एसे' शब्द। 'ऐसे' का तात्पर्य 'प्रयत्न' होता है, अतएव निबन्ध की आकृति वैसी भी हो, लम्बाई कुछ भी हो उसके सीमित होने का प्रश्न ही नही उठता। इसके ठीक विपरीत हिन्दी के निबन्ध मे निबन्धन का होना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान माण्टेन ने निबन्धो मे, निबन्धकार के व्यक्तित्व एवम् उसकी व्यक्तिगत भावनाओ के चित्रण पर अधिक जोर दिया है। माण्टेन के अनुसार निबन्धो मे निबन्धकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व निखरा होना चाहिए, और उससे सम्बन्धित घटनाओ और वातावरण का भी चित्रण होना आवश्यक माना है, जिससे पाठक उससे आत्मीयता का अनुभव करें। इसके ठीक विपरीत भारतीय विचारको द्वारा निबन्धो में, निबन्धकार के वाह्य वातावरण पर अधिक विचार न करके उसके (विचारों के) आन्तरिक पक्ष पर अधिक जोर दिया गया है। अतएव पाश्चात्य एवम् पूर्वी विचारकों के गद्य के स्वरूप सम्बन्धी विचार में यही अन्तर है कि एक निबन्ध मे व्यक्ति के समूचेपन को देखता है, उसमें निजीपन को देखता है और दूसरा उसके निजीपन को भूलकर निबन्ध मे वर्णित वस्तुतथ्य को प्रधान रूप मे मानता है।

निबन्ध साहित्य-चेतना के विकास का एक चिह्न है। पद्य मे तो कवि की कल्पना-शक्ति, उसकी अनुभूति एवम् भावना मात्र का ही चित्रण रहता है परन्तु गद्य-साहित्य विशेषत. निबन्ध, निबन्धकार के चेतन मन का ही प्रतिबिम्ब बिखेरता चलता है। भारतेन्दुयुगीन गद्य को पीछे छोड़कर द्विवेदीयुगीन गद्य अपनी चेतना और विश्लेषणात्मक प्रगति के एक अंश का पूरक प्रतीत होता है। भारतेन्दुयुगीन

गद्य और निबन्ध अपने शैशव काल मे थे, अतएव विचारो का उत्तम और गह्न प्रदर्शन उस युग के निबन्धों में हमे नही मिल पाता जितना द्विवेदी-युगीन निबन्धो मे। इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोविन्द नारायण मिश्र बालमुकुन्द गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र, गोपाल राम गहमरी, सरदार पूर्णसिंह, मिश्र-बन्धु, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्याम सुन्दर दास, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिंह, कृष्ण विहारी मिश्र, एवम् गुलाब राय।

महावीर प्रसाद द्विवेदी एक निबन्धकार के रूप मे उतने महत्वपूर्ण और सफल नही है जितने कि भाषा के सुधारक और आलोचक के रूप मे। द्विवेदी जी से अधिक (निबन्ध की दृष्टि से) उनका युग महत्वपूर्ण और सभी स्थलो पर सोचने वाला रहा है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू और हिन्दी को मिलाने का प्रयास किया इस प्रकार से उनके लेखो मे दोनों भाषाओं के प्रचलित प्रयोगो का संयुक्त उदाहरण हमे मिलता है। इनके निबन्धो का संग्रह 'गुप्त निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है। शिव शम्भु का चिट्ठा शीर्षक लेख विनोद से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धु भी अधिक उल्लेखनीय है। इनके साहित्य मे गम्भीर लेखनशैली मे संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में मिलता है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को एक नई चिन्तन धारा प्रदान की, तथा एक नया कदम इन्होने साहित्य की भाव भूमि पर डाला, और वह था चिन्तन के रूप में। इन निबन्धकारों ने भारतेन्दु-युगीन शैली को ही अनुप्राणित किया है परन्तु मनोवैज्ञानिक एव विश्लेषणात्मक धरातल पर हिन्दी के साहित्यकारो को नवीन तर्क-शक्ति के द्वारा अनुप्राणित किया। इस प्रकार से यह स्पष्ट होता चलता है कि द्विवेदी-युगीन निबन्धो की भाव और विचार-धारा सॉंस्कृतिक एव सामाजिक उलट-फेर को पीकर आगे बढी है। निबन्धो मे चेतना के विकास का यह दूसरा मोड़ है। इस काल के निबन्धों में हम निम्न भावनाओं का स्पष्ट चित्रण देखते है।

१. राष्ट्रीय भावना २ समाज-सुधार की भावना

३. धार्मिक भावना ४. आर्थिक भावना

राष्ट्रीय भावना से तात्पर्य उस भावना से है जिसमे कि आत्म गौरव, देश के हित एवम् जनता के कल्याण की भावना प्रधान रहती है। राष्ट्र-हित व्यक्तिगत हित और सामाजिक-हित से कही अधिक महत्वपूर्ण है। इसी को ध्यान मे रख करके निबन्धो की रचना हुई है। ऐसे निबन्धो की रचना ही इस ओर सकेत करती है कि राष्ट्रीय चेतना का जागरण हो गया था। भारत परतन्त्रता के बन्धन में बँधा हुआ होने पर भी मानसिक स्वतन्त्रता एवम् चेतना का आवाहन कर रहा था। प्रत्येक राष्ट्र के जागरण मे साहित्य का हाथ प्रमुख रूप से विद्यमान रहता है। साहित्य चेतना से मन से भावना से अनुप्राणित होता हुआ चलता है इसलिये उसका प्रभाव स्थायी रहता है

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्व भारतीय साहित्य मे राष्ट्रीय भावना का दर्शन नही हो पाता था। केवल व्यक्तिगत भावनाओ का चित्रण और अनुभूतियो का निर्वाह ही काव्य और साहित्य का सर्वस्व था। रीतिकाल के पश्चात् चेतना के थपेड़ो से आलोडित हो करके युग ने एक करवट ली। साहित्य में एक नई ज्योति का निर्माण हुआ और सामाजिक एवम् राजनीतिक तथ्यों के दर्शन होने लगे। "भारतवर्ष के सुधार के उपाय क्या हैं" "इंगलैंड और भारतवर्ष" आदि निबन्धो मे राष्ट्रीय भावना का आभास मिलता है। इस युग मे भी जब परतन्त्रता का इतना प्रभाव था, यथार्थ कहने पर कठोर दण्ड घोषित होता था। भट्ट जी ने स्पष्ट ही "हालत में चेतने" का सकेत किया है।[१] राष्ट्रीय-भावना के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यकता इसकी भी पड़ती है कि गुलाम जनता के मस्तिष्क से आत्म-हीनता की भावना को समूल नष्ट कर दिया जाय, जब तक हीनता की भावना रहेगी तब तक राष्ट्र-हित सम्भव नही हो सकेगा, इसको दूर करने के लिए इतिहास की भव्य पृष्ठभूमि ही सहायक हो सकती है। यदि अतीत के साथ मानव के वर्तमान को जोड़ा जाय और उसके अतीत की भव्य पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला जाय तो स्वभावतः मानव उत्साहित होता है और उस इतिहास की कड़ी के आसरे अपने वर्तमान को भी उतना ही आशान्वित और गौरवपूर्ण बनाने की चेष्टा करता है। द्विवेदी-युग के लेखकों मे अपने अतीत के प्रति स्नेह और श्रद्धा की भावना पाई जाती है, और दूसरा कारण यह भी है कि वर्तमान का असतोष और हीनता अपने अतीत की महानता मे खो जाती है। इसी के फलस्वरूप साहित्यकारो ने अतीत भारत के गुण गाये है। "प्राचीन भारत की एक झलक,[२] भारतीय पुरातन राजनीति[३], प्राचीन शासन पद्धति और राजा[४], सम्राट अशोक का राज्य शासन[५], तुलसीदास के राजनीतिक विचार[६], इतिहास का महत्व[७], सच्चे ऐतिहासिक ज्ञान की आवश्यकता[८], इतिहास क्या है

---

१. अंग्रेजी राज्य के इस कड़े शासन मे जब हम सब ओर से दबे हैं और चारों ओर से ऐसे कस दिए गये हैं कि हिल नहीं सकते आमदनी का कोई द्वार खुला नहीं रह गया ऐसी हालत में भी जब हम न चेते तब फिर कब चेतेंगे।
नये तरह का जनून, भट्टनिबन्धावली, पृष्ठ १६६।

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती मार्च १९११ ई०

३. गोविन्दराम परवार सरस्वती १९१८-१९ ई०

४. शिवदास गुप्त 'इन्दु' अगस्त १९१४ ई०

५. गंगाशंकर मिश्र 'इन्दु' अगस्त १९१४ ई०

६. परशुराम 'मर्यादा' मई १९१९ ई०

७. सम्पूर्णानन्द 'मर्यादा' अक्टूबर १९१९ ई०

८. भट्ट 'सरस्वती' जनवरी १९१२ ई०

आदि शीर्षक निबन्धों से ही यह स्पष्ट हो गया है कि इस युग का लेखक राष्ट्र-हित के लिए कितना सतर्क है। इतिहास किसी भी राष्ट्र को जीवनदान ही नहीं अपितु एक नयी चेतना, ज्ञान और अनुभव भी तो प्रदान करता चलता है। अतएव राष्ट्र के जागरण के लिए ऐसे लेख और निबन्ध उपयोगी हैं। राष्ट्रीय भावना को और भी दृढ़ करने के लिए राजनीति को अध्यात्म परक एवम् आध्यात्मोन्मुख बताया गया है। भारत का अध्यात्मवादी मानव अपने पारलौकिक जगत की कल्पना करके ही इस जगत में पुण्यलाभ करने की कामना करता है। इस युग के कुछ लेखों में मातृभूमि की देवी शक्ति की बात भी की गयी है। "मातृभूमि की पूजा" शीर्षक लेख ऐसा ही है जिसमे लेखक ने मातृभूमि और ईश्वर को एक ही रूप मे देखा है।[१] इसके अतिरिक्त एक दूसरा सुधारवादी दृष्टिकोण जो इस युग में प्रचलित हुआ वह था इस लोक के प्रति आस्था एवम् विश्वास। मुग़ल काल के प्रभाव से प्रभावित हो करके और उस काल मे शान्ति के अभाव में तड़प-तड़प करके भारतीय जनता ने इस लोक के मंगल और सुख की कल्पना ही छोड़ दी। उन्होंने एक विश्वास एवम आस्था की नींव डाली जो इस ओर सकेत करती थी कि इस लोक का अतृप्त मानव, यदि सत्कर्मी है तो उस लोक मे सुख पायेगा। यह धारणा बहुत कुछ उत्तरदायी है जनता के मस्तिष्क में इस लोक के प्रति एक वैराग्य की भावना पैदा करने की। धीरे-धीरे यह धारणा बढ़ती गई फलस्वरूप इस लोक के प्रति एक वैराग्य की भावना पैदा हो गयी, अधिकतर बुद्धिमान व्यक्तियों ने इस लोक मे सुख की भावना को तो त्याग ही दिया केवल उस लोक का ध्यान और परलोक के चिन्तन की ओर उन्मुख हो गये। द्विवेदी-युग के साहित्यकारों को इस बात के लिये श्रेय दिया जाना चाहिये कि उन्होंने परलोक सुधारने के लिये इस लोक को सुधारने की बात कही।[२] इस प्रकार से आत्म-गौरव आत्म-विश्वास आदि चरित्र के विकास के आदि-तत्व विकसित हुये, ये तत्व ऐसे हैं जिनका चरित्र ही आधार है।

कुछ एक निबन्धो मे अतीत के महापुरुषो की चारित्रिक विशेषता बताते हुए तथा उनके कार्यो पर प्रकाश डालते हुये लेखक ने इस ओर सकेत किया है कि आज

---

१. कन्हैयालाल पोद्दार 'मर्यादा' जनवरी १९११ ई०

२. राजनीति व्यावहारिक धर्म है, वह धर्म जो बातूनी नहीं है, जहाँ कोई फिलासफी न चले, जिसमें पहले से खरे खोटे की पहचान हो जाती है। राजनीति इस लोक की बादशाहत की मशीनरी है। जिसको अपना परलोक अपना भविष्य सुधारना है उसे अपना यह लोक, अपना वर्तमान पहले सुधार लेना चाहिए।

धर्म और राजनीति—सत्यदेव परिव्राजक, 'सरस्वती'
मार्च १९२१ ई०

हमारे देश को फिर अतीत की निस्वार्थ प्रवृत्ति और त्याग की आवश्यकता है 'पद्मसिंह शर्मा ने "भगवान श्रीकृष्ण" पर लिखते हुये इन दिनों के लीडरों की स्वार्थपरता पर केवल अपने हित की बात की आलोचना की है।[1] अतीत-भावना का पुनः स्मरण कराके और उनका बोध कराके इस भावना को पुनः उकसाया गया। इसके अतिरिक्त शासन पद्धति को सुधारने की तथा अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों के शासन की रूपरेखा प्रस्तुत करके भारतवासियों के हृदय में स्वतन्त्रता की लालसा को भी उकसाया गया। विदेशी आन्दोलनों का विवरण देकर के तथा उन राष्ट्रों की परिस्थिति को बतला करके अप-रोक्ष रूप में भारतवासियों के मस्तिष्क-में भी आन्दोलन की एक लहर जागृत करने का ही उद्देश्य था। क्रान्ति की भावनायें या तो आन्तरिक पक्ष को आन्दोलित करके आती हैं अथवा बाह्य परिस्थितियों के प्रति असंतोष प्रकट करके, उनका बहिष्कार करके। साहित्य विचारों की क्रान्ति ही पैदा करता आया है। लेखक अपने आदर्शों को जनता के मध्य रख करके तथा उनका महत्व बता करके वर्तमान परिस्थिति के प्रति एक असंतोष की भावना पैदा कर देता है। धीरे-धीरे विचार आन्दोलित होते-होते जन-जीवन इतना चेतनशील हो जाता है कि अपने ऊपर लादे कुशासन को तोड़कर फेंक देने को उग्र रूप धारण कर लेता है। अतएव इस स्थिति में क्रान्ति विचारों के द्वारा ही सम्भव होती है, साहित्यकार का दायित्व ऐसी अवस्था में बढ़ जाता है। द्विवेदी-युगीन साहित्यकारों ने अपने राजनीतिक पक्ष को बड़ी खूबी से अदा किया है।

विदेशी राजनीति सम्बन्धी निबन्धों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक जिनमें विदेशी आन्दोलनों का विवरण है और दूसरा जिसमें विदेशी शासन-पद्धतियों का वर्णन है। प्रथम के अन्तर्गत "फ्रान्स का राज्य विप्लव"[2], "टर्की की जागृति"[3], "फ्रांस की राज्य-क्रान्ति पर दृष्टि"[4], आदि निबंध आ जाते हैं। द्वितीय के अन्तर्गत फ्रांस की शासन-पद्धति[5], अमरीका की शासन-पद्धति[6],

---

१ एक आजकल के लीडर हैं, किसी दुर्दशा को रोकने के लिए तार पर तार दिये जाते हैं, पधारने की प्रार्थना की जाती है, पर हमारी कोई नहीं सुनता, कह कर टाल जाते हैं पहुँचते जो हैं तो उस वक्त जब मारकाट हो चुकती है, सो भी सरकारी तहकीकात के बहाने। लीपापोती के लिए लेक्चर देना और तहकीकात के लिए पहुँच जाना लीडरों के लिए इतना काफी है।

भगवान कृष्ण—पद्म पराग पृष्ठ ८

२ महेन्द्र पाल सिंह 'मर्यादा' सितम्बर १९१२ ई०।

३. वही ,, ,, १९१२ ई०।

४. सोमदत्त विद्यालंकार 'साहित्य' अंक ६ सम्वत् १९७१ वि०।

५. अनन्त राम वर्मा 'सरस्वती' सित० १९२४ ई०।

६. अनन्त राम वर्मा वही मई १९२४ ई०।

दक्षिणी अफ्रीका और वहाँ की शासन प्रथा,[1] इंग्लैण्ड की शासन-पद्धति,[2] आदि शीर्षक निबन्ध उल्लेखनीय है। इन निबंधों की रचना के पीछे ध्वनि यही है कि अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों की शासन-पद्धति और राष्ट्र और नागरिकों का आपसी सम्बन्ध कितना सुदृढ है, इसका ही बोध कराया गया है। लेखक अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल है। ऐसे निबन्धों मे जिसमे कि विदेशी शासन-पद्धति का वर्णन किया गया है तथा विदेशी शासन की प्रशंसा करके उसे श्रेष्ठ बतलाया गया है, उसके पीछे की अन्तर्निहित भावना के वर्णन से केवल अन्य देशों के प्रति मानसिक परतन्त्रता का बोध नही होता परन्तु अन्य देशों की शासन-पद्धति बतला करके लेखकों ने भारत की शासन-पद्धति के प्रति एक मूक विद्रोह किया है। जनता में जागरण की भावना लाने का प्रयास अपरोक्ष रूप में इस प्रकार है।

भारतीय राजनीतिक निबन्धो मे अंग्रेजी नीति की कडी आलोचना की गयी है और अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रो का प्रमाण दे करके, उनके आदर्शो का प्रतिपादन करके भारतीयो को स्वराज्य प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी गयी है। ऐसे निबन्धो का प्रकाशन उस समय के पत्र पत्रिकाओ में पूर्ण रूप से जी खोल कर किया गया है। उदाहरण के लिए जगन्नाथ प्रसाद मिश्र का स्वराज्य और भारत[3] शीर्षक लेख, के० डी० मालवीय का क्या हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते,[4] श्री श, स, ष का छद्म नाम ये करके "भारतवर्ष में क्रान्ति की लहर"[5] शीर्षकलेख, दुली चन्द सिंघई का "भारत का भविष्य और वर्तमान"[6] शीर्षक लेख उल्लेखनीय है।

इस प्रकार से इन लेखों का प्रकाशन करके उस समय के लेखक सामयिक चेतना एवम् जागृति मे प्रमुख भाग ले रहे थे और चेतना की जागृति में उनका हाथ भी था। इसका कारण भारतीय वातावरण के प्रति क्षोभ था, एक असन्तोष था और थी एक क्रान्ति की दबी हुई भावना। इस प्रकार से निबन्धो का हाथ राष्ट्रीय जागृति मे विशेष रूप से रहा है। यह उसका क्रमिक इतिहास है।

---

१. सोमेश्वर दत्त शुक्ल 'मर्यादा' दिस० १९१३ ई०।

२. शिव नारायण द्विवेदी 'मर्यादा' जन० १९१५ ई०।

३. मर्यादा—मार्च सन् १९१७ ई०

४. मर्यादा—मई १९१४ ई०।

५. प्रभा—कानपुर, अक्टूबर सन् १९२० ई०।

६. धर्म साहित्य का सबसे बड़ा स्रोत रहा है। यदि यह कहा जाय कि साहित्य के आदि में ही धर्म का प्रमुख हाथ रहा है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। विदेशी साहित्य का आदि भी धर्म के क्रिया-कलापों से उद्भूत हुआ। हमारा देश तो धर्म-प्रधान है और वेदों से साहित्य-रचना का जो सूत्रपात हुआ वह धार्मिक प्रवृत्ति के ही अन्तर्गत है।

—साहित्य-शास्त्र पृष्ठ ७८
ले० डॉ० रामकुमार वर्मा

काव्य की मनोभूमि में होली

मानव अपनी आन्तरिक प्रवृतियों को त्याग कर अपने व्यक्तित्व मे अधूरा रह जाता है। यदि देखा जाय तो रोष, उल्लास, रूदन और गायन ये सभी तथ्य उसके जीवन मे इस प्रकार बैठ गये है, घर कर गये हैं कि उनका पृथक होना तो असम्भव सा प्रतीत होता है। मानव (सम्भवतः) रुदन, दुख और शोक का तो अभिनन्दन करने को तैयार रहता ही नही। परिस्थतियों के कारण उल्लास चाहता है, ऐसा उल्लास जिस पर प्रतिबन्ध न हों जो उन्मुक्त हो। समाज द्वारा मानव ऐसे बन्धन में जकड़ा है जो उसे उन्मुक्त नही रहने देता उन्मुक्तसे मेरा तात्पर्य यह है कि अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों के प्रदर्शन मे वह पूर्ण स्वतत्र नही। इतने बन्धन से जकड़ा हुआ मानव कुछ ही देर के लिये यदि बन्धन मुक्त हो जाता है तो वह उसी समय को त्योहार कह देता है। त्योहार मे सामाजिक प्राणी अपने प्रतिदिन की दिनचर्या से अधिक महत्वपूर्ण कार्य करता है। दीपावली मे दीपक जला कर मानव उल्लास को पूजता है। सभी भारतीय त्योहारों के पीछे एक पृष्ठभूमि स्वस्थ दर्शन लिये हुये है। दशहरे में प्रत्येक वर्ष रावण का पुतला जलाकर मानव अत्याचारी के नाश करने की बन्दना कर अपनी सद्प्रवृतियो की पूजा करता है और होली में बसन्त की हवा से जगे हुये, पीले पीले फूलो के बीच हँसते हुये अपने उन्माद को पूजता है। अतएव होली मानव समाज के उन्माद का त्योहार है। इसमे सन्देह नही मानव होली के त्योहार मे प्रकृति के बहुत निकट है। भारतही नहीं अन्य राष्ट्र भी ऐसे त्योहारो को मनाते है। मिश्र में इसी अवसर पर स्त्री, पुरुष दोनों नाव पर बैठ कर नदी की यात्रा करते है। किसी पास वाले गाव में जाकर स्त्रियाँ अर्ध नग्न अवस्था मे नृत्य भी करती है। यह अवस्था साधारण भाव की अवस्था नहीं, यह उन्माद की अवस्था है। ऐसे अवसरों पर उन्मादावस्था में भी उल्लास की प्राप्ति होती है। भीलों की जाति भी इस त्योहार को मनाती है। इस दिन पुरुष और स्त्रियो का एक जुलूस निकलता है जिसमे स्त्रियो पुरुषो के पीछे रहती है, अपने गाँव के किसी भी सेठ के पास जाकर अपनी भाषा मे ये उनसे गुड़ माँगती है। नाचती गाती भी है। सेठ उन्हे गुड देकर पीछा छुड़ाता है। उत्तर प्रदेश की होली में भी कम स्वाग नही रचा जाता है। भाँग आदि का सेवन तो इस दिन की प्रथा सी हो गई है। अबीर और गुलाल से सने हुये लाल आँखे किये हुये

उत्तर प्रदेश का नागरिक.. सभ्य नागरिक...कबीर और मस्ती के गीतों को गाता है झुन्ड बाँध कर निकलता है।

कुछ विद्वानों की सम्मति में काम महोत्सव और होली एक ही त्योहार है। प्राचीन काल का काम महोत्सव त्योहार आधुनिक होली में परिवर्तित हो गया है। यह धारणा ठीक इसलिये प्रतीत होती है कि जहाँ-जहाँ प्राचीन साहित्य मे काम का मिलन हुआ है वही पर वसन्त का गठ-बन्धन काम के साथ अवश्य किया गया है। वसन्त में लहलहाते हुये पुष्प, उनकी मादक सुगन्ध और पीले पीले फूलों के खेतों से उठी हुई सुरभि हमें काम की पूजा करने पर बाध्य करती है। मद्रास में कुछ लोगों का विश्वास है कि इसी दिन शंकर भगवान ने कामदेव को भस्म किया था। वहाँ के लोग इस अवसर पर मन्दिर के सामने होलिका दहन कर देते है। अतएव काम दहन और होलिका-दहन मे कोई विशेष अन्तर दिखलाई नही पड़ता है।

अब तक हमने होली के पीछे के विश्वासो की चर्चा की। अब हमे देखना है कि मानव अपनी रागात्मक प्रवृत्ति में सराबोर होकर इस अवसर पर कैसे साहित्य का सृजन कर बैठा है। चाहे हम सन्त कवियो को लें, चाहे भक्त, चाहे आधुनिक सभी की कविताओं में होली से एक प्रेरणा मिली है। इसका कारण ऊपर संकेत कर चुका हूँ कि मानव सदा से अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों का सम्मान करता आया है, उस पर रीझता आया है रीझने मे उसकी व्यक्तिगत सम्मति ही प्राथमिकता लिये हुये होती है। वह उसके दोषों की ओर जाता नहीं, इस प्रकार से मानव होली मे अपने मन को ही पूजता है। एक वियोग, एक तड़प इन गीतो मे मिलती है। ऐसी तड़प दशहरा और दीपावली के अवसर पर तो नही होती, होली के ही अवसर पर, इसलिये होती है कि मानव प्राकृतिक सौंदर्य के बीच अपने एकाकीपन के अभाव को समझता है उसे महत्व देता है स्पष्ट शब्दो में कहूँ तो यह कि प्रकृति के बिखरे हुये सौंदर्य के बीच वह अपने सौंदर्य के पाने के हेतु व्याकुल हो उठता है। वह अपने अभावो के चित्रण में कितना आतुर है। सन्त कवियो ने भी होली को भौतिक रंग में रंग कर उसको भौतिक रूपक दिये हैं......

ऋतु फागुन नियरानी हो, कोई पिया सो मिलावे।
खेलत फाग अंग नहीं मोड़ै सतगुरु से लिपटानी,
इक - इक सखियां खेल घर पहुँची, इक इक से अरुझानी
पिय को रूप कहाँ लौं बरनौं, रूपहि माहि समानी
जो रंग सो सकल छवि छाजे, तन मन सभी भुलानी
यो मत जाने यहि रे फाग है, यह कछु अकथ कहानी

प्रेमी के साथ रंग खेलते-खेलते भक्त भाव से सराबोर हो जाता है। होली के नाम ने ही कवियों को एक प्रेरणा दी है—इसी नाम से उन्माद मे सराबोर हो उठे हैं। सन्त कवियों की बात तो छोड़िये रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण और राधा

के पीछे तो अधर ही कर दिया है। गोपियाँ एक तो यों ही प्रबल हैं होली के अवसर पर तो उनका कहना ही क्या ? इस अवसर पर तो वह कवि के शब्दों मे, मन की करती है "...... "

माइ करी मन की "पदमाकर"
डारी अबीर गुलाल की झोली
आँख नचाइ कह्यो मुसकाइ,
लला फिर आइहो खेलन होरी।

रीतिकालीन कवि की इन पंक्तियो की मनोवैज्ञानिक व्याख्या तो करिए। नायक के प्रति उसकी सारी प्रीति उमड़ पड़ी, होली के अवसर पर तो उसे मौका मिला, उसने मन की किया और आँखें नचा कर मुस्कुरा कर अपने इस कृत्य का एक बार फिर संदेश देकर कहा' ... लला फिर आना खेलने। गोपी ही नहीं होली के अवसर पर जिस प्रकार से सारे समाज की अवस्था उन्मादावस्था में परिवर्तित हो जाती है उसी प्रकार से ही रीतिकालीन कवि भी उन्माद में भर कर गा उठा। ऐसा ही एक उदाहरण भारतेन्दु की कविता से हम देंगे एक गोपिका कहती हैं ....

मैं तो मलूँगी अबीर तोरे गोरे गालन में।
आज कसक सब दिन की निकसे,
वेवी है तेरे गालन में।
"हरीचन्द" तोहि पकर नचाऊँ
भीर-भार-व्रज बालन में।

युग युगो की संचित कामना, गोपियो के इन शब्दों मे बोल रही है। वह कृष्ण श्रृंगार के प्रतीक, लोक नायक के गालो मे अबीर मलना चाहती हैं। इधर तो गोपिका की ललकार सुनाई पड़ती है कृष्ण की ओर से कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता उधर का एक चित्रण लीजिए-जब नायक नायिका से कहता है..........

फागुन के दिन चार, री गोरी खेल ले होरी।
फिर कित तु, कहाँ यह अवसर, क्यों ठानत यह रार।
जोबन रूप नदी बहतो सम, यह जिय माँझ विचार।
"हरीचन्द" गर लग प्रीतम के, कर होरी त्योहार।

"गर लग प्रीतम के" यह शिक्षा देकर हरीचन्द ने होली के त्योहार की सार्थकता मनाने की चेष्टा की है। भारतेन्दु के बाद यदि हम मैथिलीशरण जी को लें, तो हम पायेंगे कि इतने सात्विक मनोभाव का चित्रण करने वाले कवि की उर्मिला भी व्याकुल होकर कह उठी थी

मुझ फूल मत मारो,
मै अबला बाला वियोगिनी कुछ तो जरा विचारो ।

यद्यपि अन्त मे फूल मारने पर उर्मिला ने फटकारा बहुत है, उसने अपनी सारी स्थिति बतलाई कि वह बाला वियोगिनी है और साथ ही साथ पतिव्रता भी, यदि वह गोकुल गाँव की गोरी होती तो अपनी नादानी प्रकट करती, बहाना करती, अन्त मे जानती कि .

जानी पहिले तो हा, होली की ठठोली पर,
चोली की ठठोली में, मरोरी मन लै गयो ।

पहले तो वह बिचारी केवल यही जानती है कि यह सब कुछ नहीं, यह सब होली की ठठोली है परन्तु चोली की ठठोली मे तो उसे विश्वास हो जाता है किहाँ, है कुछ बात । अन्त मे केवल पश्चाताप-कि मरोरी मन लै गयो ।

इस प्रकार से अधिकाँश कवियो का, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी न किसी प्रकार से मानव की सोई हुई अनुभूति, आकाँक्षा और उल्लास अपना स्वतंत्र रूप लेकर होली के साथ ही साथ उठ खड़ा होता है, सजग हो जाता है । शायद मानव होली मे ही अपने आन्तरिक और बाह्य मनोभावो के प्रति ईमानदार रह पाता हैं । इसका सांस्कृतिक महत्व भी है । किसी भी जाति की यह उल्लास मनाने की भावना कितना अधिक मानव जीवन मे एक हलचल मचा देती है । भारत सदा से उल्लास, तथा सुखों का उपासक रहा है । यह उसके स्वास्थ्य का लक्षण है । होली इसका प्रतीक है, ज्वलन्त प्रमाण है ।

उर्दू काव्य में चेतना और जीवन के व्यापक स्वर

युग के साथ ही साथ काव्य की चेतना मे भी उत्तरोत्तर विकास होता चलता है। प्रयोग, विचारो की प्रौढ़ता तथा काव्यकार की चेतना, ये तीनों तत्व काव्य मे नई मर्यादा को जन्म देते हैं। यह तथ्य विश्व के सभी साहित्य के लिये एक सा है। उर्दू-काव्य मे एक समय ऐसा था कि शायर अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियो को ही अपने काव्य का आश्रय बनाये हुए था और इस सीमित वृत्त मे उसके व्यक्तित्व का विकास घुट रहा था। साहित्यकार की चेतना युग के साथ सामजस्य नही कर पाती थी। ठीक इन्ही अनुभूतियो का फल हिन्दी का रीतिकाल रहा है। इस काव्य काल का विषय प्रेम शृंगार और नखशिख वर्णन ही रहा है। चेतना के विकास ने हिन्दी काव्य को सामाजिक, राजनैतिक और मानव के नैतिक जगत से सम्बन्धित कर दिया है। काव्य केवल स्वप्न द्रष्टा का सत्य नही रह गया। यथार्थ की भूमि पर आकर काव्य भी विचरण करने लगा। उर्दू कविता मे भी नये प्रयोग और नई अनुभूतियों का उदय हमें 'मजाज' की कविता मे देखने को मिलता है एक दबी हुई क्रान्ति हमें इनकी पंक्तियों में मिलती है। उदाहरण के लिये :—

ले के इक चंगेज के हाथो से खंजर तोड़ दूँ,
ताज पर उसके दमकता है जो पत्थर तोड़ दूँ,
कोई तोड़े या न तोड़े मैं ही बढ़कर तोड़ दूँ,

भाषा की सजीवता, नये प्रयोगों के साथ और भी मुखर हो जाती है :—

बढ़ के इस इन्दर सभा का साजो सामां फूँक दूँ,
इसका गुलशन फूक दूँ उसका शबिस्ता फूँक दूँ।
तख्ते सुल्तां क्या, मैं सारा कसरे सुल्तां फूक दूँ,
ऐ गमे दिल क्या करू, ऐ वहशते दिल क्या करू,

साम्राज्यवाद के प्रति कवि के मस्तिष्क मे एक स्वाभाविक विद्रोह है। और उसी के फलस्वरूप बीते हुए इतिहास की महत्वपूर्ण कड़ियो को चुनकर उन सभी आतंकों और चंगेज या ऐसे बर्बर की घटना को दोहराने कीट

चेष्टा कर उसकी आलोचना करते है जिससे भारत को अनवरत क्षति पहुँची है आज का काव्यकार इतिहास की उन घटनाओ को दोहराकर हमारे समक्ष फिर ध्वंस और अमानवीय कृत्यों का विवरण देना चाहते है जिससे हमारे राष्ट्र का अहित हुआ है, और हमारी राष्ट्रीय चेतना को भी चोट पहुँची है।

आज का काव्यकार इतिहास की उन घटनाओ को दोहरा कर हमारे समक्ष फिर वही ध्वस और अमानवीय कृत्यो का विवरण देना चाहता है जिससे हमारे राष्ट्र का अहित हुआ है, और हमारी राष्ट्रीय चेतना को भी चोट पहुँची है।

उर्दू के एक अन्य कवि श्री मुईं अहसन जज्बी हैं। उन्होने भी उर्दू की नई पीढी के कवियों मे अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना रखा है। इसका एकमात्र कारण कवि को अपनी अनुभूतियो के प्रति ईमानदार होना है। कवि के जीवन की वास्तविकता, उनके जीवन पर घटे हुए अनुभव उनके काव्य को अछूता नहीं छोड सकते। जज्बी का जीवन असह्य परिस्थितियो की एक लम्बी कहानी है। उसने अपने जीवन मे ऐसे दिन भी देखे जब उसे सुबह की चाय तो किसी प्रकार प्राप्त हो गई, लेकिन दोपहर के खाने के लिए उसे ५-५: मील पैदल चलकर किसी मित्र मुलाकाती का मुँह देखना पड़ा, और कभी-कभी तो फाके तक की नौबत आई। कवि के व्यक्तिगत जीवन की यह घटनाएँ उसके काव्य को भी अछूता नही छोड सकी। पुराने कवियो में से बहुतो को इन्ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था, परन्तु इनके काव्य मे जीवन के स्वर मुखरित न हो पाये। इसका एकमात्र कारण यही है कि प्रेम और व्यक्तिगत कुण्ठा मे इस प्रकार वे उलझे हुए थे कि काव्य का विषय उनकी वास्तविक अनुभूतियां बन ही नही पाती थी। परन्तु वर्तमान कवि उन धारणाओं से बहुत आगे बढ़ चुका है। इन्हीं का एक यथार्थ वर्णन देखिये।

जब जेब में पैसे बजते हैं, जब पेट में रोटी होती है,
उस वक्त ये जर्रा हीरा है, उस वक्त ये शबनम मोती है।

ऊपर की ये दो पंक्तियाँ भूख की वास्तविक स्थिति को अनुभव करने के बाद ही कही जा सकी हैं। इसीलिए इनमें इतना कठोर सत्य है।

सरदार जाफरी की शायरी की धारा "मर्सियों से राजनैतिक नगमो की ओर मुडी है। ऐतिहासिक बोध और समाज के अनुभवों ने उसके व्यक्तित्व को अजेय बना दिया है।उसका व्यक्तित्व जीवन की कटुताओ कुण्ठा से टकरा कर कही टूटा नही है। क्षण-क्षण निखरता गया है। नये-नये शब्दों का प्रयोग हमे उनकी "नींद" शीर्षक कविता में मिलते हैं।

झींगुरो की आवाजें, कह रही हैं अफसाना,
दूर जेल के बाहर बज रही है शहनाई,

रेल अपने पहियों, से लोरियाँ सुनाती है।
रात खूबसूरत है, नींद क्यों नहीं आती।
रात खूबसूरत है, नींद क्यों नहीं आती।

उनके काव्य में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलेंगे जिनमे प्रतीक और प्रयोग अपने स्वस्थ रूप मे निखरे हुए हैं। अपने अनाज शीर्षक कविता मे कवि ने किसानो की कन्याओ का एक जीता जागता चित्र खींचा है।

श्री साहिर लुध्यानवी भी जीवन का एक यथार्थ शिल्पी हैं। आत्म - सम्मान और मानव के समवेदनात्मक क्षणो को एक धरातल से ही इसने पहचाना है। ताज-महल शीर्षक कविता इस दृष्टिकोण का एक सफल प्रयास है। कवि अपने प्रेयसी को सम्बोधित करके कहता है कि ताजमहल मे वह उससे न मिला करे। इस ताज के पीछे उसे अनेकों प्रेमियों की शक्लें याद आती है। जिन्होंने कि प्रेम किया है। प्रेम के क्षेत्र में उसके पास केवल एक ही कसौटी है, और वह कसौटो अपने भावो की ईमानीदारी की। शाही महल एक निर्धन के प्रेम का तिरस्कार कर रहा है, इसीलिए तो वह कहता है—

अनुगिनत लोगो ने दुनिया में मुहब्बत की है,
कौन कहता है कि सादिक न थे जज़बे उनके,
लेकिन उनके लिए तशरीर का सामान नहीं,
क्योंकि वे लोग भी अपने ही तरह मुफलिस थे।

अन्त में वह इस सत्य को भी स्वीकार करते है कि बादशाह से अधिक महत्वपूर्ण इस ताज का कारीगर है क्योंकि बादशाह के हृदय की सी ही स्थिति मे होकर उस शिल्पकार ने इसका निर्माण किया होगा। कवि को इसी बात का दुःख है कि ताजमहल के निर्माण के पीछे प्रेम की सजीवता तो लोग देखते हैं परन्तु ये अनुभूति की सच्चाई किसकी है। बादशाह की या ताज के निर्माण कर्त्ता की, शीराजी की। बादशाह धन - दौलत से ईंटा, चूना और संगमरमर के पत्थर तो खरीद सकता था, सच्ची अनुभूति और प्रेम के दर्द का का दबा हुआ स्वर जो ताज के देखने वालों को सुनने को मिलता है यही स्वर शीराजी और बादशाह को एक कोटि मे बिठा देते हैं। और यही वह स्थल है जब ताज के पीछे शाहजहाँ नही वरन् 'शीराजी' का निखरा हुआ स्वर कवि को सुनाई पड़ता है। ताज का निर्माण वही व्यक्ति कर सकता था जिसने वियोग की टीस, दर्द और करुणा को सहा होता। शिराजी मे यदि ये स्वर न होते, यदि यह अनुभव न होता, वास्तविक प्रेम का यदि उसके हृदय में अभाव होता तो ताज का निर्माण, बादशाह के हीरे और जवाहरात नही कर सकते थे ' ताज को देखने वाले इस तथ्य को भूल जाते हैं उसके साथ केवल बेगम का प्यार जुड़ा हुआ होता है

और बेगम की महत्ता आर्थिक पहलू पर ही स्वीकार की गई है। कवि की यह उक्ति कितनी स्वाभाविक लगती है:

मेरी महबूब उन्हें भी तो मुहब्बत होगी,
जिनको सन्नाई ने बख्शी है इसे शक्ले जमील,
उनके प्यारों के मकाबिर रहे बेनामो नमूद
आज तक उन पे जलाई न किसी ने कंदील।

केवल इतना ही कह कर वह शान्त नही हो जाता वह आगे भी कहता है कि यह बाग, यह चित्रकारी और यह वातावरण यह सब मिलकर बादशाह के दौलत का गुणगान कर रहे हैं, और उस गरीब की हँसी उडा रहे है जिसके हृदय में अपने प्रेयसी के प्रति ठीक बादशाह का सा ही प्रेम है परन्तु अपनी गरीबी के कारण वह इतना सौंदर्य और चित्रकारी का प्रतीक प्रेयसी के नाम पर नही छोड़ सका:

ये चमनजार, ये जमुना का किनारा, ये महल
ये मनुक्कश दरो दीवार, ये महाराब, ये ताल
इक शहनशाह ने दौलत का सहारा लेकर,
हम गरीबो की मुहब्बत का उड़ाया है मजाक।
मेरी महबूब, कहीं और मिलाकर मुझसे।

ऊपर की पंक्तियों मे कवि का मानवतावादी दृष्टिकोण मुखर हुआ है। ताज के प्रति यद्यपि यह विचार नया नही है, शरतबाबू की 'चरित्रहीन' की नायिका शिवानी भी ताज के विषय मे ऐसा ही कुछ सोचती है परन्तु यह विचार तो मानव मस्तिष्क तथा उसके दृष्टिकोण के सूचक होते हैं।

यह तो उर्दू काव्य की भावभूमि मे परिवर्तन की ओर हमने सङ्केत किया है। उर्दू काव्य में नये शब्दों तथा नई टेकनिक का भी दर्शन हमें होता है। अतुकान्त कवितायें जिस प्रकार से हिन्दी मे मिलती है वैसे ही उर्दू काव्य में अतुकान्त कवितायें देखने को मिलती है। पलायनवाद, हिन्दी के छायावादी कवियो तक छाया था। कवि, जगत की वास्तविक पीडा दुख और परेशानी से ऊब कर एक ऐसे स्थान पर चला जाना चाहता था जहाँ शान्ति हो, सुखद छाया हो। इस शान्ति और छाया में उसका काल्पनिक प्रेम निखर सके, ऐसी ही सुखद कल्पना वह कर लिया करता था। 'प्रसाद' का 'लेचल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे धीरे' यह गीत, ऐसा ही है तथा शाहीद की 'रक्स' शीर्षक कविता ऐसी ही है। इसकी कथावस्तु तो पुरानी है बाह्य कलेवर नया है जिन्दगी की परिभाषा इनकी अपनी लगती है



ओ अजनबी औरत उसी के डर से मैं
हो रहा हू तन्हा तन्हा और भी तेरे करीब
जानता हूं तू मेरी जां भी नहीं,

× × × ×

कवि की कामनाये, उसकी इच्छाये [राग रग रहित] हो चुकी है। यह निराशा हमे इस काल के अन्य उर्दू कवियो मे देखने को मिलती है। निराशा से ऊब कर वह कवि नया निर्माण और जीवन तो बना नही सकता इसके स्थान पर वह गाफिल मदिरा मे मस्त होकर अपने को भूल जाना चाहता है। जीवन के यथार्थ से वह जागकर लड़ना नही चाहता। इसीलिये तो वह स्वीकार करता है कि:

जिस्म से तेरे लपट सकता तो हू
जिन्दगी पर मैं झपट सकता नहीं
इसलिये अब थाम ले
ऐ हसीनों अजनबी औरत, मुझे अब थाम ले।

कवि बच्चन भी जीवन के कगार पर इसीलिये खडे रहते है कि कोई उन्हें आकर सुधार लेगा। कुन्ठित भावनायें फ्रस्टेशन का अवलम्ब लेकर ऐसी ही स्थिति उत्पन्न करती है। बच्चन से एक उदाहरण लीजिये:

रात को हर सांस करती है प्रतीक्षा,
द्वार कोई खटखटायेगा;
और आधी जिन्दगी भी कट गई जिसको परखते,
किन्तु उठ पाता नहीं विश्वास मन से
वह कभी चुपचाप आयेगा।

बच्चन के काव्य मे एक अडिग विश्वास है। वे अपने प्रेमी से [आशा] भी करते है वह एक न एक दिन आयेगा अवश्य। कवि जज्बी अपनी शान्ति को इस ससार में कह पाते ही नहीं वह निराश कह उठते है—

अब कहां मैं ढूढ़ने जाऊं सुकूं को ऐ खुदा,
इन जमीनों में नहीं इन आस्मानो में नहीं।

इस प्रकार से उर्दू कविता भी व्यक्तिवादी विचारों को छोड़ किसान और गांवों के चित्रण मे रमने लग गई है। कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं जिसमे व्यक्तिगत कुण्ठा और प्रेम की अस्पस्टता पर रोया भी गया है परन्तु आज उर्दू काव्य से वह हाथ, हाय और माशूको के गाल पर काले तिल के निशान का वर्णन करने वाली कविता भी उठ गई है। जिससे न तो समाज का कुछ लाभ था, न पढ़ने वालों को उर्दू काव्य को इस दिशा मे नई प्रगति इस बात का सदेश दे रही है कि कवि

सामाजिक चेतना, राजनीतिक उथल-पुथल और इस संसार की कठिनाइयों से अन-भिज्ञ अब नहीं रहा। उसके काव्य के विषयो मे भी इन्सान की हाड़ माँस की दुर्बलतायें है, उसकी मजबूरियाँ हैं, हौसले है, उसका केवल व्यक्ति ही नही सब कुछ है, उसके माशूक ही उसके काव्य के सगे नही हैं, जीवन है और तड़फता हुआ जीवन जिसकी लपटे कभी उसे जला भी देती हैं, कभी दुलराती भी है। वह इन्ही द्वारा प्राप्य अनुभूतियों को ईमानदारी से गाकर सुनाता है, और वही उसका काव्य बन जाता है।

वर्तमान साहित्य की रूप रेखा

कवि एक दर्पण है जिसमें युग की छाया पड़ती है। प्रत्येक अनुभूतियों को एकत्रित करने से उसके मानस पटल पर एक रेखा खिंच उठती है और उसी रेखा को स्पष्ट करने के लिए—दूसरों को उसका व्यापक अर्थ समझाने के लिए, कवि अपनी वाणी का प्रयोग करता है। रेखा का वही रूप वाणी का अवलम्ब पा, साकार हो जाता है। यही साकार रूप प्रतिमा, कविता है और इसी को अधिक से अधिक स्पष्ट करने का नियम ही कला है। प्रगतिवादी कलाकार जीवन को निकट से देखता है वह तो उन लोगो का कवि है जिसका जीवन मिट्टी आग और लोहे से बना है।[1]

कविता का यथार्थ रूप और उसका कर्म आज के संकुचित सिद्धांतों तथा अत्याचारो के विरुद्ध एक विद्रोह करना है, जो कला के विश्व मे परम्परा और रूढ़ि का बन्धन देखना नही चाहता। इसी प्रकार 'मेरी बाणी चाहिए तुम्हें क्या अलकार,' लिखकर आज का कवि कहना चाहता है कि वह प्रत्येक यथार्थ वस्तुओं को ही अपनाता है, उसे आदर्श के निराधार थपड दूर नहीं ले जा सकते। उसे तो जीवन मे रम करके ही चलना है। जिस प्रकार से युग की पुकार कवि सुन रहा है ठीक उसी प्रकार वह उसका चित्रण कर देता है। उसका रूप कठोर है, उसकी वाणी मे अट्टहास का स्वर संचित है। उसकी सौरभ बिखारने वाली सत्ता स्वर्ग की नहीं, अनन्त की नही, वह तो इसी भूमि की ही है और है इसी जगत की देन।

आज का कवि यदि व्यक्तिगत भावनाओ पर विश्वास नही करता तो वह उचित ही कर रहा है परन्तु यदि प्राचीन कवियो मे व्यक्तिगत अनुभूतियो की मात्रा अधिक थी तो आज का प्रगतिवादी अति समाजिकता से पीडित होने जा रहा है। इसमें सन्देह नही इस संक्रान्ति-काल के कवि पर बडा ही दायित्व है, वह उस स्थान पर है जहाँ उसे बहुत ही सोच-विचार कर अपना कर्त्तव्य निश्चित करना है। "आज हम बाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग शिखर पर खड़े हैं जिसके निचले स्तरों मे धरती के उद्वेलित मानव का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरो का सगीत तथा भावी का सौंदर्य बरस रहा है।"[२] अतएव साहित्य का

---

1. I am a poet of those whose life is build of earth, and fire and iron, I am a soldier of millions.

२ उत्तरा — श्री सुमित्रानन्दन पन्त

स्वरूप निश्चित करना, आज के लिए सचमुच आवश्यक है। वह नवीनता को आधार तो अवश्य बना रहा है परन्तु उसका आधार है भारतीयता—वही भारतीयता जो सदैव से चैतन्य रही है। जिसके अन्तस्तल मे सदा से अमृत की पयस्वनी बहती रही है। अतएव प्रगतिवादी कलाकारो मे यदि कही इसी मिट्टी से निकली उच्छवास पाई जाती है तो कही पर एक एक भावी संसार की सुखद कल्पना। वह कुछ अशो मे रूसी प्रगतिवादियो से पृथक् दिखलाई पडता है, इसका कारण स्पष्ट है [जैसा ऊपर कहा जा चुका है] वह उस देश का नागरिक है, वह ऐसी उर्वरा भूमि पर पला है जिसका प्रत्येक कण चैतन्यमयी संस्कृति से ओत-प्रोत है। वह युग के साथ बदलता अवश्य है परन्तु उसके परिवर्तन में भी ऐसा जागरण है जो केवल ध्वस पर ही ही आश्रित नही वह निर्माण का भी साथ लेकर चल रहा है। वह उसकी परम्परा और परिस्थितियों की ही देन है। वह अपने यहाँ के श्रमिक की ऐसी रूपरेखा खीचता है......

लोक क्रान्ति का अग्रदूत वर वीर जनावृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक-शासित—
चिर पवित्र वह भवअन्याय-घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी, पावन श्रम से प्रच्छालित।

इन पंक्तियो से कला की परख हो जाती है क्यो कि अंधकार मे भटकते हुए समाज को उसके वास्तविक प्रकाश मे लाने का कर्तव्य कला का ही है। जीवन के वास्तविक स्तर पर आकर कलाकार का सच्चा रूप निखर भी पड़ता है, वह अपने अन्तर की प्रतिछाया समाज के कण-कण मे ढूँढने लगता है[1] और ठीक उसी प्रकार समाज का अन्तर्पक्ष उसके (कलाकार) रगो में व्याप्त रहता है। आज के श्रमिक का रूप यदि थोडा विस्तार के साथ देखा जाय तो सचमुच कवि जीवन के उन्नायक के स्वरूप में है। समाज मे फैली हुई दुर्व्यवस्था का चित्रण भी इन कवियो ने बड़ी ही ओजस्वी भाषा मे किया है। पन्तजी को सजी हुई रमणी मे अथवा प्रासाद से झाकती हुई युवती में कोई आकर्षण शक्ति नही दिखलाई पडती। उनको तो गाँव के काले वर्ण के बच्चो के ही शरीर मे जिस पर धूल की एक मोटी तह जम गई है सुन्दरता का स्वाभाविक दर्शन होता है। इसलिए वही उनके काव्य का विषय है उसी का चित्रण करके वे समाज की वास्तविकता को हमारे समक्ष रखते हैं। वे लिखते हैं—

---

1. The revolutionary task of literature to-day is to restor its traditions to break the bond of subjectivism and narrow specialisation on to bring the creative writing face to face. Truth and Reality pp 37

मिट्टी से भी मटमैले तन, अधखुले कुचले जीर्ण वसन,
कोई खण्डित, कोई कुण्ठित, कृश बाहु पसुलियाँ रेखाँकित
टहनी सी टाँगें बढ़ा पेट, टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित ॥[१]

वास्तविक जीवन से दूर रहकर कलाकार इन पंक्तियो को नही लिख सकता। उसने समाज को निकट से देखा है। इसमे संदेह नही ऐसी ही है आज के समाज की अवस्था। इन्ही पंक्तियो के द्वारा ही हम समाज के उस रूप का दर्शन करते है जिस पर अधिकांश जनसमूह निर्भर है। भगवती बाबू की कुछ पंक्तियाँ देखें—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पांच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों से, कुछ उठे हुए हैं कच्चे घर
मैं कहता हूँ खण्डहार उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
जिस पर भर देती निज धुँधलापन असफलता की सुबह शाम ॥[२]

इन पंक्तियो मे कितनी सजीवता है। 'भू की छाती पर फोड़ों से' लिखकर कवि यह दिखलाना चाहते हैं कि वे घर भू की छाती पर फोड़ों के समान हैं। सच-उनमे उतनी ही कसक है, वे वैसे ही वीभत्स हैं। ऐसी ही कविता आज की प्रगतिवादी धारा की प्राण है, यही उसकी गति है। इनमे एक सजीवता है तथा वाणी मे ओज एवम् यथार्थ का चित्रण है। यदि सचमुच देखा जाय तो इन्हीं कविताओ से ही आज के प्रगतिवादी कलाकारों का जीवन-दर्शन भी हम आँक सकते है। इनका जीवन-दर्शन जीवन की चेतना मे ही विश्वास करता है। मनुष्य को कर्मठ बनाने वाली भावनाओ को ही वह जगाता है। "नियति तथा भाग्य का विश्वास उसे बहला नही सकता। आज के प्रगतिवादो को तो कर्म पर ही विश्वास है।"[३] वह अपने कार्यो द्वारा ही अपने अधिकार का निर्माण चाहता है उसे भविष्य तथा भूत पर कोई विश्वास नही वर्तमान ही उसके जीवन का प्रमुख अग है। प्रलोभनो तथा कठिनाइयो से जूझ - जूझ करके ही वह निखरता है। इस प्रकार से ऐसे निराधार विश्वासो पर जो जीवन में एक निष्क्रियता और अवरोध का सृजन करते हैं प्रगतिवादी को कोई दिलचस्पी नही है। इस प्रकार अब तक हमने देखा है कि प्रगतिवादी कविता में समाज की क्या रूपरेखा खीची गई है। दूसरा पक्ष प्रगतिवादी धारा मे राष्ट्रीयता का है। यों तो साहित्य मे स्वदेश-प्रेम की भावना का उदय भारतेन्दु - युग से ही हो रहा था। भारतेन्दु की शीतल परन्तु ताप उगलनेवाली रश्मियो से तिरोहित होकर साहित्य संसार ने एक अनूठा रूप पाया। गुप्तजी की भारत-भारती अपने में सीमित नही है। वह उस सिन्धु के वेग की भाँति है जं

---

१. पन्त—ग्राम्या पृष्ठ १३
२ भगवती चरण वर्मा—भैंसागाड़ी
३ समाज और १५२

अपनी उमगो को छिपाये, अब भी हँस रहा है। परन्तु उसके हँसने में भी एक सकेत है और वह सकेत है गुप्त क्रान्ति का, वह संकेत है परिवर्तन का, जो सत्य है और शाश्वत है। कहने का तात्पर्य यही कि अपने युग के अनुसार ही कवियों ने राष्ट्र के गीत गाये है। आज के युग में भी राष्ट्रीय-भावना प्रधान काव्य का सृजन हुआ है। आज के प्रगतिवादियो को राष्ट्रीय भावना रखे हुए नही बल्कि अन्तराष्ट्रीय भावना को रखनेवाला कहना चाहिए। इनके गीतो मे समाज से निकटता है, शोषक तथा शोषितो से संघर्ष की भावना सन्निहित है। यह स्थिति आज केवल भारत की ही नही विश्व की है। उस केवल भारत के शोषितो से सम्बन्ध नही उसमे तो समस्त राष्ट्र को एक दृष्टि से देखने को क्षमता है। अतएव प्रगतिवादी एक अन्तराष्ट्रीय भावना लेकर चलता है। इसी की पुष्टि इस प्रकार की गई है—

यह व्यापकत्व विधायनी दृष्टि प्रशंसनीय है, और 'बसुधेव कुटुम्बकम्' की भावना की परिचायिका है। यह अन्तराष्ट्रीय विचार विश्व के दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति ही रखता है। वसुधैव कुटुम्बकम् से यहाँ व्यापक दृष्टि की ही भावना दिखलाई गयी है। प्रगतिवादी काव्य का विषय, शोषितों की दयनीय स्थिति का चित्रण हो सकता है, परन्तु वे शोषित केवल भारत के नही परन्तु वे सारे विश्व के है। अतएव प्रगतिवाद की सहानुभूति प्रत्येक दलित वर्गों से है—उनकी दशा का वर्णन 'उनकी ही दीनता' तथा उनके प्रगति समाज की उदासीनता का चित्रण प्रगतिवादी काव्य का विषय रहा हैं। यही साहित्यकार का कर्त्तव्य है और कला का भी यही सत्य कलाकार की आत्मा का सत्य है ? वह सत्य जितना भी व्यापक हो उतना ही उत्कृष्ट कहा जायेगा, परन्तु यह व्यापकता-प्रधान वस्तु नहीं। मुख्य बात है कलाकार को अपने ध्येय के प्रति सच्चाई, और उस तक पहुँचने की उसकी अपेक्षाकृत सफलता। आज की कला का सत्य, प्रगतिवादी कला का सत्य प्रगतिवादी कलाकार का ही जीवन है और वही यथार्थ मे जीवन और कला के संतुलन में सफल हैं। व्यक्तिगत भावनाओ का चित्रण ही कविता का विषय नहीं हो सकता उसमे समाज की सामूहिक रूप से ध्वनि होना अत्यन्त आवश्यक है।[1]

इस प्रकार कला की परिभाषा मे आज का कलाकार बहुत ही खरा उतरता है, यह केवल स्वप्नों का और जीवन की रंगीनियों का चित्रण नहीं करता। यदि

---

1. To understand, to know reality it is necessary to have a theory of knowledge corresponding to truths. And truth is not abstract and motionless, to be discovered by a formally logical and about the success of thought.

—Soviet Literature. Vol. 3. pp 187

पुराने आचार्यों के अनुसार ही यदि कला की व्याख्या की जाय तो कला को रस की अभिव्यक्ति कहा गया है। रस की अभिव्यक्ति हो जाना ही कला का स्पष्टीकरण करना है। इधर के कुछ साहित्यकार (मुझे साहित्यकार कहने दीजिए) कला को एक विशिष्ट रूप दे रहे हैं। इस प्रश्न को लेकर इधर वाद विवाद काफी उठ खड़ा हुआ है कि कला मे नग्नता का चित्रण कहाँ तक उचित है। मै नग्नता को बुरी नही कहता (और एक ईमानदार आलोचक को कहना भी न चाहिए) परन्तु उस वर्णन मे कौन सी प्रवृत्ति कार्य कर रही है यही देखना चाहिए। यदि उसी नग्न स्वरूप में ही समाज का तत्व निहित है तो उस नग्नता से घृणा नही होनी चाहिए।

वह नग्नता सत्य के आधार पर है तो कलाकार को उसका अभिनन्दन करना चाहिए। काका कलेलकर का एक उदाहरण याद आ रहा है "पुराने जमाने मे हमारे तान्त्रिको ने नग्नता की उपासना कुछ कम नही की और उसके परिणाम भी देख चुके हैं। लेकिन नग्नता मे भी पूर्णता का दर्शन नही कराया जा सकता है। दक्षिण भारत में भद्रबाहु बाहुबलि, गोम्मटेश्वर की मूर्तिया हैं। पर इन मूर्तियों के चेहरे पर इन मूर्तिकारों ने ऐसा अद्‌भुत उपासक भाव दिखलाया है कि वह पवित्र नग्नता दर्शक को पवित्रता की ही दीक्षा देती है।" कहने का तात्पर्य यही कि नग्नता मे भी सौन्दर्य की ही शुद्धता है, एक शिक्षा है। केवल उसे देखने की दृष्टि चाहिए। ओर स्पष्ट करने की भी। और साहित्कार को निर्माण करने की शक्ति चाहिए। मूल वस्तु किसी भी कला मे भाव-दर्शन है। यदि कलाकार सचमुच ही उच्च स्तर का है तो वह वीभत्स से वीभत्स या नग्न वस्तु का चित्रण यथार्थ के आधार पर प्रवीणता से करेगा कि पाठक सचमुच पढ कर आश्चर्य करेगा। अतएव नग्नता भी भाव-दर्शन पर ही निर्भर करती है। काव्य मे केवल स्वप्नो का तथा जीवन की रँगीनियो का ही चित्रण नही होता इसमे वास्तविक भावनाएँ भी अपना एक साकार रूप लेकर अपना अस्तित्व रखतीं है।[1] जहाँ तक इसमे विजय के गीत तथा रूस के तराने गाने की प्रथा चल पडी है वह अनुचित है। इसमे स्वाभाविकता नहीं जो अन्य कलात्मक गीतो मे है। साहित्यकार अपनी ही परिस्थितियो का चित्रण कर सकता है दूसरों की परिस्थितियो (यहाँ रूस से तात्पर्य है) का चित्रण वह कर तो अवश्य देगा परन्तु वह स्वाभाविकता नही आ पायेगी जो काव्य मे आपेक्षित है। अतएव भारत का साहित्यकार अपने आगे घटित घटनाओ का चित्रण तो बड़े स्वाभाविक

---

1. The personal phantasy or day dream is not Art however beautiful. Nor is the beautiful sunset Both are only raw materials of Arts It is the property of Art which makes mimic picture of reality which we accept as illusory.

—Studies is Dying culture

Christopher Caudwel pp 49

रूप मे यथावत कर देता है परन्तु वर्णनों को जिसको उसने सुना है, देखा है नही उसमे वह सफल हो नही पाता। कलाकार को तो एक स्थान का वर्णन करने के पहले उसके प्रत्येक कण-कण से परिचित होना चाहिए, प्रत्येक प्रवृत्तिया उसके मस्तिष्क मे चक्कर काटती रहे और प्रत्येक दृश्य उसकी आँखों के सम्मुख एक साकार रूप ले उठ खड़े हो सकें, तभी वह उसका चित्रण कर सकता है. स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करने मे कोई आनाकानी नहीं करता। यह दृष्टिकोण प्रशसनीय है।

"हमारे लेखक और कवि ही शोषक वर्ग के हैं, अपने वर्ग मे उनके लिए स्थान नहीं। इसका यह अर्थ नही कि उनके स्थान और जीवन चर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नही है। जनता मे उनके गुण ग्राहक कहाँ मिलेंगे ऐसी अवस्था में कवियो का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था।"

यह लिख कर कवि बातों को अधिक स्पष्ट कर देता है। वह अपनी पुस्तक (उस पुस्तक में) समाज से दूर है उसे तो अपने ही गीतों में अपनी भावना का करुण-क्रन्दन सुनाई पड़ता है। यद्यपि वह दूसरी पुस्तक [मिट्टी और फूल] में अधिक निखरा है। परन्तु इसी की भविष्यवाणी वह इसी पुस्तक मे करता है।

"आधुनिक हिन्दी गीतकाव्य निराशा से परिपूर्ण है परन्तु उसके बारे मे निराश होने की जरूरत नहीं। युग बदलेगा युग-धर्म बदलेगा और कवियों का धर्म भी अधिक स्पष्ट होगा।"[१]

इस प्रकार प्रगतिवादी कवियो के भाव युग के साथ ही साथ बदले है। प्रगनि अपने मे सीमिति नही, उसका संतुलन तो परिस्थितियों और आवश्यकताओं के साथ ही साथ होना है। आज का बहुत सा तथ्य प्रगति की सीमा मे है, कल का युग उन्हें पिछड़ा हुआ कहेगा। 'पन्त' करुण 'रस' के कवियों मे अपना एक विशिष्ट स्थान रखते है। युग के साथ ही उनके भावो मे परिवर्तन हुआ और अब वे साम्यवादी दृष्टिकोण को लेकर चल पड़े। यद्यपि यथार्थ में देखा जाय तो पन्त वादो की सीमा से दूर अपने वास्तविक रूप मे बहुत आगे है। उन्होंने 'उत्तरा' की भूमिका में एक सुझाव दिया है—

"यदि लोक सगठन के साथ गान्धीवाद की पीठिका बनाकर मनः सगठन का भी अनुष्ठान उठाया जाय और मनुष्य की सामाजिक चेतन मे विकसित परिस्थितियो के अनुरूप नवीन रूप से समन्वय किया जाय तो वर्तमान के वियोग के अन्तर्नाद तथा क्रान्ति की कुछ ललकार को लोक-जीवन की सगति तथा मनुष्यता की पुकार मे बदला जा सकता है।"[२] इसमें सन्देह नही 'पन्त' का यही समन्वयबाद है। गान्धीवादी विचारधारा का एक अश और मार्क्सवादी विचारधारा का दूसरा अश

---

१ प्रवासी के गीत—नरेन्द्र शर्मा—पृष्ठ ४

२ उत्तरा—सुमित्रानन्दन ४

देकर कवि, मानव के जीवन मे नवीन स्फूर्ति लाना चाहता है। इसमे वह साहित्य को एक नवीनधारा देने की चेष्टा मे है जो जन-जागरण के साथ ही साथ महत्वपूर्ण है। 'पन्त' की यह कामना और समन्वय की यह दृष्टि एक नवीन युग की चेतावनी दे रही है।

आज के कवियो का नारी विषयक धारणा।

आज के कवियों ने युग के अनुसार नए दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तुओं को देखा है। यदि उसमे कोई त्रुटि है तो अपने शब्दो में दिखलाने की चेष्टा की है। काव्य जगत मे नारी का चित्रण प्रत्येक कवियों ने अपने युग के दृष्टिकोण से ही किया है। रीतिकाल में नारी का चित्रण कुछ अन्य रूप में ही हुआ है, उसे कवि 'केशव' ने अपनी वासना तृप्ति का ही साधन माना। 'बिहारी' ने उसकी अनेक भाव भँगिमाओ का चित्रण किया। 'केशव' तो यही कह कर सन्तोष करना चाहते है—

केशव, केशन अस करी, जस अरिहू न कराहि।
चन्द्र वदन मृग लोचनी 'बाबा' कहि कहि जाय।।

केशव के केशो ने सचमुच ही उन्हे बहुत बडा धोखा दिया, कुछ भी होता यदि वे श्वेत न होते तो स्त्रियाँ उन्हें 'बाबा' का सम्बोधन तो न करती। इन पक्तियों मे केशव का ही नही वरन् उस युग की प्रवृत्ति झलकती है। छोडिये, हमें तो आज का युग देखना है। धीरे-धीरे कुछ सुधारवादी दृष्टिकोण भी सामने आए जिससे मुख्य 'प्रसाद' जी है उन्होने तो—'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' कहकर अपने पूर्ण आदर्श का परिचय दिया। आज के युग मे भी नारी अपना वैसा ही स्थान रखती है। परन्तु ऐसे समन्वय बुद्धि वाले कवि ने नारी के प्रति अपने विचार बडी ही आदर्श भावना के साथ प्रस्तुत किया है। वह नारी को एक बधन मे देखते है। और, वह युग का चित्रण करते हुए कहते है—

क्षुधा काम वह गत युग ने पशुबल से कर जन शासित।
जीवन के उपकरण सदृश, नारी भी कर ली अपहृत।

दो पक्तियो मे आज की नारी का वास्तविक रूप निखर उठता है। युग ने सचमुच ही बर्बरता से नारी को भी अपने भुज पाश में बाँध रक्खा है। उसका वास्तविक स्वरूप देने के लिये फिर से कवि लालायित है—

मुक्त करो आंगन संगिनि को जननि देवि को आदृत
जन जीवन के मानव के सग हो मानवी प्रतिष्ठित

होना आवश्यक है। वर्तमान समय की नारी तो वास्तविक रूप से बंधन में है उसे मुक्त करके स्वछंद गगन मे उडाना ही युग का मार्ग है। आज के कवि भी यदि उसे इस दृष्टि से नही देखते तो उसकी अवस्था इससे भी दयनीय होगी। मुक्त करने का अर्थ भी असयम लिए नहीं उसमे भी एक सॅयम है। पाश्चात्य सभ्यता का रूप भारत में फूल नहीं सकता. अतएव मुक्त करने का अर्थ स्वच्छदता की ओर सकेत नही करता। आज का कलाकार उसे फूल, तितली और मार्जरी के रूप मे देखता है परन्तु वास्तव मे उसके पीछे कितना सयम तथा कितना त्याग छिपा होना चाहिये। इसका वर्णन प्रसाद को छोड़कर कोई भी साहित्यकार नही कर पाया। उसके प्रति आज का कालाकार एक सहिष्णु रूप को लेकर चलता है। समाज मे उसके प्रति वासना है। यही वासना मानवता का पतन करनेवाली है। कवि पन्त स्वय कहते है—

तुम सब कुछ हो फूल लहर, तितली, बिहगी, मार्जारी।
आधुनिके! यदि नहीं अगर तुम, नहीं सिर्फ तुम नारी।

यह कवि का बडा भारी उपालम्भ है समाज को। वह नारी को उस रूप मे नहीं देखता जिस रूप मे देखना चाहिए। अपने क्रूर आघातो से उसे पुष्प समझ उसकी पखुड़ियो को पृथक कर देना यह क्रूरता है, नृशसता है, मानवता नही। वह मनुष्य नही जो केवल बाह्य-सौंदर्य पर रीझता है। उसे सुरक्षित नही करता, उसका आदर नही कर सकता वह केवल वासना की पूर्ति को ही मुख्य समझता है। इस प्रकार से मानवता का स्तर मे गिर कर ही उसकी चेतना शक्ति का लोप हो जाता है। कुछ कवियो को छोडकर अभी अधिकाश वर्ग इस स्तर पर नही आ पाया है। उनकी कविताओं मे रुचि की वासना की दुर्गन्ध आती है। उसमें प्रेम का यह उज्ज्वल श्रोत नहीं जो शांत है, स्निग्ध है और सुखदायक है। इसका उत्तरदायित्व कवियो पर ही है, उनकी वासना से ओत-प्रोत रचनाओं को पढकर ही साधारण पाठक के मस्तिष्क पर एक आघात पहुंचता है। अतएव इस फैली हुई दुर्व्यवस्था को यदि कोई सभाल सकता है तो कवि ही।

कहने का तात्पर्य यही कि समाज का प्रमुख अग नारी है। शरीर के किसी भी अंग को दुख ग्रसित नही छोड देना चाहिये उसकी पुष्टि सम्पूर्ण अगो की पुष्टि मे ही है। यदि हमे समाज को ऊपर उठाना है तो हमे उसकी प्रत्येक बातो पर विचार करना आवश्यक है। प्राचीन भारत से लेकर मुगल काल के पहले तक हमारे यहाँ नारी का स्वरूप बडा ही आदर्श रूप से वर्णित होता था। उसको आदर सम्मान तथा यथोचित प्रेम भी दिया जाता था। परन्तु सस्कृति के परिवर्तन के साथ ही साथ हमारे साहित्यकार के दृष्टिकोणो मे भी अन्तर हुआ।

दृष्टिकोण में अन्तर होते ही हमारी प्रवत्तियों मे परिवर्तन होना स्वाभाविक था। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि अब तक के साहित्य मे नारी का स्थान

सामाजिक परिस्थितियों के द्वारा परिवर्तित होता ही चला आया है। उस पर सभी काल के साहित्यकों की दृष्टि पड़ी है। वह सभी के केन्द्र बिन्दु के समान रही, परन्तु प्रगतिवादी कवियो ने नारी को बड़े ही उच्च रूप से देखा है। नारी के चित्रण मे भी कुछ उपन्यास लेखको ने अपनी एक स्वतंत्र सम्मति रखी है। उनका पृथक-पृथक विस्तार करना एक अलग ही अंश होगा अतएव हम केवल सकेत मात्र ही यहाँ कर सकते है। रूस के पूर्ण आधार पर भारतीय नारी कभी नही खड़ी हो सकती। हमे नवीनता की धुन मे आकर प्रत्येक विदेशी वस्तुओं को ज्यो का त्यो अपना नही लेना है।

अतएव प्रगतिवाद अनेक दृष्टिकोणो मे भारत में तभी पनप सकता है जब हमारे यहाँ के कलाकार स्वतन्त्र चिन्तन करे अपनी सम्मति बिना किसी के आधार के रखने की चेष्टा करे—एक सबल तत्व अथवा एक जागृत साहित्य किसी का आधार नही ढूँढता वह तो अपनी सत्यता से ही एक जागृति फैलाने की क्षमता रखता है। युग की परिस्थितियाँ ही उसका आधार है। युग की पुकार ही उसकी ध्वनि है। हमारे कलाकार की लेखनी इतनी चिन्तनशक्ति से तथा मौलिकता से भरी होनी चाहिए जो समाज, जाति एवम् राष्ट्र को भी अपने ही रग मे रग सके। डॉ० धर्मेन्द्र के अनुसार—

"प्रगतिवाद का सम्प्रदायिक पक्ष मन्द पड रहा है। इसका विशुद्ध भारती पक्ष निखर रहा है। प्रगतिवादी काव्य का प्रचारक रूप (Propong.....side) तो अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। जिन कविताओं में वेदना जलन, आह का वर्णन है वे अमर रहेगी। इसमें कुछ रचनाएँ तो युग की माँग है।"[1]

कलापक्ष

कला का स्वरूप बहुत ही विस्तृत है। आज जिस अर्थ मे कला का प्रयोग हो रहा है वह अर्थ की अभिव्यक्ति मात्र के लिये ही है। इस पर हम बहुत कुछ पीछे कह भी आये है। कुछ लोग तो (Arts for Arts sake) कला को कला के लिए ही रखते है परन्तु उनका दृष्टिकोण उतना व्यापक नही हो पाता। आज का साहित्यिक कला की नग्न उपासना चाहता है। किसी भी रमणी की सींक की भांति पतली कमर, कौड़ी की तरह आँख बता देना केवल कल्पना के पंख लगा कर वास्तविक नारी तक जाना है जिसको कला का रूप दिया जा रहा है। उस बने हुए चित्र मे स्थायित्व तो बिल्कुल होगा ही नही अतएव कला को वास्तविकता की भित्ति पर लाना कलाकार का मुख्य कर्तव्य है। उपादान से कुछ दूसरा अर्थ ले वास्तविकता से दूर कलाकार यदि अपने मन की कल्पना करे तो उसे क्या सफलता मिलेगी। 'मेरी वाणी चाहिए तुम्हे क्या अलकार' कह कर कवि अलकारो की ओर से भी उदासीन

---

1 'प्रगतिवाद का रूप' डॉ० धर्मेन्द्र

ज्ञात होता है। उसे ओज चाहिए, माधुर्य चाहिए, इन गुणों के अतिरिक्त उसे अपनी कविता को सजाने के लिए अधिक आभूषणो की क्या आवश्यकता है ? वह उसे अधिक कृत्रिमता के बोझ से लादना नही चाहता, तथा आभूषणो से लाद कर उसकी प्राकृतिक सुषुमा को दबाना नही चाहता।

यो तो कविता मे अलंकारों की प्रमुखता रीतिकाल के बाद से ही धीरे-धीरे कम हो रही थी। आज के युग के आते कविता की धारा बिलकुल मुड़ गई है। अब तक वह रीतिकाल की रसीली एवम् उबरी भूमि से बहती आई है परन्तु रसीली भूमि पर यदि सरिता है तो रसीली भूमि और सरिता मे तारतम्य ही क्या ? अब वह जीवन के दोनों कगारो की ऊँचाई निचाई को भी स्पर्श कर चल रही है। (वास्तविकता होने के नाते) उसे वह भी बुरी नही लगती बल्कि एक स्वाभाविक जागरण भी हो जाता है। काव्य का स्वरूप पत्तियो का सा है (As leaves come from the tree) ठीक उसी प्रकार कविता का भी बहाव है, वह अपने मार्ग को स्वय बनाती जाती है। इसे समतल भूमि की आवश्यकता नहीं। अपने पथ का निर्माण करने मे वह बहुत ही सतर्क है। प्रगतिवादी धारा का स्वरूप ऐसा होना भी चाहिए। छाया वादी कविताओं का सबसे बडा दुर्गुण उसका दुरूह होना था। इसको निकालने का प्रयत्न इन कवियों ने विशेष रूप से किया। धीरे-धीरे अलकारों का प्रयोग भी इसमे कम होता जा रहा है और उपमाओ मे भी कुछ परिवर्तन है अब उपमेय का स्वरूप जीवन में प्रयुक्त उपकरणो से ही निश्चित किया जा रहा है। जीवन की वास्तविकता को किसी 'अनन्त के गान' या तम के पर्दे की सी अनर्गल उपमा देना छायावादियो की प्रवृत्ति थी। अब कलाकार वास्तविकता के क्षेत्र मे आ रहा है वह टाँगो की उपमा (यदि वे पतली है तो) टहनी सी टाँगे कह कर सन्तोष कर लेता है। उपमान तथा उपमेय दोनो ही जीवन के अधिक निकट होते जा रहे है। रात्रि की कालिमा का बोध, अब काली मजदूरनी सी रात

कह कर कराया जाता है। कविता का रूप आज इसी प्रकार का होता जा रहा है। कविता सर्व साधारण की वस्तु है साहित्यकार ही समाज की देन है अतएव जैसा भी समाज होगा उसको वैसा ही तथ्य अथवा सल्यूसन मिलेगा। कविता हृदय की वस्तु है उसके लिये माथ सिकोड़ बटोर करके, उसके तथ्य को ग्रहण करना उपयुक्त नहीं 'उसे तुलसी की कविता की भाँति होनी चाहिए जिसे सभी अपनी बुद्धि-नुसार समझ ले उसमें जन गंगा का प्रवाह हो', स्वर्ग अथवा पाताल की गंगा से (जो अदृश्य है) उसका कोई भी सम्बन्ध नही। जहाँ तक सरलता एवम् सुबोध होने का प्रश्न है उसमें आज का कवि अधिक सफल है।

यदि शैली की दृष्टि से देखा जाय तो प्राय: उन कवियो में तीन प्रकार की शैलियाँ मिलती होती हैं। पहली को हम वर्णनात्मक दूसरी को भावात्मक और तीसरी को उद्बोधनात्मक कह सकते है।

वणनात्मक शैली से तात्पर्य सीध सीध वणन कर देने से ही है। इस वर्णन के क्रम में भी आवश्यक वस्तु छूट नही जाती। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि अपने मस्तिष्क के पिटारे से प्रत्येक वस्तु एक के बाद एक निकाल करके रख रहा है। इस शैली को लेकर किसी भी दृश्य को लेकर उसका वर्णन करने में कवि सफल हो सकता है। बीच-बीच में वह अपनी अनुभूतियों के पुट से वर्णन को और भी मधुर बना देता है। पन्त जी ने इसी शैली को अपनाने का प्रयत्न किया है। उन्हे अधिक सफलता नही मिल पाई है। भगवती बाबू ने इसमे अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की है। उनकी कविताओ मे वर्णन की प्रचुरता मिलती है। साथ ही साथ उसमें एक समता भी आ जाती है। कुशल कवि इसको और रोचक बना सकता है। अनुभूतियो के चित्रण मे वह एक-एक करके प्रत्येक सीढियो पर चढता जाता है। उनकी भैंसागाडी इसके उदाहरण मे आ सकती हैं।[1]

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोड़ों से कुछ उठे हुए हैं कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खण्डहर उनको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
जिसमें भर देती है धुँधलापन असफलता की सुबह शाम।

'कुछ पाँच कोस की दूरी पर' लिखकर कवि एक चित्र उपस्थित कर देता है। उस चित्र मे कितनी व्यथा, सजीवता तथा दबी हुई आभा है। इसका बोध भली-भाँति पाठक को हो जाता है। अथवा पन्त जी की ये पंक्तियाँ—

उसका लम्बा डील डौल, है हट्टी,कट्टी काठी चौड़ी।
इस खण्डहर में बिजली सी, उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी॥[2]

यह पंक्तियाँ बतलाती है कि उसकी अवस्था (वर्तमान अवस्था) कितनी दयनीय है। एकदिन की जब उसका भरा पूरा यौवन रहा होगा परन्तु आज तो उसकी चौड़ी काठी ही दिखलाई देती है जो कि ऊपर कही गई बात का प्रमाण है। उसकी युवावस्था के बारे में कवि सोचता है। वह उसका वर्णन करता ही जाता है, इस प्रकार से इसमें एक वर्णन की दक्ष शैली दिखलाई देती है। कवि ने कृषक के दयनीय दृश्य को दिखलाने का प्रयास उसके कंकालवत शरीर की रूपरेखा खीचकर किया है। इस प्रकार वर्णनात्मक शैली में सफलता इन्हें मिलती है।

दूसरी मुख्य प्रणाली को हम भावात्मक कह सकते हैं। भावात्मक शैली में भावों की प्रधानता रही है। उसमे भावों का एक अपना पृथक दृष्टिकोण है। किसी समाज की दुर्दशा का चित्रण करने में यह प्रणाली अधिक सहायक होती है। इसके अन्तर्गत जो काव्य की धारा प्रवाहित है वह अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है दिनकर जी की कविताओ मे हम इसका अधिक आभास पाते हैं। निम्न पक्तियो मे एक ग्राम युवती का चित्रण है। जो अपने नन्हें शिशु को अपने क्रोड मे सुलाये है

---

१. उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से कुछ उठे हुए है कच्चे घर।

२. पन्त—वे आँखें

उसकी अवस्था शोचनीय है। अन्त मे उसका प्राण निकल जाता है, परन्तु वह आर्थिक अभाव के कारण उसके लिए कुछ कर नही सकती।

'पर शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आंसू पीना।
चूस-चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता हो बिलख नगीना॥
विवश देखती माँ आँचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती।
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती॥'[1]

अन्तिम पक्तियो में भाव का सबल स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रत्येक शब्द बोलते हैं। वे स्वय अपने मुख से ही अपनी कथा सुनाते है। इस शैली के अन्तर्गत अधिकाश कवियो ने या तो भारत दुर्दशा का चित्रण किया है या समाज के निम्न स्तर के लोगो का, जिसकी दशा दयनीय है, जिसमे दुःख की प्रधानता है। कवि अपने अन्तर की ध्वनि को जनता को सुनाना चाहता है। ऐसा ही उदाहरण नरेन्द्र शर्मा की कविता में लीजिए—

मैं मरघट का पीपल तरु हूँ घड़ी-घड़ी यमदूत यहाँ नित,
घड़ी-घड़ी जिसमें सुधि का जल बाँध रहे हैं तृषित कण्ठ से,
करने आगत का उर शीतल, पर क्या मेरी प्यास बुझेगी,
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ।[2]

इन पक्तियों में भाव कितना प्रबल है। मरघट का पीपल तरु कितना वीरान रहता है। कवि अपनी उपमा मरघट के तरु से देता है जो देखने मे हरा भरा है—प्रसन्न है परन्तु वास्तव में वीरान है, शमशान है—जिसमे स्मृतियों की ज्वाल कभी-कभी प्रज्वलित हो उठती है। कवि इसी प्रकार अन्य गीतो मे भी भाव के सबल वेग को दबा नही पाया है। अन्तिम पंक्तियो में तो वह अधिक निराशावादी हो गया है। उसकी प्यास शाश्वत है वह कभी बुझ ही नही सकती। इस प्रकार भावनात्मक शैली मे भाव की तीव्रता, उपमाओं का व्यापक संतुलन अधिक रहा है। कवि अपनी लेखनी से करुणा की सृष्टि करता चलता है अधिकाश कवि आज इसी शैली को अपना रहे हैं।

तीसरी शैली के अन्तर्गत उद्बोधनात्मक शैली आती है। इसमें अधिकतर हम उद्बोधन के गीत देखते है। भावावेश की व्याकुल व्यञ्जना युवकों को सम्बोधन करके उन्हें बढावा देने के गीत भी पाए जाते है। समाज के जो अत्याचार हैं, कुरीतियाँ है उन्हें लोगों को सुनाने के लिए एक भीषण हुंकार का वर्णन इसमे प्रतीत होता है। इसी शैली के अन्तर्गत अधिकांश प्रचारात्मक साहित्य भी पाया जाता है। एक उदाहरण लीजिए

हाथ हथौड़ा लिए हुए हैं सम्मुख आ सकता है कौन ?
लोहे की दीवार हमारी, हमें हिला सकता है कौन ?
फिर आवाज बुलन्द करो सब, इन्कलाब फिर जिंदाबाद,
हो बरबाद फिर सरमायदारी, इन्कलाब फिर जिंदाबाद ।।

इन पंक्तियों में एक ललकार छिपी है इन्कलाब के लिए उभाड़ी जाती हुई जनता पाई जाती है। इसमें एक क्रान्ति का उद्देश्य स्पष्ट लक्षित होता है। ऐसे गीतों के लिये इस प्रकार की शैली अधिक उपयुक्त होती है। कहीं कहीं पर इसमें भावों की प्रबलता तथा नारेबाजी का भी दर्शन हो जाता है परन्तु ऐसे स्थान बहुत कम हैं। दिनकर भी राजस्थान की दीन दशा का चित्रण करते हुए लिखते है। इसमें भाव का भी वेग है और सिकता कण से पूछने के लिये हिमकण का संबोधन भी है।

पूछे सिकता कण से हिमपति, तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन वन स्वतंत्रता दीप लिए फिरनेवाला बलवान कहाँ ?
ओरी ! उदास गाण्डकी बता, तू विद्यापति के गान कहाँ ।।

कवि राजस्थान का वैभव फिर से देखना चाहता है। उसका वही शौर्य पराक्रम का रूप उसके स्मृति-पट पर खिंच रहा है। वह उसकी पुनरावृत्ति के लिए सिकता कणों से कहता फिरता है।

अन्योक्तियों को भी इस कविता में स्थान मिला है। एक व्यंग की भावना भी इसमें दिखलाई देती है। एक उदाहरण लेने से यह स्पष्ट हो जायेगा। यह व्यंग है उन कवियों के प्रति जो असीम सत्ता के प्रति विश्वास कर उस पार की कहते है। उन्हीं के प्रति कवि कह उठता है—

शुद्ध कला के पारखी, कहते है उस पार की,
इस दुनिया की कौन कहे, भवसागर में कौन बहे,
जै हो राधा रानी की, या जिसने मन मानी की,

भवसागर कह कर भवसागर में बहने वाले कवि अन्य कवियों का मजाक उड़ाते है। यह अन्य प्रकार के कवियों पर ही छींटा है। इसका क्षेत्र भी अन्योक्ति में आ सकता है।

प्रगतिवादी कविताओं में सरलता के साथ सुन्दरता की सृष्टि भी हुई है। जिसे प्रत्येक व्यक्ति पढ़कर समझ सकता है। हाँ कुछ त्रुटि या अभाव जो पाया जाता है वह कुछ कवियों में भाव का छिछलापन है। भाषा की सरलता से तात्पर्य यह नहीं होना चाहिए कि वह भाव से शून्य हो। एक उदाहरण लीजिए—

सिगरेट के खाली डिब्बे पन्नी चमकीली,
फीते के टुकड़े तस्वीरे नीली पीली

उपर्युक्त पंक्तियों में न तो काव्य है न तो भाषा सौष्ठव ऐसा प्रतीत होता है केवल कहने के लिए कोई बात कह दी गई हो।

अतएव प्रगतिवादी कलाकार के सम्मुख एक आधार है, तपड़ता हुआ जीवन है और है यथार्थ की कड़ुआहट। इसे अपनाना उसका कर्तव्य है—परन्तु वह एकांगी है यदि वह निर्धन समाज का चित्रण करता है तो उसे धनिकों की विवशता को भी नही छोड़ देना है। वह दिखलावे कि समाज के दो अंग है एक ओर तो विलास से जर्जर समाज है दूसरी ओर निर्धनता का साम्राज्य। वह इन दोनो पहलुओं मे से किसी को छोड़ नही सकता—परन्तु आज के साहित्य मे हम यही पाते है कि मजबूरी के गीत ही खूब गाए जाते है दूसरे अग की ओर ध्यान ही नही दिया जाता। इस अभाव की पूर्ति करना ही आधुनिकता को अपनी पूर्ति करना है। यदि समाज के दोनो पहलुओं को हम लें—और साहित्य का आधार हम इसे ही बनावें तभी समाज का पूर्ण चित्रण हो सकेगा। आधुनिक साहित्य मे एक अभाव मिलता है वह केवल एक ही वर्ग (प्रायः सर्वहारा) की बात करता है दूसरा उपेक्षित रह जाता है। यह एक वर्ग के प्रति पक्षपात है।

जहाँ तक प्रगति का तात्पर्य है वह सापेक्ष्य है, अपने में सीमित भी नहीं, अतएव नहीं कहा जा सकता कि साहित्य की यही प्रवृति प्रगतिशील कहाँ तक है। हाँ आज यह प्रगतिशील है अवश्य, हो सकता है कल अपनी नवीनता के साथ आवे। तब आज की प्रचलित प्रवृति कल के लिए पुरानी हो जावेगी। निष्कर्ष यह रहा काव्य में आधुनिकतम प्रवृति और अनुभव अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। जब तक "वर्तमान कवियों मे स्वानुभूति का अभाव रहेगा तब तक काव्य का स्वरूप निखरेगा नहीं, उसमे जीवन ही नही आ पायेगा। जिस दिन कवि अपनी अनुभूति पर आधारित हो, अपने सुख दुःख के राग गाकर अपने काव्य की आरती करेगा उस दिन उसकी काव्य मूर्ति मे प्राण का सञ्चार हो जायेगा। प्रगति का वास्तविक अर्थ तो जीवन मे सामञ्जस्य करके गतिशील रहने की क्रिया ही है जो भी नवीन ज्ञान, अनुभव तथा अनुभूतियाँ है उन्ही पर आधारित रह करके हमे काव्य रचना करनी है। यही स्वानुभूति ही कवि-प्रेरणा के रूप मे मानी जानी चाहिए।

यथार्थ प्रतीक और आदर्श

मानव-जीवन का विकास अपनी अनुभूतियो, अपने विचार तथा चिंतन से सम्बन्धित रहता है। वह जिस जीवन के स्तर पर रह रहा है उसकी महत्वकाक्षाओ उससे दूर ले जाती है, कुछ उन्नति की ओर, प्रगति की ओर । यही उन्नति और प्रगति उसके जीवन का आदर्श है और उपस्थिति परिस्थितियाँ जिसको देखता हुआ, जिसमे रमता हुआ वह आगे बढने की कामना करता है वह यथार्थ है। यथार्थवाद वस्तुओ की उस सत्ता का समर्थक है जिसमे वह अपने सम्मुख देख रहा है, उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु जगत से हे। समाज एवम् जगत का कडवा अनुभव, यथार्थवाद का आधार है। वास्तविक जगत से कुछ दूर की बाते, सत्यता, को स्पर्श न करने वाली अनुभूति पर स्थिति विचार आदर्शवाद का लक्ष्य है, परन्तु सत्यता के आधार पर हो सकता है, इस प्रकार से यथार्थवाद की नीव पर ही आदर्शवाद की कल्पना खड़ी हो सकती है।[1] मानव जो कुछ भी अनुभव करता है, सोचता है उसका प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण ही यथार्थवाद कहा जा सकता है। इस प्रकार से मानव के चिन्तनात्मक प्रवृत्ति की ओर यथार्थ का झुकाव अधिक है। यथार्थवादी चित्रण मे जनता के साधारण व्यापार का छोटी सी छोटी प्रवृत्तियो की झांकी स्पष्ट अंकित होती है। इसमे सन्देह नहीं कि विचार मस्तिष्क की उपज है, यथार्थवादी परिस्थितियो का चित्रण करके ही सन्तोष कर लेता है परन्तु एक आदर्शवादी उन परिस्थितियों मे उनमें ही सुधार के लिए एक सुझाव बतलाता चलता है।

"यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि इस मन्दिर के कंगूरे का शीर्ष यद्यपि हमसे बहुत ऊँचाई पर है और उसका लक्ष्य हमसे अत्यन्त विपरीत दिशा की ओर जाना पडता है, वह हमारे हाथ आने वाली वस्तु नही दिखलाई देता तथापि उसका आधार वही धरती है जिस पर हम खड़े हैं।"[2]

---

1. Modern Realism maintanis the independance existence of the external world Its distructive possession is that we apprehend the world directrv in perception Tne claim of thought and sense is problem of Realism.

   Real Zafarullah chapter III p p 106

२ मार्क्स और यथार्थ

यथार्थ का चित्रण जीवन के कगारों का स्पर्श करता हुआ, उसी में रमत चलता है, इसका कारण है उसका वास्तविकता के प्रति सम्मान, अपनी खुली हुई आँखों से साधारण अनुभव मे घटित वस्तुएँ ही वास्तविकता का आधार हो सकती हैं। उपर्युक्त उदाहरण से मन्दिर का आधार भूमि पर ही खडा है। उसे धरती का सहारा है। ऐसा ही यथार्थवाद है भूमि का आधार ही कगूरे के लिये नियंत्रण देता है, इसमें सन्देह नही कि आधार और कंगुरा दो विपरीत और है परन्तु सर्वोच्च अथवा छोर निम्नतर छोर पर ही आधारित होता है। निम्नतर छोर की स्थूलता, कुरूपता कोई भी वास्तविक सत्ता जो सत्यता से सम्बन्धित है यथार्थवाद की चिन्तन शक्ति में स्थान पा सकती है।*

इस प्रकार वास्तविकवाद साधारण पाठकों को जीवन मे होने वाली अनेक घटनाओं की ओर सकेत ही नही करता बल्कि उनका विश्लेषण भी करता जाता है। इस चिंतन मे तीन प्रवृत्तियाँ रूप मे कार्य करती चलती है -

(१) वास्तविक तथ्य (२) जीवन की प्रेरणात्मक शक्तियों की अभिव्यञ्जना और (३) सुन्दर असुन्दर, मगल अमगल भावनाओं का चित्रण।

वास्तविक तथ्य—से हमारा तात्पर्य उन अनुभूतियो से है जो साधारण जीवन से सम्बन्धित हैं। उन सम्बन्धित तथ्यों का स्पष्टीकरण, जिस रूप में वह है उसी रूप मे ही साहित्य में वास्तविकता की सृष्टि करता है। साहित्यकार देखता है कि समाज रूढिवादी हो रहा है। ऐसे समाज ठीक राह पर चलते हुए को उचित फल नही देता और न्यायसगत तथा अन्यायसंगत कार्यों को करके एक मानव सुख प्राप्त करता है। साहित्यकार जो देखता है उसका चित्रण करना ही चाहे वह कैसा भी प्रकरण क्यों न हो यथार्थवाद है। यदि एक मानव न्यायसंगत अथवा अन्यायसगत कार्य करके ही सुखी होता है और साहित्य मे इसका विवरण दिया जाता है तो वह साहित्यकार वास्तविकता अथवा घटना कहकर जीवन के उचित मार्ग पर ही चलता है। यदि देखा जाय तो वास्तविक जीवन की विभीषिकाओं की कल्पना एक यथार्थवादी इसीलिए करता है कि उसमें उसे अपूर्णता और असंतोष की छाया मिलती है। वास्तविक तथ्यो का चित्रण करके वह जीती-जागती सांसारिक वस्तुओं की रूपरेखा तो प्रस्तुत करता ही है इसी के साथ साथ वास्तविकता में जो एक अनाचार का

---

*Realism is to be understood as a general tendancy of a purpose, the purpose of conveying to the Reader whatever may be accomplished, a story sense of things, actual in experience and within the range of human life.

Idealism Aesthetical Survey by Erwing

वर्णन होता है उसी के प्रति विद्रोह भी छिपा रहता है। जब कि कवि स्वार्थ की छेनी लिए, लोभ का हथौडा लिए मनुज का वर्णन करने लगता है :—

स्वार्थ की छेनी लिए लेकर हथौड़ा लोभ का,
मनुज ने निज पूर्ण पावन मूर्ति को खण्डित किया,
सत्य से आँखें फिरी, मुँह फेरकर जब न्याय से,
'कुछ न दूँ पाऊँ सभी कुछ' यह नियम अपना लिया।

तो सम्भवतः उसका यही तात्पर्य होता है कि उसका यथातथ्य चित्रण जिसकी वह व्यञ्जना कर रहा है, उसके प्रति (इस स्थल विशेष पर) उसका अनुराग नहीं। मनुष्य की यह क्रिया कि 'कुछ न दूँ पाऊँ सभी कुछ' कवि को खटखती तो अवश्य है, वह जो देखता है उसी का ही चित्रण कर रहा है, इसीलिये वह यथार्थवादी है और उसका यह वर्णन भी सत्य है परन्तु इसी सत्यता के पीछे उसकी वह मनोवृत्ति छिपी है कि यह मानव की यह क्रिया दूर हो जाय। जहाँ पर उसका यथार्थ आदर्श की ओर संकेत कर रहा है।

इस प्रकार से वास्तविक तथ्य का चित्रण तो कवि ने कर ही दिया परन्तु उस कडुवे घूंट से यह ध्वनित होता है कि मानव का यह व्यापार जो आज के जीवन में चल रहा है उसकी सयत भावनाओ पर ठेस पहुँचाने वाली है। एक और उदाहरण लीजिए जिसमें कगालो का चित्रण करके कवि-वर्ग संघर्ष की ओर अग्रसित होता है। दुर्बल तन देखकर उसकी कल्पना एक कंगाल का रूपक खीचती है, और वह कंगाल उसके मस्तिष्क की ही उपज नही अर्थात् काल्पनिक ही नही बल्कि आँखो देखी बात है। समाज में ही रम करके चलते-चलते उसकी (कवि की(आँखें ठिठक जाती हैं कंगाल को देखकर।

भूख भूख सब ओर भूख की लपटें इंधन, तन दुर्बल,
किसे आज सुनने की क्षमता, किसे आछ सुनने का बल,
हाथ बँधे मुँह बन्द और, शिर विनाश बादल छाया
क्षुब्ध-तंरगों पर उतराता, कंकालों का दल आया।[२]

भूख की लपटे तन को इंधन के समान दुर्बल बना रही है। वास्तविकता का चित्रण तो यहाँ अवश्य है, परन्तु इसी वास्तविकता के साथ ही साथ समाज की गिरी दशा किसी की न सुनने वाले लोग, अपने ही राग मे मस्त पदलोलुप मानव का भी चित्रण अप्रत्यक्ष रूप से आ जाता है। इस प्रकार तो एक ही तथ्य को कह करके कवि ने अपनी अनुभूति के द्वारा अनेक पार्श्वों पर प्रकाश डाला है। यथार्थवाद एक ऐसा बिन्दु है अथवा एक ऐसा केन्द्र है जिसके चतुर्दिक अनेकों भावनाओं से सम्मिलित एक रेखा खिंच उठती है। कवि के मस्तिष्क में एक

---

१ हंसमाला—नरेन्द्र पृ० ३२
२ वो

तथ्य कंगाल का तो प्रारम्भ में (In Infancy) हुआ परन्तु उसी एक शब्द मे अनेक अर्थ, अभिव्यञ्जनाएँ छिपी हुई है उनका विस्तार कलाकार की जानकारी के साथ ही साथ होता गया है ।[1] कहने का तात्पर्य यह नही है कि यथार्थवाद यह सकेत करता चलता है कि क्या होना चाहिए, तरन्तु वह अपनी व्यंजनात्मक शक्ति से एक ऐसा विचार (पाठक अथवा श्रोता) के मस्तिष्क मे उत्पन्न कर देता है जिससे उसकी प्रवृत्ति तथा विचार, जिसको वह स्पष्ट करना चाहता है, अप्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से प्रकट हो जाता है। यथार्थवादी कवि का यह स्वरूप प्रशँसा के योग्य है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि कलाकार वास्तविक तथ्य को उपस्थित करके उसकी अनुपयोगिता अथवा उपयोगिता अपने आप खुले शब्दों मे नही बतला देता किन्तु वह परिस्थिति के निर्णय के लिए स्वयं कुछ न कहकर पाठक पर ही छोड़ देता है।

दूसरा तथ्य यथार्थवादी प्रवृतियों का जीवन की प्रेरणात्मक शक्तियों की अभिव्यंजना करना है। यथार्थवादी कलाकार जीवन की आवश्यकताओं का वर्णन ज्यों का त्यों ही करता है उन, आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य जो कुछ करता है अथवा (इसी सम्बन्ध में) उसके मस्तिष्क मे जो कुछ विचार आते है उनका स्पष्टीकरण उसी प्रकार से कर दिया जाता है। यशपाल द्वारा वर्णित शैलबाला ठीक इसी प्रकार कार्य करती हुई देखी जाती है। वह परिस्थितियों से संघर्ष करके अपने भावो मे एक ऐसी अनुभूति उत्पन्न कर लेती है जो समाज और साधारण मान्यता के विरुद्ध हो जाती है। उनके 'तर्क के तूफान' मे कहानी की नायिका जो बहुत दिन तक अपने जीवन के वास्तविक पक्ष मे अधूरी ही रही और स्पष्ट शब्दो मे यदि कहा जाय तो यह कि जो कि अपने बीस-बाइस वर्ष के जीवन में केवल अध्ययन ही करती रही। सहसा एक रात कों पहाड़ी हवा के झोकों के लगने से कुछ आन्तरिक पीडा का अनुभव करती रही होगी और तभी उसे ज्ञात होता है कि जीवन का एक सबसे महत्वपूर्ण पहलू प्रणय को उसने छोड़ ही दिया है। मै नही कह सकता यशपाल कहा तक मनोवैज्ञानिक चित्रण करने मे सफल हुए हैं परन्तु रात्रि मे ही निद्रा भंग होते ही ज्यो कुछ स्मरण होता है त्यों ही वह उस होटल

---

1. It begins in infancy and first space is for us confined to sensuousness. As developing intellect begins to work upon these immediate data, we start analysing out relation with in the field of our awareness and our thought.
—Personal realism
General realistic Hypothesis by James Bishop Pratt
pp 153

मे रुकें महात्मा के पास सन्तान मांगने चली जाती है।[1] यह नारी का वह चित्र है जो बताता है कि जीवन मे एक अंश की अतृप्ति कभी क्या से क्या कर डालती है। यह उस अतृप्ति का स्फोट है जिसके झोंके मे आकर नारी की लज्जा, संयम की भावना और सभी कुछ उड जाते है। कहानीकार कहा तक इस चित्रण मे सफल है यह तो मै नही कह सकता परन्तु जीवन मे एक यथार्थ विचार का अच्छा स्पष्टीकरण है कोई सकोचशील कहानीकार इस अवसर पर बचा ले जाता और वह केवल उसके मस्तिष्क मे प्रणय के अभाव को खटाकाकर ही रह जाता, परन्तु यशपाल का निःसकोची मस्तिष्क प्राय ऐसी ही नायिकाओं की रूपरेखा बाधा करता है। उसकी शैलवाला जगत के भावो और विचारो के प्रति एक विद्रोह करती है 'दादा कामरेड' मे समाज की दृष्टि मे अनुचित ससर्ग करने के पश्चात् जब उसका फल उसके पिता को डाक्टर से ज्ञात होता है तो उसे भी वह अपनी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति से टालने का प्रयत्न करती है। यह यथार्थ का वह स्वरूप है जिसको देख करके लेखक आदर्श का सब पाखण्ड भूल बैठता है, यह निस्सदेह पाश्चात्य रियलिज्म का प्रभाव है, My life उपन्यास का एक पात्र ठीक इसी संघर्ष के उन तरीकों के अपनाने का प्रयत्न करता है .*

ऐसे वर्णनो मे अभी हिन्दी के कुछ ही उपन्यासकार आगे आ सके है। जीवन मे प्रेम और नारी के वास्तविक हृदय का दर्शन कराने का यथार्थवादी ढंग अभी कुछ ही कथाकारो ने अपनाया है। शेखर में अज्ञेय भी कुछ ऐसी भावनाओ को लेकर चले है परन्तु उस पर फिर भी संकोच और मर्यादा का पर्दा है। अज्ञेय की शशि शेखर से प्रेम के सम्बन्ध में खुल कर कह नही पाती है सम्भवत· अपने सकोच के कारण परन्तु फिर भी उसे (शशि को) बतलाना ही है, परन्तु वह जानती थी कि उसका जीवन अधिक दिनों का नही—थोड़े दिनो तक जब तक वह जीवित रहेगी[2] फिर भी कहीं-कहीं उसकी भावनाएँ अगडाइया ले उठी हैं। जैसे वह स्वय अपनी ठोडी उठाती है, उसकी आँखें अर्द्धनिमिलित है और ओठ अधखुले वह निश्चय

१ तर्क का तूफान—यशपाल

*What need here is other methods of struggle strong and swift If you really want to be useful, the step beyond the narrow limits of common place, activities and try to influence the masses atonce

My life. Sadyaje

2 I want to die while you love me,
Why yet you hold me fair,
Why laughter lies upon my lips
And lighhts are in my hair

बोलती नही और भी उसके मौन में ही उसकी आतुरता और चिरपरिचित भावना छिपी है जो अन्त में शेखर को बतला ही देती है कि—

'बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम् स्पर्श से ही छूना चाहिए और ओठो के निकट पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड कर अपना कर्णमूल शशि के ओठो से छुआ देता और फिर स्तब्ध किन्तु बेझिझक ओठ चूम लेता है, निर्द्वन्द, वरद, दीर्घ चुम्बन। अज्ञेय ने यहाँ पूर्ण यथार्थ का ही आश्रय लिया है। शशि के हृदय में जो भी भाव शेखर के प्रति है उन सभी भावो का यथास्वरूप वर्णन करा दिया है। जीवन की अनुभूतियों को ज्यो का त्यो चित्रण करना ही यथार्थवादी दर्शन का उद्देश्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यथार्थवादी, जीवन को जीवन के रूप मे ही लेता है, मनुष्य गलतियाँ करता है भूल करता है, उसके हृदय मे अनेक भावोद्रेक होते रहते है— साहित्यिक उन भावाद्रेकों का ठीक उसी रूप मे वर्णन कर देता है, यथार्थ की यही व्याख्या है, वास्तविकता का यही सदेश और साहित्यकार का यही कर्त्तव्य है।

यथार्थवाद के इस स्वरूप का प्रभाव अथवा दर्शन आधुनिक साहित्य मे दिखलाई देता है। आज का कवि सूक्ष्म आदर्श के विरुद्ध तो अपनी आवाज उठाता ही है इसके अतिरिक्त वह शून्य का गान भी नही चाहता, उसको अपने जीवन के ही गान प्रिय है, वह चन्द्र की आभा मे मुस्करा उठता है अपनी सिहरन का चित्रण भी ठीक उस रूप में करता है उसे छिपाता नही, उसके अन्दर एक विद्रोह की भावना और ससार के पुनर्निर्माण की भावना हिलोरे ले रही है, इसका कारण यही है कि उसे केवल आदर्श से संतोष नही, अज्ञेय ने एक स्थान पर सकेत किया है—

आओ ! हम तुम फिर इस संसार का निर्माण करें। हम बहुत ऊँचे उठना चाहते थे, सूर्य के ताप से हमारे पख झुलस गए उस वातावरण मे हमारा स्थान नही था।

सूर्य की ज्वाला से जल कर, सिहर कर, भय खाकर और अन्त में वहाँ निश्चित रूप से यह तय करने पर कि उसे (यथार्थवादी साहित्यकार को) स्थान नही मिलने का है, उसने यह कहा——

हम अपना नीड़ पृथ्वी पर बनायेंगे।

नही वृक्ष की डालों पर नही, वहाँ पवन का वेग हमें कष्ट देगा। हम अपना छोटा सा नीड़ इस भूमि पर बनायेंगे, हमने बहुत मान किया है।',

किन्तु भूमि पर हमारे घर पर अब वह अभिमान नही होगा लोग हमें अति क्षुद्र समझकर ठुकराना भी भूल जायेंगे।

बाद मे सोचते-सोचते उसके मस्तिष्क मे अपने विचार के प्रतिकूल ही एक भावना फिर दृढ़ हो जाती है। भूमि पर एक क्षुद्रता में लीन होकर ही वह सुखी रहेगा, परन्तु बाद मे 'हम नीड़ क्यों बनायें' ? हमे अपना स्वत्व कहने को कुछ नहीं चाहिए। हम भूमि पर रहेंगे हम तुम हमारे सामने यह निस्सीम संसार। अब

हमारे पास कुछ भी नहीं रहेगा जो दुनिया हमसे छीन सके तब हमारे जीवन में विष बीज बोने को कोई नहीं आयेगा।[१]

अत: आओ हम तुम अपने संसार का फिर से निर्माण करें। अज्ञेय की इन पक्तियों में पहले ससार की वास्तविक विभीषिकाओं से पलायन की भावना दृढ़ है अन्त में वह सोचता है शून्य—बहुत ऊँचा केवल आदर्श की कल्पना उसे ठीक नहीं ज्ञात होती। इन पंक्तियों मे एक काव्य की सी झलक है जिसमें कि यथार्थवाद का भविष्य बोल रहा है। काडवेल के शब्दों में यही कवि अथवा उपन्यासकार जीवन से टक्कर खा आगे बढ़ता है यह वही अवस्था है—*

यथार्थवाद का यह स्वरूप है जो आज के साहित्य मे निखकर रहा है, इसका स्वरूप अधिक व्यापक हो जाने पर प्रतीकवाद से सामञ्जस्य करता हुआ दिखलाई देता है।

अस्तु यदि यथार्थवाद की व्याख्या करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह जीवन के अधिक निकट है उसमे जीवन के स्वस्थ नियमो की मात्रा अधिक रहती है, परन्तु थोड़ा आगे बढ़ने पर हम यथार्थवाद के साथ खिलवाड करते हुए कुछ साहित्यकों को पाते हैं वे कभी-कभी विकृत और असंतुलित चरित्रो की गाथा गायाकरते हैं, इन पर आदर्शवादियों का यह आक्षेप हुआ कि उन्होंने हमें स्वस्थ और अधिक यथार्थ वस्तुओ को देने की योजना बनाई थी परन्तु इसके स्थान पर उनके द्वारा आज हमे असयत भावनाएँ ही मिल रही है। उन भावनाओं का संयत होना अथवा न होने का क्या आधार है उस पर प्रकाश डालना यहाँ अभीष्ट नही इसलिए उसके विषय मे ज्यादा कहना उचित नहीं संक्षेप मे यथार्थ एक Objective space चाहता है, यह कटुसत्य को नहीं छोडना चाहता परन्तु उसका विकृतरूप हीं उसे त्याग देना है, यथार्थ की इसी रुचि ने साहित्य मे कुछ (कही-कही पर) अरुचि उत्पन्न कर दी उसी अरुचि के फलस्वरूप एक दूसरा रूप जो यथार्थ चित्रण ने ग्रहण किया है प्रतीकवाद है। वही यथार्थवाद की ही आत्मा है। इनमें वही ध्वनि है जो सवाँरी गई है। यथार्थ की कड़ुवाहट से ऊब कर यथार्थवादी साहित्यिकों ने प्रतीकवाद को ही मायर्स के अनुसार अपने नग्न, निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तार को अधिक अर्थ गर्भित बनाने के लिए प्रतीकवाद का रूप धारण कर लिया। जहाँ तक हिन्दी साहित्य से सम्बन्ध है वहाँ, कठोर यथार्थ की उपासना अभी कुछ ही दिनों से होना प्रारम्भ हुई है परन्तु अंग्रेजी साहित्य के यथार्थवादियों की तरह यहाँ के यथार्थवादी भी

---

१. चिन्ता—विश्व-प्रिया—अज्ञेय

*Thus the poet was forced by life i e by his experience to concentrate just those words and organising values which were be steadily less to as a whole.

कुछ विकृत वस्तुओं की कल्पना करने लग गये है, साथ ही साथ यथार्थवाद की कडुवाहट भी कुछ लोगों को खल रही है, यद्यपि वह कडुवाहट तीखी न लगनी चाहिए, हाँ यदि उसमें सचमुच सत्य और वास्तविक वस्तुओं का आधार है। फिर भी आज के वाद (प्रतीकवाद) अभिव्यजनावाद, प्रकृतिवाद आदि सभी इस यथार्थकी कडुवाहट से ही प्रेरणा लेकर निकले। उनकी कडुवाहट केवल कडुवाहट भर कही-कही रह गई है उनकी रचनाओं में वास्तविकता तो कम परन्तु उस वास्तविकता का प्रदर्शन ही साहित्य की घातक शक्ति है* ।

इसमे सदेह नही कि कही-कही यथार्थवाद के नाम पर कविता के वास्तविक गुणो की हत्या की जाती है। कविता के लिये शब्दों की प्रभावोत्पादक शक्ति [Forceble] होना अत्यन्त आवश्यक है। यथार्थवाद की कडुवाहट का जहाँ तक सम्बन्ध है उसमे एक इमानदार आलोचक को कोई विरोध न होना चाहिए, आज का जीवन कलाकार का जीवन भी जिसमें सम्मिलित है, इतना कडुआ है, इतना संघर्पमय है कि उसकी ज्वाला से दूर कलाकार जा नही सकता, यथार्थवादी लेखको की आलोचना करते-करते एक आलोचक ने लिखा है।

"कभी-कभी यथार्थवादी लेखक तुच्छ से तुच्छ और आवश्यक बातो का भी ऐसा चित्रण करता है कि काव्य का प्रभाव फीका पड जाता है[1]।" जहाँ तक काव्य प्रभाव का सम्बन्ध है यह अवश्य उचित है कि उसकी गति मन्द न होने पाये, काव्यो मे गति और शब्दों मे प्रभावोत्पादकता flow and impression in words अवश्य ही आवश्यक है काव्य का आधार यदि तुच्छ से तुच्छ हो तो भी उस तुच्छता से क्या विरोध? तुच्छता की भी सत्ता है, जीवन मे तुच्छता नीचता-ऊँचता सभी तथ्य है साहित्यकार का ध्येय उन तुच्छताओ से आँखे मूँद लेना नही है, वह तुच्छता ओर उच्चता दोनों का चित्रण कर सकता है, यदि यथार्थ मे तुच्छता का चित्रण होता तो इसका अर्थ यही कि वह वास्तविकता की ओर अधिक उन्मुख है, तुच्छता से ही

The literature which stands upon the actual and the real feelings in a Literature is to be appreciated but if there is only the propaganda and not the feeling it will die soon

और भी एक विचार लें—

The great realists always regard society from the view point of a living and moving centre and the centre is present visibly or invisibly in every phenomena.

—Dostovskey.

History of the process of the realism. pp 248

१ काव्य में यथार्थवाद नामक अश में आदर्श और यथार्थ पृ० १५०

मी

काव्य का प्रभाव फीका नही पड़ता। यह कवि का व्यक्तित्व है, कवि की सजग आत्मा है, जो काव्य मे गति लाकर उसे सर्व प्रिय बना देती है। रूप और विषय-वस्तु दोनों ही निष्प्राण है, प्राणवान है कविता का व्यक्तित्व, वह अपनी चेतना से स्पर्श करके उनमें भी गति ला देता हैं। एक सच्चे यथार्थवादी के काव्य अथवा कृति में, Every truth is linked up with every thing else Each phenomena shows the polyphony of many components.

Russian Democracy Literary Criticism his Dobornov pp. 457

यथार्थवादी लेखक समाज के अन्तस्तल को स्पर्श करने की चेष्टा करता है, वह देखता है कि किसी वस्तु अथवा रीति के पीछे कौन-सा आधार है - जब उसे आधार की अशक्त और रूढिगत भावनाओ का आभास हो जाता है तो वहीं पर उसका अन्तर चीत्कार कर उठता है, उस वस्तुस्थिति में यह नही देखता अथवा देखना उचित नही समझता कि यह तुच्छ अथवा उच्च क्या है। वह तो अपने हृदय पट पर पड़नेवाली छाया का चित्रण करता है, उसी धूमिल रेखाओं को वाणी देता चलता है, उसे इससे क्या तात्पर्य कि वह छाया तुच्छ है अथवा अतुच्छ। यदि छाया अतुच्छ है तो समाज की वह बुराई है प्रतिबिम्ब है, उस पर आदर्श का पर्दा नही डाला जा सकता।

प्रतीकवाद —छायावाद काल की आधुनिक साहित्य को सबसे बड़ी देन भावो की सूक्ष्मता थी। प्रत्येक भाषा मे प्राय: ऐसे शब्द रहा करते है जिनमे केवल ऊपरी अर्थ का ही बोध नही होता बल्कि उस शब्द का उच्चारण करते ही एक रेखा सी स्मृति के समक्ष आ जाती है। यह तो प्राय: शब्दो के उच्चारण करने पर उसके अर्थ समझनेवाले के समक्ष वही स्वरूप आ जाता है। साधारण-सा शब्द भी यदि ले लिया जाय तो उसका अर्थ बोध इसी रूप मे होता है। इसका कारण है कि उस शब्द के पीछे एक ऐसी रूपरेखा निश्चित कर दी गई है कि वह प्रत्येक व्यक्तियो के समक्ष उसी शब्द के उच्चारण के साथ ही साथ आ जाती है। एक साधारण सा शब्द ले ले — गाय का उच्चारण करनेवाला व्यक्ति भी समझता है कि वह एक ऐसे जानवर के विषय मे बातचीत कर रहा है जिसके चार पैर एक पूँछ आदि-आदि है। यह तो साधारण सा शब्द-बोध है। परन्तु कही-कही पर ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुये है जिनके पीछे एक सॉस्कृतिक पृष्ठभूमि है अथवा कुछ कल्पित सत्य का आधार है। जिन शब्दों पर सास्कृतिक प्रभाव होता है वे शब्द ठीक प्रतीक का कार्य करते है। छायावादी रचनाओ मे यदि हम लें तो मधुमास, मधु आदि शब्दों का प्रयोग बहुतायत से मिलेगा। इन शब्दो की यदि हम मनोवैज्ञानिक व्याख्या करें तो यह प्रतीत होगा कि मधुमास के पीछे एक सुख यौवन का पूर्ण विकास और बिखरा हुआ सौन्दर्य आदि की भावना होती है ये शब्द अथवा यह भावना मधुमास से सम्बन्धित

किस रूप में है। मधुमास सचमुच प्रकृति का वरद मास है जिसमें पल्लव हरे-भरे होकर झूम उठते हैं, पुष्पों की सुरभि वातावरण में अनुपम सुगन्ध पैदा करती चलती है। मधुमास मे ही इन भावनाओ का विकास सन्निहित है, कवि इस शब्द का प्रयोग करके अपने पाठको को उसी चिन्तन भूमि पर खीच ले जाना चाहता है। अतएव मधुमास प्रतीकात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। In literary use symbolism merges into a representation or more acurately perhaps, from it when the specific details chooses for respresentation are made to convey over wider and deeper meaning.[1]

Myer in Rea'ism

इस प्रकार से भावो के प्रतीकात्मकता ही प्रतीकवाद मे अपना प्रमुख स्थान रखती है। फ्राँसीसी साहित्य से Symbolism Mac Arther के अनुसार An attempt to break awy from the realists Zola etc. who aimed above all things at beeing precised at saying.. ... So completely that nothing removed which it might be the business of the reader to derive.[2]

इस प्रकार से प्रतीकवाद मेकआर्थर के अनुसार साक्षिप्त प्रयोगों की ओर संकेत करता है। यदि देखा जाय तो प्रमुख वस्तु अथवा आधार हम इनको –शब्दो की व्यंजना —(ब) भावोत्पादक .(स) विचारोत्पादक-ही कह सकते हैं। शब्दो की व्यजना के साथ -ही- साथ भाव और विचार का भी समावेश अर्थ मे होता है। कहीं,कहीं पर काव्य में ऐसे स्थल आ जाते है जब कवि अपनी बात कहने के लिए विशेष प्रचलित शब्दों का आश्रय ग्रहण कर लेता है। विशेष प्रचलित शब्दो से मेरा तात्पर्य ऐसी उपमाओ से है जिनका अर्थ एक परम्परा में बँधकर चल रहा है, यदि उसी अर्थ का स्पष्टीकरण कवि का अभीष्ट होता है तो उनका स्थल पर प्रयोग कर वह उद्देश्य में प्राय: सफलता प्राप्त करता है।

मुख कमल के समान है, कहने का तात्पर्य यही होता है कि मुख की सुन्दरता कमलवत् है जिस प्रकार से कमल में सुन्दरता कोमलता आदि गुण होते हैं उसी प्रकार के तत्व एक कमलवत् मुख मे समझे जाते है। शब्दों में व्यंजना का यही स्वरूप है, जिसको अंग्रेजी साहित्य मे Phatasia of words के नाम से जाना जाता है।

इस प्रकार से यह देखा गया कि कमल के समान मुख कहने से प्राय: दो बातों का साथ-ही-साथ बोध हुआ, पहला तथ्य भाव और दूसरा विचार। प्रत्येक भावोत्पादक अर्थों में तो विचार का कुछ न कुछ अंश छिपा ही रहता है, भाव मस्तिष्क पर वाह्य-वस्तुओं की प्रतिक्रिया स्वरूप पैदा होता है और विचार मीमाँसा

1. Later Realism by Myers pp 23.
2. ac Arther pp 27

की वह श्रृंखला है जो बाह्य-वस्तुओं के (मस्तिष्क पर पड़े हुए) प्रभाव को मस्तिष्क की स्थिति से जोड़ता है। क्रम से सौन्दर्य का भाव जागृत हुआ, परन्तु इस सौन्दर्य के भाव के पीछे कमल की एक रूपरेखा पहले से ही मस्तिष्क मे निश्चित हो चुकी थी, उसी रूपरेखा के आधार पर कमल का सम्पूर्ण सौन्दर्य निश्चित है। कवि के मस्तिष्क मे कोमलता का यही स्वरूप जब घर कर लेता है तो अपनी चिंतन शक्ति से अपने समस्त प्रयोग पर इसी का मुलम्मा चढ़ा देता है, वही मुलम्मा चढ़ा हुआ तथ्य, एक जागरूक और चिरन्तन तथ्य हो जाता है। संक्षेप में यही प्रतीकात्मता का अर्थ है।

भावोत्पादक प्रतीक साहित्यकार का कला मे भाव और विचार दोनो का सन्निवेश आवश्यक है। यद्यपि दोनों तथ्य एक दूसरे पर ही अवलम्बित हैं फिर भी जिस स्थल पर भावो की प्रचुरता आ जाती है और विचार गौण रहता है वहाँ भावोत्पादक प्रतीकवाद की ध्वनि होती है—

मुख कमल समीप खिले थे, पूरइन के दो किसलय से।

इन पंक्तियों मे कवि अधिक भावुक है, विचारक कम। कमलवत मुख के निकट उसने पुराइन के दो किसलय को खिलाया है, उसकी भावधारा एक अविच्छिन्न सौन्दर्य राशि से टकराती हुई चली है यहाँ कलाकार का वह स्वरूप है जो अपने को भाव जगत के निकट पाता है, एक और उदाहरण लें—

सध्या की मिलन प्रतीक्षा, कुछ कह चलती मनमानी।
ऊषा की रक्तिम आभा, कर देती अंत कहानी॥

सध्या और ऊषा कवि के भावनाओ को बाध करके स्थित रहने वाले दो कूल हैं। सध्या में अपने भावो का उद्गार का अनुभव कर उसे एक सिहरन सी (कवि को) ज्ञात होती है परन्तु ऊषा उसके सम्पूर्ण जिज्ञासाओं का अन्त कर देती है।

तुम्हारी आँखों का आकाश, सरल आँखों का नीलाकाश।
खो गया मेरा खग अनजान, मृगेक्षणि ! मेरा खग अनजान॥

आँखो का आकाश भावोत्पादक प्रतीक से भरा पड़ा है। कवि अपनी प्रियतमा के नेत्रो को अत्यन्त विस्तृत और आकर्षक पाता है। उसकी नीलिमा मे कवि का खग खो जाता है, यदि राह से परिचित खग होता तो राह भी पा लेता। परन्तु वह अनजान है। आकाश की शून्यता में उसका एक अस्तित्व खो जाता है। सब कहने का निचोड़ यही है कि कवि की प्रियतमा की आखें नीली है आकाश की भाँति। उसका मन उसी में रमा हुआ है। केवल इन्ही तथ्यों को लेकर कवि ने इन लाक्षणिक शब्दों को एकत्रित किया है। भाव-जगत का एक सुन्दर उदाहरण यह पद हो सकता है।

प्रतीक किसी भाव को स्पष्ट रूप मे प्रकट करता है। भावोत्पादक प्रतीक में एक सिहरन, स्पन्दन और स्फुरण की प्रधानता रहती है। हृदयपक्ष इतना प्रमुख रहता है कि कवि की सर्वस्व कृति में केवल भावना ही भावना अपना स्थान रखती

है ! कवि पन्त की पहले की कुछ रचनाएँ जैसे वीणा, पल्लवन ग्रंन्थि इसी स्तर पर रखी जा सकती है । अधिकतर ऐसे भावों का उद्‌गार कवि ने प्रकृति को अवलम्बन स्वरूप मान कर किया है । एक उदाहरण और देखिए—

सृजन जिस का था हुआ मृदु पाखुडी की ओट में,
गान जिसको मिल गया इस क्रूर जग की चोट से ।
भ्रमर के गुंजार से ही राग जिसने जान पाया,
धधकते अगार से ही वेदना पहिचान पाया ।।
फूल पर हँस खेलता था, शूल पर डाला गया हूँ,
मैं ऊषा की गोद मे पाला गया हूँ ।।

कवि का सृजन (लालन पोषन) मृदु पाखुडी की ओट में हुआ है । उसने ऊषा के क्रोड में क्रीड़ा किया है अर्थात् उसके बचपन का जीवन बड़ा ही मधुर रहा है, सुखपूर्वक बीता है । उसने राग भी भ्रमर के गुञ्जार से पाया, यही कारण है कि उसके राग मे कितनी तन्मयता है परन्तु जग और जीवन से दूर अपने मे सकुचित रहने की भावना है । रेखांकित शब्दों मे भावात्मक प्रतीकात्मा की एक स्पष्ट छाया देख पडती है । कवि अपने समस्त जीवन की रूपरेखा तो अवश्य खींचता है परन्तु उसमें उसकी भावना और कही-कही अतृप्त वासना की मलिन छाया झाँक करके देख लेती है, अपने सम्मुख के ससार को । वह इसी निष्कर्ष पर है कि 'फूल पर हँस खेलता था, शूल पर डाला गया हूँ" वह पहले के जीवन मे फूल पर हँस-हँस कर खेलता था क्यों, इसका कारण भावुकता से दबा पड़ा है, वह (कवि) केवल इतना ही जानता है कि अब और तब में अन्तर है क्योंकि पहले वह फूल पर था अब शूल पर है । पहले की सुविधायें जीवन की मुदुलताओं का अच्छा चित्रण है और साथ ही साथ आज के जीवन की विवशता एवम् कठिनाइयो से ओतप्रोत होने की भावना का भी उद्‌गार है । भावोत्पादक प्रतीकवाद का यह उचित उदाहरण जान पडता है ।

भावोत्पादक प्रतीकवाद के अतिरिक्त कहीं-कहीं छायावादी काल मे ही विचारो का प्राबल्य और भावों की आधीनता दिखलाई पड़ती है । कुछ ऐसे शब्द हैं जिसमे केवल भावना ही शब्दार्थ को ही प्रकट नही कर देती, विचार भी उसमें अपना स्थान रखते हैं । उदाहरणार्थ साप शब्द को लें-इस शब्द के पीछे भावना से अधिक विचार कार्य कर रहा है । साँप के विष की उग्रता उसका टेढापन आदि सभी वस्तुएँ एक-एक करके मस्तिष्क के विचारशृंखला को बढ़ाती चलती हैं । साप शब्द में भाव से अधिक विचार हैं । पन्त की 'प्रिये प्राणों की प्राण' से उदाहरण लें ।

अरुण अधरों का पल्लव प्रात, मोतियों सा हिलता हिम हास ।
इन्द्रधनुषीपट से ढक गात, बालविद्युत का पावस लास ।।
हृदय में खिल उठता तत्काल अधखिले अंगों का मधुमास ।
तुम्हारी छवि का कर अनुमान प्रिये प्राणों की प्राण

यह उदाहरण भावोत्पादक और विचारोत्पादक प्रतीक का मिश्रित उदाहरण है। पल्लव, प्रात और हिमहास तो भावोत्पादक प्रतीक के उदाहरण हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त मोतियो से हिलता, इन्द्रधनुषी पट ढंक गात आदि उदाहरण में एक विचार शृ खला चल रही है, भावना से अधिक विचारो का ही प्राबल्य है। 'मोतियो सा हिलकर' मे विचार की प्रधानता तक मुझे अधिक प्रतीत होती है। मोतियों सा यदि हास होता तो उसमे भाव की प्रधानता अवश्य होती परन्तु मोतियो सा हिलने की एक सूक्ष्म रेखा मस्तिष्क-पटल पर खिच उठती है, वह विचार की सूचक है। इसी प्रकार से इन्द्रधनुषीपट से ढक गात में भी एक रोमाटिक झाकी है। सतरंगी पट से जो गात ढंका रहेगा उसमे कितनी सुषमा और सौन्दर्य होगा। गात पट के भीतर झिलमिलाता सा प्रतीत होगा। इन सब भावनाओ के पीछे एक दृढ़ एव स्वस्थ विचार है।। इन शब्दों से भावनाओ का उदय तो अवश्य होता है, परन्तु उस रूपात्मकता का प्रभाव केवल विचारो के द्वारा ही पुष्ट होता है। जब (अंतिम पंक्तियो मे) कवि छवि का अनुमान ही करना प्रारम्भ करता है तभी एक विचार और उसके पीछे भाव का उदय होता है। छवि की तुलना वह यदि प्रस्तुत विधानो के द्वारा कर देता तो भाव का उदय पहले होता विचार का बाद मे। परन्तु अप्रस्तुत विधानो के द्वारा पहले वह चिन्तन करता है मोतियो का हास, इन्द्रधनुषी पट, बाल-विद्युत और तब चिंतन के पश्चात् इन सभी रूपो का मिलकर एक रूप हो जाता है, जो उसके प्रिय की कल्पना में योग देने लगता है। विचारोत्पादक प्रतीकवाद का यह उदाहरण उचित प्रतीत होता है।

भावनाओ के पीछे ही प्रतीकात्मकता छिपी रहती है। देश की संस्कृति रिवाज और प्रचलित रूढ़ियो के अनुसार ही प्रतीक की भी सृष्टि होती है। भारतीय दृष्टि से देखने मे गोबर से लिपा हुआ स्थान शुद्धता का प्रतीक है, आँगन में रचा गया चौक एक विशेष त्योहार की व्याख्या करता है। यदि देखा जाय तो भारतीय जीवन ही पूर्ण रूप से प्रतीकमय है। बुन्देलखण्डी स्थानो मे प्रत्येक घर के द्वार पर प्रात. काल गोबर के चौके दिए जाते है जिस प्रातकाल मे ये चौके द्वार पर ताजे दिए हुए न पाये जायं वह प्रात अशुभ प्रात ही (उस घर के लिए) होगी। प्रायः घर मे कोई देहान्त हो जाने के पश्चात् गोबर का चौका नही दिया जाता। इस प्रकार झांसी का प्रतीक उस स्थान की परिस्थितियो से मिला हुआ है। मुसलमानी साहित्य में प्रणय को मधुरता को दिखलाने के लिए शराब का प्रयोग किया जाता है। भारतीय दृष्टि से शराब वर्जित है, अतएव वहाँ के साहित्य मे शराब का चित्रण प्रणय की रात्रि में नहीं किया जाता।

कहने का तात्पर्य यही कि प्रतीक का अपनी सस्कृति और वातावरण के विपरीत कोई भी स्वतन्त्र स्थान नही है। एक देश तथा राष्ट्र की प्रचलित रीति ही उस देश के कवियो की कल्पना में अपना एक विशिष्ट छाप छोड़ देती है। इसका कारण है कि कवि उसी मे रहने का है कल्पना का कुछ आधार होता

है निराधार कल्पना हो नहीं सकती। भारतीय कवियों के लिए ऊषा और संध्या का चित्र सदा से आकर्षित करने वाला रहा है। ऊषा मे रात्रि के समान विपरीत भावनाओं का ह्रास और निकलते प्रभात के समान एक स्वस्थ भावना का उदय पाया जाता है। संध्या का भी हमारे साहित्य मे अपना एक विशिष्ट स्थान रहता है, हमारा सौंदर्यवादी कवि उसमे भी सौन्दर्य की छाया देखता है परन्तु ठीक इसके विपरीत यूरोपीय काव्यमें थोड़ी देर तक उगनेवाली धूप से आनन्द तथा संध्या से उदासी का संकेत होता है। इसका कारण है भारत सदा से सौन्दर्य का उपासक रहा है, उसने सौन्दर्य देखा है, उदासी में भी एक - एक सौन्दर्य की आभा हमारा साहित्य देखता आया है। यह स्वरूप (कवियों का इधर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। उन्होंने अपनी आत्माभिव्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत भावों मे बांधने की चेष्टा की है यदि वे दुखी हैं तो सम्पूर्ण प्रकृति सुख मे ही हिलोरें लेती रहेगी। इसके अतिरिक्त ऊषा और सध्या सभी को प्रसन्न करती हुई दिखाई देती है। अन्त में प्रतीकवाद की व्याख्या करते समय हम यही कहेंगे :—

प्रतीक के पीछे निश्चित भावधारा का स्रोत छिपा रहता है उस स्त्रोत की अपनी कोई स्वतन्त्रता सत्ता नहीं होती। वह उस स्थान विशेष की संस्कृति पर ही निर्भर रहता है। अतिरिक्त शब्दो की ध्वनि कवि के अन्तरतम से निकली हुई अनुभूतियो में मिलकर एक स्पष्ट और व्यञ्जनात्मक रूपरेखा (स्त्रोत के) सम्मुख ला देती है। अज्ञेय के एकयान से एक उदाहरण लें—

मुझको कैसे घाट बसेरे,
खड्ग धार की राह बनाकर पास आ रहीं हूँ मै तेरे।

जहाँ तक शब्दो की व्यजनात्मकता का तात्पर्य है खड्ग धार की राह और घाट बसेरे ये केवल दो शब्द ही उसके लिए पर्याप्त हैं। खड्ग धार की राह से कवि का तात्पर्य राह की दुरुहता से है, परन्तु राह की ऐसी ऊबड़-खाबड़ स्थिति से आने का तो वह अभ्यस्त है, इस भावना का स्पष्टीकरण मुझको कैसे घाट बसेरै से होता है। इन शब्दो का एक रूपात्मक प्रयोग है।

अतएव प्रयोगात्मक प्रतीक विशेष चिन्तन - धारा से सम्बन्धित कर देते हैं उन्ही विचारो के अनुसार हम प्रतीक के निम्नलिखित भाग भी कर सकते हैं—

(१) भावात्मक प्रतीक (२) राष्ट्रीय प्रतीक और (३) दार्शनिक प्रतीक।

ऊषा शब्दों की व्यंजना की चर्चा करते समय भावोत्पादक अथवा भावात्मक और विचारात्मक प्रतीक पर सोचा जा चुका है। राष्ट्रीय प्रतीक से तात्पर्य भाव के पीछे पीछे छिपी हुई राष्ट्रीयता का प्रयोग ही है। विभिन्न दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए तथा उन दृष्टिकोणों पर विचार करते हुए हम यही कहेंगे कि प्रत्येक युग का अपना कुछ चुना हुआ प्रयोग रहता है। रीतिकालीन—साहित्य को यदि हम लें तो कमल का तात्पर्य-सौन्दर्यवान मुख से बाण से तात्पर्य नेत्रों के नुकीले कोर से प्राय समझा जाता था काल मे ऊषा मधुमास और मधु हास

आदि प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। आज के प्रगतिवादी साहित्य में, इसकी संस्कृति और आदर्शों के साथ ही साथ इसके प्रतीकात्मक प्रयोग भी बदले, भावो का समाजीकरण प्रारम्भ हुआ और साहित्यकार अपने भावों को सामाजिक स्तर पर लाने लगा। अतएव आज के भी कुछ प्रतीक अलग हो गए और उसके प्रयोग के साथ ही साथ निश्चित अर्थ समझा जाने लगा। एक ऐसा ही उदाहरण है जोक जो पूँजीपतियो के अन्दर सर्वहारा वर्ग के शोषण करने की प्रवृत्ति है उसी शोषण से सम्बन्धित और एक विशिष्ट भावधारा से निर्मित हो आज का शब्द जो प्रचलित हो उठा। राहुल के साहित्य में इस शब्द की व्यंजनात्मक शक्ति का अच्छा प्रयोग मिलेगा। इस प्रकार से हम देखते हैं कि प्रतीक एक निर्मित भावधारा की ओर संकेत करता चलता है। मस्तिष्क के केन्द्र से उठ कर जो भावनाएँ समाज मे व्याप्त हो विचारों से जब एकीकरण (assimilation) कर उठता है तब वे ही भावनाएँ शब्द की सीमा मे बंध करके उस युग के प्रतीक के रूप में परिवर्तित हो जाती है। रिचार्डस के शब्दो मे प्रतीक की व्याख्या देखिए[1]—

प्रतीक की उत्पत्ति के पीछे सांस्कृतिक और सामाजिक चिन्तन धाराओं के छाप के अतिरिक्त जहाँ दार्शनिक चिन्तन अभिप्रेत हो वहाँ दार्शनिक प्रतीक कहा जा सकता है। जहाँ साहित्यकार का साध्य उसकी हृदयगत अनुभूतियों से ऊपर उठकर मस्तिष्क के सतह तक आ जाता है वहाँ——उसी स्थान पर दार्शनिक प्रतीकों की उत्पत्ति होती है। मानव का मानसिक पक्ष सदा हृदयगत अनुभूतियों से परे ही सोचता है। शव पर अपने विचार व्यक्त करते हुए एक स्थान पर उसे जड़ और चेतन का क्षीण हास कहा गया है।[2] शव के पीछे जब कवि दो मिश्रित भावनाओं का समावेश पाता है, उसे उसकी क्रिया मे जड़ और चेतन का एक क्षीण हास मिलता है, जड इसलिए क्यों कि वह निष्प्रभ, शान्त और श्रीहत है। चेतन का क्षीण हास इस लिए क्योंकि हास की क्षीणता हास की ही गिरती हुई दशा वह (कवि) उस विकास (जीवन) के पश्चात् ही शव मे देखता है। अतएव इस पंक्ति के क्षीण हास मे

---

1. Symbols direct and organize accord and communicate. In standing what they direct and organise record and communicate have to distinguish as always between thoughts and things

२—शव शीर्षक कविता——

यह जड़ चेतन का क्षीण हास।
जीवन की सारहीन बीन का गायक मृणमय वह शरीर,
आत्मा के पंख पसार उठे स्वच्छन्द गगन मे बन समीर।
यह ध्वस सृष्टि का एक आशा

प्रतीकात्मकता है जिसका अर्थ बोध हृदय की अनुभूतियों से ऊपर मस्तिष्क की सतह पर से ही होता है।

इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करने के लिए उसकी पृष्ठभूमि पर भी दृष्टि डालना होगा, ध्वन्यात्मकता (प्रतीकों के) के पीछे शब्द शक्तियाँ भी कार्य करती है, वे ही शब्द जो एक मानव का विचार दूसरे मानव को स्पष्ट करा देते हैं, उन्ही की शक्तियाँ जब कतिपय संस्कृति और परम्परा के विचार को ले आगे बढती है, तो उन्ही शब्दो की ध्वनि ही अधिक सुखकर हो श्रोताओ के लिए प्रतीक का कार्य कर देती है। ऐसे प्रयोगो के लिए रिचार्डस के शब्दों को समझा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।[1]

शब्द शक्तियाँ सचमुच ही हवा की भाँति सर्वत्र फैली है। उनमे वही गति है, वही प्रवाह है, वही जीवन-दायिनी शक्ति है (वाणी को) जो वायु मे, विशेष कर जब वह स्वदेशीय हो। एक प्रान्तीय भाषा-भाषी जब अपने शब्दो का उच्चारण करता है तो उसके मस्तिष्क मे ठीक उन शब्दों के अनुकूल ही एक सजग वृत्ति रहती है जो समस्त उन्ही वृत्तियों को समेट कर उस शब्द मे ही रख देता है, शब्दो का गठन, उसकी रचना मानवो की प्रवृत्तियों के अनुसार हो रही है। जैसा मानव ने प्रतीत किया, उसके मस्तिष्क मे जब जैसी ही भावनाएँ आई उसने तद्नुकूल उसकी रचना की। कवि पन्त का उदाहरण ले प्रभात का प्रयोग प्रचलित रूप से पुलिङ्ग मे ही होता आया है, परन्तु वे अरुण, पल्लव की कोमल प्रात का प्रयोग करते हैं, शब्द की यदि व्यंजक शक्तियो पर विचार किया जाय तो प्रात के लिये कवि का स्त्रीलिंग मे प्रयोग कवि के विचारो के अध्ययन का अच्छा अर्थमय सूत्र है। ठीक उनके शब्द तो नही, परन्तु प्रभात के स्त्रीलिग में प्रयोग करने के लिये उनके विचार कुछ ऐसे ही हैं कि उन्हें प्रभात मे सुन्दरता और सुकुमारता का अनुभव होता है। अपने अनुभव के अनुसार ही कवि ने प्रभात को साडी पहिनाकर देखा है कवि की मानसिक प्रवृत्तियों ने प्रयोग किया होगा अपनी कल्पना की सतरंगी साडी पहिनाकर प्रभात को देखने के लिये— प्रभात कवि को सुन्दर और स्त्री सुलभ सुकुमारता लिये हुये दिखलाई क्यों न देता। इसमे तो संदेह नही कि प्रभात में कोमलता कुछ-कुछ स्निग्धता भी है, जब कवि ने उसे साड़ी पहिना दिया तो उसका रूप निखर उठा कवि की स्त्रैण कल्पना ने उसे अपने रूप में ही देखा। इस प्रकार से हम देखते है कि एक मनुष्य के विचार का स्पष्टीकरण वही (शब्दों) द्वारा ही होता है, साधारण शब्द प्रयोग जहाँ कहीं भी अपने प्रयोग से अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाते वही पर शब्दो

---

1. The power of words is the most conservative force of life. The common inherited scheme of conception which is all-round as native air, is more the less imposed upon us and limits on m mov ts m tless ways

को भारी बनाने के लिए प्रतीकात्मक प्रयोग कर दिया जाता है। यदि हम उसके अर्थ-बोधक शक्तियों पर विचार करें तो उनका विस्तार तीन भिन्न-भिन्न दिशाओं मे पाया जाता है।

एक प्रतीक केवल एक ही प्रसग का बोधक है, (२) प्रतीक की पृष्ठभूमि मे केवल विचारो के सघटन और परिस्थितियो की मीमांसा ही है और (३) कभी-कभी मानसिक धरातल से उठ कर प्रचलित-प्रतीक (स्पष्ट) अर्थो तक न पहुँच कर, असंदिग्ध विचार तक और परम्परा की धुरी पर ही रह कर शुद्ध अर्थ-बोध कराते है।

एक साहित्यकार जब अपने विचारो की शृंखला को शब्दबद्ध करता है तो उसी रूप मे ही उसके अर्जित शब्दावली की रूपरेखा मस्तिष्क के समक्ष खिच उठती है। अपने अनुभव, अपनी अनुभूति के अनुसार ही वह उस शब्दावली के उस समय के शब्द निकाल लेता है। यही विचारो के साथ शब्दो का गठबन्धन ही एक प्रसग पर एक प्रतीक का प्रयोग कराता। ऑसू के दार्शनिक कवि प्रसाद की ये पक्तियाँ लीजिए—

झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरद-माला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ घेरा डाला।

साधारण अर्थ में कवि यह कहना चाहता था कि वाह्य परिस्थितियो में एक हलचल थी और उसके अन्तर (हृदय) मे एक शून्यता थी। वाह्य परिस्थितियों की जटिलताओ ने आकर कवि के सूने हृदय पर घेरा डाल दिया।

अपनी व्यजनात्मक शक्ति के द्वारा अपने समस्त भावों पर कवि ने एक अवगुण्ठन डाल दिया है, परन्तु उन व्यञ्जक शक्तियो के द्वारा कवि के जो भाव बलपूर्वक दबा लिए गए है अब भी चीख कर स्पष्टता को व्यक्त कर रहे है। प्रसाद जी के आँसू का उदाहरण देकर केवल प्रतीक के पीछे की पृष्ठभूमि को ही स्पष्ट करना था। इसी प्रकार से (जैसा ऊपर कह आए) प्रत्येक युग तथा प्रत्येक विचार-धारा से प्रभावित प्रतीक होता आया है। निर्गुण-धारा के भक्त कवियो के कुछ उदाहरण लीजिए—

अवधू! भजन भेद है न्यारा।
क्यों गाए क्या लिखि बतलाये, क्या भरमें ससारा,
क्या सध्या तरपन के कीन्हे, जो नहीं तत्त बिचारा।

कबीर के अधिकाश पदो मे अवधू का प्रयोग हुआ है। कही-कही पर निर्गुण साहित्य के आलोचको ने अवधू की परिभाषा बिना वधू वाले पुरुष की है, सम्भवत. इसका सकेत उन योगियो की ओर से जो लौकिक बन्धनों से मुक्तत रहते हैं कही-कही पर सुषुम्ना नाड़ी को भी अवधती या अवधूती नाड़ी कहते है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध योगियों के लिये अवधू का सम्बोधन हुआ है। निगुण—सन्तो के

यदि हम सूर के पदो को भी लें तो उनमे भी प्रतीक का उदा

हरण मिल सकता है। प्रतीक के पखो पर उडकर सूर का कवि भक्ति के गगन मे मँडराया है। जा दिन मन पंछी उड़ि जैहे ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झर जैहैं।

अथवा

ऊधो! जोग जाने कौन।
हम अबला कहँ जो आनें, जियत जाको रौन,
जोग हमपै होय न आवै, धरि न आवै मौन,
बाँधि हैं क्यों मन पखेरू, साधि हैं क्यों पौन। आदि

यह वह स्थल है जहाँ पर योग की निन्दा की जाती है। साथ-ही साथ खिल्ली भी उड़ाई जाती है, साधारण शब्दों एवम् चलती भाषा में योग, कोरी भक्ति की निन्दा सूर ने खूब की है। अबला जन (गोपियाँ) मन पखेरू बाँधना नहीं चाहती। मन से तात्पर्य आन्तरिक तथ्यो से है और पौन साधने से तात्पर्य आत्मशुद्धि से है। यदि वे चाहे भी पखेरू कैसे बाँधा जा सकता है, और पवन (पौन) कैसे साधा जा सकता है। मन और पवन से तात्पर्य आन्तरिक पक्ष की शुद्धि से है। पौन साधना सन्ध्या (गायत्री) का कोरा निर्वाह भी हो सकता है।

भक्त कवियो ने हंस का प्रयोग खूब किया है। हंस उन लोगों के द्वारा विशुद्ध ज्ञान के प्रतीक के रूप मे ग्रहण किया गया है। हंस की मानसिक शक्ति इतनी विवेकशील है, निर्मल है कि उन कवियो ने हंस की उपमा अपने मन से देकर एक अद्‌भुत प्रतीकात्मक शब्द का प्रयोग किया है। कवि अपनी रागिनी मे जब मस्त होकर गा उठे—

ऊधो! जोग जाने कौन।

हंस का एक अलौकिक रूप पाठकों के सामने खिच उठा। वह निर्विकार रूप जो ज्योतिर्मय है, उसी का आह्वान सूर ने हंस के पीछे किया। आगे कवि ने हंस को कोई ऐसे स्थान पर ले जाने का विचार नहीं किया वहाँ वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो को छोड़कर जा सके। स्वभावत: वह तो वहाँ जायगा कवि उसके पंखो पर बैठकर मँडराता चला जावेगा। हंस के ही स्वभाव से परिचित होकर कवि ने कहा मानसरोवर अथवा सरवर तीर चलो। मानसरोवर की कल्पना उस स्थान के लिए की है जहाँ समाधि अवस्था में जीवनमुक्त आत्मा अमृत का आस्वादन करती है। ऐसे ही अनेक शब्द हैं जो इतिहास के विभिन्न युगों में प्रचलित रहे है। इसका कारण बताया जा चुका है।

अतएव साराश में प्रतीकात्मक प्रयोगों के विषय मे यही कहना कि कवि गाता है, आवाहन करता है एक रूप का वही रूप जो उसे वाछित है, जिसका उसे अभीष्ट है। हृदय की प्रेरक शक्तियाँ मस्तिष्क के बाहर निकलते निकलते एक वाणी

---

१ भ्रमरगीत सार शुक्ल पृष्ठ २६५।

का अवलम्ब ले लेती हैं--और वह वाणी से अपने वातावरण, अपनी मान्यताओं, अपनी परम्परागत रूढ़ियो का एक मिश्रित रूप। इन्हीं विचारों से बोझिल वाणी मे से झाँक करप्रतीक अपनी विशेष सत्ता रखता है प्र ीक शब्द की वह विशेष आत्मा है जिस पर उस युग की संस्कृति और मान्यताओं की छाप विद्यमान रहती है ।[1]

---

1. Symbolism is the outcome of such a mind which is governed by the general outlook. A name who pronounces a word, the hearer comes upon the same meaning to which the speaker wants to express.
2. The structure of symbolism is often determined by our 'intention' the effect which we endevour to promote by our utterance.

कुछ परम्परित प्रतीक के उदाहरण हैं--जो नीचे की कविता मे अपने अर्थ-बोध के कारण प्रतीकात्मक व्याख्या कर रहे हैं :--

हीरे का हृदय हमारा, कुचला शिरीष कोमल ने ।
हिम शीतल प्रणय अनल बन, अब लगा विरह से जलने ।
घु क्षी सम्यां हम एक को रोत

आँसू

साहित्य और सामञ्जस्य की धारणा

युग और परिस्थितियों के साथ ही साहित्य सदा से सामंजस्य कर के चलता आया है। भक्ति युग मे जब जनता मुसलमानी शासकों से पीड़ित थी, अपना धर्म (साधारण रूप में) अपना चिन्तन और अपनी भावनाओं को स्पष्ट करने का भी, उन दिनो, अवकाश न दिया जाता था। सकीर्णता के वृत्त में हिन्दू जनता की श्वांस घुटने लगी थी। साहित्यकारों की जिह्वा पर ताले थे, उनकी वाणी का विस्तार, रोक दिया जाता था, बरबस अत्याचारों से और अनेक प्रकार के अमानुषिक व्योहारों से। ऐसी अवस्था में साहित्यकार क्या करता? रूढ़ियों और अत्याचारों के विरोध में वह या तो सामूहिक रूप से आवाज उठाता या बरबस उन अत्याचारो को सहता जाता परन्तु वह भारतीय साधकों से भी प्रभावित था, धर्म और ईश्वरवाद का उसे विश्वास था—अतएव अपने को ऐसी अवस्था से छुड़ाने के लिये वह एक अज्ञात सत्ता की ओर झुक गया यही उसका ईश्वरवाद निखर उठा, और आत्मसन्तोष के लिये ऐसे साहित्य का सृजन करने लगा जिसका दार्शनिक आधार अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, और समन्वयवाद आदि था। इस संसार के दुखों से छुटकारा पाने के लिये वह प्रार्थना करने लगा। धीरे-धीरे साहित्य रीतिकाल तक बढ़ता आया। उस समय के भी साहित्य मे इसी प्रकार की प्रवृत्तियों का आभास मिलता है। राजपूतो, मुगलों और खिलजी वंश की मदान्ध प्रवृत्तियो ने साहित्यकारो को भी अपने ही पक्ष मे कर लिया। कुत्सित भावनाओं, क्षयग्रस्त रोमांस से ओत-प्रोत कविताएँ उस समय की प्रमुख रचनाओं मे गिनी जाने लगी।

अंग्रेजी साहित्य, बंगला आदि साहित्यों के प्रभाव से आधुनिक युग मे हिन्दी साहित्य भी अछूता न बच सका। उसके फलस्वरूप हिन्दी मे छायावाद की धारा निकल पड़ी जिसका आधार अंग्रेजी और बंगला साहित्य ही था, परन्तु रीतिकाल से ही जनता स्थूल सौन्दर्य-कल्पना और शृंगार की चीजों को सुनती आई थी अतएव छायावाद के प्रतिक्रिया स्वरूप एक नया वाद उठ खड़ा हुआ हिन्दी में उसे प्रगतिवाद के नाम से जाना गया। कविता मे सौन्दर्य और सत्य का भी स्थान होता है, केवल भाव-हृदय की प्रवृत्तियां, कोरी भावुकता ये ही तथ्य उसमें अनिवार्य नहीं। साथ ही साथ वही साहित्य सर्वांगीण हो सकता है, उसी में चेतना गति और विकास सन्निहित रह सकते हैं जिसमें लोक रञ्जनकारी भावना हो और लेखक या कवि की अनुभूतियां मुखर हो उठी हों ऐसे ही साहित्य को जन कल्याण का साहित्य कहा

जा सकता है। अतएव समाज की परम्परा, और रूढ़िगत बातों का खण्डन कर युग की प्रचलित मान्यताओं और सत्य का जो साहित्य चित्रण कर सके वह प्रगतिशील साहित्य है। उसका स्वरूप ऐसा ही तो है।* साहित्य की ऐसी व्यापक परिभाषा जिसके अन्तर्गत सभी चेतनाओं और सभी वर्ग के व्यक्ति का चित्रण हो सके वही अपने स्वाभाविक रूप में उपयोगी हो सकता है। छायावाद का जहाँ तक सम्बन्ध है उसकी सूक्ष्म, भावना और व्यक्तिगत भावनाओं का सम्बन्ध सीधे जनता से न था अतएव युग की आवश्यकतानुसार प्रगतिवाद अपना एक विशिष्ट रूप ले साहित्य में आया। यह स्पष्ट होगा कि छायावाद के-मूल मे ही प्रगतिवाद का शिशु बढा अतएव वही के कुछ प्रभाव से प्रभावित वह भी है। दोनो मे अन्तर केवल बाह्य प्रवृत्तियों का है, आन्तरिक साम्य है। पहले में भावों की स्पष्टता अधिकांशरूप से नही हो पाई है दूसरे मे वह अभाव नही रह गया है। जहाँ तक इसका आन्तरिक पक्ष है, उसे पूर्व और पश्चिम का अथवा भारतीय या आभारतीय कह कर किसी विचारधारा की विशिष्ट मनोवृत्तियो और सौन्दर्य मूलों की तथा देशकाल की संकुचित परिधि मे बाध कर नही रख सकते। परिस्थितियाँ केवल एक राष्ट्र अथवा देश की सीमा में बंधकर नहीं रह सकती, दो राष्ट्रो या उनसे अधिक राष्ट्रों की परिस्थितियों में यदि साम्य हो तो उसका वही ऊपचार होगा जो एक राष्ट्र में,। साहित्य मे जहाँ तक परिस्थितियो का चित्रण और उचित मूल्याकन का प्रश्न है इससे तो सभी सहमत हैं। अतएव प्रगतिवाद एक निश्चित उद्देश्य को लेकर आया जिसका उद्देश्य जीवन और साहित्य का सामञ्जस्य करना ही है, वह उसी ओर अग्रसित हो रहा है। यदि देखा जाय तो सदा से ही साहित्य समाज को अपने उचित मार्ग पर लाता आया है। कभी-कभी ऐसे भी अवसर आए हैं जब अविकसित समाज मे उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ है, हमारा सन्तसाहित्य भी इसी प्रकार का है ——तुलसी के राम—राज्य की कल्पना उस युग के अभावो और असन्तोष पर निर्भर है। साहित्यकार अपनी वाणी से अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर समाज को जागृति का संदेश दिया करता है। समाज और साहित्य का यही सम्बन्ध रहा है। साहित्य समाज को एक नीव देता है जिसपर उसका ढाँचा निर्मित होता है। ऐसा ही उदाहरण लें।[1]

पाश्चात्य साहित्य का यह परिवर्तन ठीक भारत की परिस्थिति के अनुकूल ही है, भारत की भाँति वहाँ भी राजकुमारो, प्रसादों और समाज में एक ही तथ्य पर

---

* It is an imaginative form of class conciousness expressing itself by means of verbal images.

1. The healthy creative literature develope consistently in the same direction upto end of 18th. cen. English literature helped to substitute for the knights, Princess, Heros and Monsterious entirely foreign burgeoise of 18th. century. A similar factor so every reader the similar of our family and society depecting to him. A History of Literature pp 18–19

साहित्यकारों द्वारा प्रकाश डाला जाता था अतएव वह साहित्य एकांगी था–साहित्य में केवल एक ही वर्ग का चित्रण करके अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों से पाठकों को पृथक रखना है, और वह साहित्य साधारण लोगों के लिए उपयोगी भी नही सिद्ध हो सकता–––इसी तथ्य की पूर्ति प्रगतिवाद कर रहा है। वह जीवन के सभी पहलुओं को खुली आँखों से देख रहा है और अपना निश्चित मत प्रगट कर रहा है। इसमें सन्देह नही उसका यह प्रयोग चाहे किसी भी साहित्य से प्रभावित हो चाहे किसी भी दृष्टि की सूझ हो, सराहनीय है। जहाँ तक बाह्य-प्रभाव का प्रश्न है, ऐसी ही अवस्था मे हिन्दी साहित्य अनेक भारतीय या अभारतीय दर्शनों से प्रभावित होता आया है। सूफी सिद्धान्त, हमारे साहित्य पर अपना एक व्यापक प्रभाव छोड़ चुका है। इसका कारण है, किसी भी राष्ट्र में अन्य राष्ट्र की उस परिस्थिति का प्रभाव नहीं परन्तु सामन्जस्य का प्रभाव हो जो एक सी परिस्थितियों के कारण स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाया करते हैं। प्रवृत्तियाँ ठीक शारीरिक विकास की भाँति, अपना एक निश्चित एवम प्राकृतिक विकास रखती है जो कि उपयुक्त भावधारा को पाकर स्वयं फूट निकलती है। अतएव किसी भी एक सी प्रवृत्ति को दो स्थानों पर पाकर एक का दूसरे पर प्रभाव कहना, बहुत उचित नहीं मालूम पड़ता। प्रवृत्तियों के विकास में वे ही तथ्य सम्मिलित हो सकते हैं जो अन्य स्थान के विकास में सन्निहित थे। अतएव प्रगतिवाद लौकिक वस्तुओं को ही लेकर चल रहा है।

इस प्रकार से कला का यह पक्ष जो वैयक्तिकता को छोड़कर एक व्यापक दृष्टिकोण को लिए है, प्रगतिवादियो को आकर्षित कर सका है। जीवन प्रगति का पर्याय है, आगे बढ़ने में ही उसका श्रेय है। इस अस्त व्यस्त समाज में तो उसे संघर्ष करना है क्योंकि जीवन से चेतना को जोड़ने वाली यही एक कड़ी है। जहाँ तक प्रोपेगण्डा का आधार है साहित्य उस पर नही निर्भर कर सकता। मार्क्स के सिद्धान्त पर आधारित काव्य, या केवल रूस के गीत साहित्य के विषय न बनें। जहाँ साहित्य मे इन तथ्यों का समावेश किया जाने का प्रश्न है, इसमे संदेह नही कुछ साहित्यक ऐसा करते भी हैं। जो सर्वथा नियम के विरुद्ध है। एक साहित्यकार को तो समाज के सभी पहलुओं को देखना है, उनमें समाज के बड़े से बड़े वर्ग का भी चित्रण होना चाहिए और छोटे वर्ग का चित्रण भी। के विचार में यहाँ पर तथ्य अवश्य ज्ञात होता है।

"कतिपय आलोचक चन्द वरदायी या भूषण की कविता में प्रोपेगण्डा नही देखते। यदि कोई राजकुमारो या राजकुमारियो या कोमलांगियों और सूट बूटधारी पुरुषो के विषय में लिखता है तो वह उनकी दृष्टि मे प्रोपेगण्डा नही किन्तु यदि कोई मजदूर, किसान या मुफलिसों के बारे मे लिखता है तो वह प्रोपेगण्डा है।"[1] चौहान

---

१ शिवदान सिंह द्वारा पृष्ठ १८

जी ने प्रगतिवादियों को एक ही क्षेत्र में बाधने का प्रयत्न किया है मजदूरों और कृषकों के सिर पर ही क्या प्रगतिवादियों का टीका लगा हुआ है, केवल मजदूर और कृषक ही इस समाज के अंग नही, इस समाज के अंग हैं पूँजीपति और जमीदार भी। साहित्य में दोनों का चित्रण होना आवश्यक है। यथार्थवर्णन के आधार पर एक पूँजीपति का अन्याय एक मजदूर पर, जमीदार का अन्याय अपने आश्रितों पर दिखलाना ही कहाँ तक उचित है, परन्तु यदि एक भाग को छोड़ दिया जाये तो वह साहित्य एकागी हो जायेगा। ठीक यही बात जो प्रगतिवादी आलोचक अन्य साहित्यकारो के विषय मे कह देते हैं कि उन्होंने समाज के एक भाग (निम्न भाग) का चित्रण ही नहीं किया। प्रगतिवादियों पर भी क्या यह आरोप नही लगाया जा सकता कि यदि एक साहित्यकार ने निम्न वर्ग का चित्रण करना छोड़ दिया तो दूसरे ने उच्च वर्ग का चित्रण करना छोड़ दिया। कहने का तात्पर्य यही कि साहित्यकार किसी भी वर्ग के समुचित अग मे बँधकर नही रहता है वह तो एक दर्शक की भाँति है जो समाज की बहती हुई सरिता के किनारे खड़ा हुआ प्रत्येक मोड़ को देख रहा है और इस प्रकार से समाज की गति विधि निश्चित कर रहा है। यदि उसी बहाव के साथ ही वह भी बहने लगता है तो उससे पृथक रह कर जितना देख सकता था उतनी सूक्ष्मता के साथ वह उन गतिविधियों का चित्रण नहीं कर सकेगा। साहित्य का सच्चा उद्देश्य यही है कि कलाकार समाज की क्रिया शीलता के निकट रहे वह सुन सके कि समाज की रगो में कब और कितना रक्त बह रहा है, वह जब समाज के इतना निकट रह सकेगा तभी उसका जानना उचित तथा सफल हो सकेगा। समाज की बुराइयो से ऊब कर आज के साहित्यिकों को किसी दूसरी ओर भागने का युग नहीं बल्कि उन्ही बुराइयों से लड़कर उन्हें दूर करना है। पलायनवाद केवल स्वान्तः सुखाय हो सकता है सम्पूर्ण समाज अथवा राष्ट्र को सुख नही दे सकता। जो प्रत्यक्ष है वही मुख्य है और उसी से हमें टक्कर लेना है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दो में.........

१ जीवन जीने की वस्तु है उससे आँख मिलाकर खडा होना पुरुषत्व है न कि किसी काल्पनिक सुख की खोज में भाग जाना। जो कुछ सामने है वही प्रत्यक्ष है, वही सत्य है। अतः भौतिक जीवन की साधना जीवन मे मुख्य है। उसके अतिरिक्त अध्यात्म और परलोक कुछ नही वह केवल पलयानवाद के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

आज की साहित्यिक प्रवृत्तियो के पीछे की तद् सम्बन्धी प्रवृत्तियो में हमें एक स्पष्ट भिन्नता दिखाई पड़ती है। साहित्य पहले दर्पण के तौर पर था, समस्त प्रवृत्तियाँ उसमे खिच आती थी अपने में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव धारण करने वाली वस्तु होने के अतिरिक्त वह कुछ और है और जिसमें एक छिपा हुआ रहस्य निहित रहता है, जो सकेत करता है समाज को आगे बढ़ाने का हमारी अतीत स्मृतियां तो उसमे

१—नगेन्द्र—हिन्दी कविता की नवीनतम प्रवृत्तियाँ

सन्निहित है ही इसके अतिरिक्त हमारा भविष्य भी उसमे मुस्करा उठता है—समाज की एक रूप-रेखा प्रशस्त है, वह निखर उठती है। जैनेन्द्र के शब्दों मे "साहित्यकार वर्तमान से अधिक भविष्य मे रहता है। दुनिया को सुखी करने से अधिक, दुनिया का कल्याण चाहता है,। इसलिये दुनिया लाचार होती है पूजा करे-उसका भय माने। इसमें सन्देह नही कि साहित्यकार का कर्तव्य उस डाक्टर की भाँति है जो तीखी दवा होते हुए भी उसका उपयोग रोगी को करने के लिए बाध्य करता है, उस समय दवा तीखी अवश्य प्रतीत हो सकती है, परन्तु उसका काम बाद मे निश्चित रहता है। समाज की अशांति के ही कारण महान साहित्यकार तुलसी उसका आखेट बना उसे संस्कृति में रामायण न लिखने के लिये अनेक प्रकार की यातनाये दी गई, राम का वह वास्तविक रूप जो उसने जनता के समक्ष रखा वह तीखा था—क्यो कि उसमे सत्यता थी, उसमे युग नायक होने की शक्ति थी। राम राज्य की वह कल्पना कुछ आलोचको के शब्दों में नहीं थी वह एक तीखी दवा थी जिसे पीकर समाज की नसे सीधी तो अवश्य हुई परन्तु यथार्थ के कारण वह उसे असह्य प्रतीत हुई। भारत मे सदा से यही प्रथा का प्रतिपादन अन्य राष्ट्रो में होता आया है। ईसा को आज एक विशिष्ट वर्ग पूजता है, गान्धी को आज समस्त मानवता पूजती है परन्तु उनके जीवन काल मे उनकी उपयोगिता का विचार कितने लोगों ने किया था—सम्भवत यही कि उन्हें गोली से उड़ा दिया जाय। इन उदाहरणो से मेरा तात्पर्य यहाँ यही है कि समाज की एक प्रचलित गति, नवीन आई हुई विचारधारा को सहज में नही अपना सकती—चाहे वह धारा साहित्यिक हो अथवा राजनैतिक। आज का अधिकाश हिन्दी साहित्य वैयक्तिक है—अपनी भावनाओ को ही लेकर चला है, कवि आत्मानुभूति को वह आवरण नही दे सका है जिसमें लोक रंजन की भावना सन्निहित हो।

वह इसी धरती का है, धरती के गान उसे प्यारे है। यदि और अधिक नपे तुले शब्दो मे कहा जाय तो उसका उद्देश्य (जैसा ऊपर कह आए हैं) जीवन और साहित्य का सामजस्य है। उसे नये प्रकाश में, नई चेतना में, नये प्रभात मे रूढ़ियों से जर्जरसमाज मे ऐसी जागृति मिलती है, जिससे शक्ति का संचय हो सके। चली जाती हुई लकीर पर चलने की आदत आज के समाज में है, उसे मिटा कर कुछ अपना विचार, कुछ अपना दृष्टिकोण रखना है जिसका कुछ व्यापक अर्थ हो, एक सुलझी हुई व्याख्या हो। यह कह करके साहित्य को हम प्रोपेगेण्डा कहने के पक्ष में नहीं और सच्चा साहित्य प्रोपेगेण्डा हो भी नहीं सकता। किसी वर्ग (विशेष) के बारे से लिखने का तात्पर्य यह नहीं हुआ करता कि अमुक अमुक वाद उस वर्ग का प्रोपेगेण्डा कर रहा है। उस वर्ग के विषय मे लिखने का एक मात्र कारण

१—जैनेन्द्र के विचार मायको पृष्ठ १८

उसके प्रति उसकी (लेखक) सच्ची सहानुभूति है, सच्ची निष्ठा है–और यही निष्ठा कविता के प्रेरक शक्तियो मे से एक रही है। क्रौंच के वध पर वही निष्ठा, करुणा के सच्चे स्वरुप को देख कर अपने आप आदि कवि के मुख से निकली थी। वह विरागी थे उन्हें जीवन की रागात्यक प्रवृत्तियों से क्या काम ? परन्तु विरागी होते हुए भी वे मानव थे, सच्चे रूप मे कवि थे जिनके कोमल हृदय पर परिस्थितियो का आघातप्रतिघात अपना एक निश्चित रूप छोड़ता चलता था-इसका भी एक मात्र कारण था कि उनके मुख से क्रौंच की कारुणिक स्थिति देखकर अपने आप 'माँ निषाद ...., आदि शब्द निकल पडे। कहने का तात्पर्य यही कि अनुभूति ही कविता की सच्ची प्रेरक शक्ति है आज का कवि जो अपने प्रति, अपने समाज के प्रति ही ईमानदार है—उसे समाज की वास्तविकता के प्रति सहज विश्वास एवम् उसकी कारुणिक दशा के प्रति सहानुभूति है वही सहानुभूति अपने आप रोकने पर उमड़ पडती है। इसीलिये तो दिनकर कलम उठाते हैं, कविता लिखने के लिए परन्तु अन्तस्तल मे ज्वार उमड़ पडता है, भारत की दशा देख अपनी अन्य रागात्मक भावना को भूलकर भारत का अपनापन कवि के मस्तिष्क मे चिल्ला उठता है, कि मेरी दशा देखो। तभी तो—

कलम उठी कविता लिखने को,
अन्तस्तल में ज्वार उठा रे,
सहसा नाम पड़ा कायर का,
दक्षिण पवन पुकार उठा रे।
देखा शान्त कुँवर गढ़ है,
झाँसी की वह शान नही है,
दुर्गादास प्रताप बली का,
प्यारा राजस्थान नहीं है।[1]

"अधिकतर साहित्य दुनिया को मनोरंजन और विकास का सामान देते है। वह आत्मकेन्द्रित–साहित्य है। पद्य–साहित्य में लगभग ५० फीसदी ऐसा व्यक्तिगत साहित्य है— अर्थात् व्यसनशील साहित्य हल्के से नशे और भुलावे में डालने वाला साहित्य। इस प्रकार के साहित्य से लेखों का सम्बन्ध समाज की स्वीकृति का है।[2] समाज के हृदय की गहरी वेदना के साथ तादात्म्य पाने की चिन्ता उन्हे नहीं है। ऐसा साहित्य कब समाज के लिये लिखा जा सकता है लेखक, जो समाज को अच्छा लगता है केवल वही न लिखे, वस्तुत. बहुत सी ऐसी वस्तुएं जो समाज को ठीक न

१ दिनकर स्फुट गीत।
२ जैनेन्द्र के विचार पृष्ठ १९ माचवे

जँचे, बहुत सा ऐसा साहित्य है जो जनसाधारण के दृष्टिकोण मे ठीक, खरा न उतरे उसकी उपयोगिता इस आधार पर हमें नहीं आँक लेनी है—अपने एक व्याख्यान मे रूसी साहित्यकार मायाकोवास्की ने साहित्यकार के विषय मे कहा था[1] कि,

साहित्यकार के विषय में मायाकोवास्की का उदाहरण देने से मेरा तात्पर्य यह था कि किसकी व्याख्या कहाँ तक जन हित की ओर अग्रसित है, केवल एक विशेष ताना बाना वालो का वर्णन—एक विशेष आकृति ही साहित्यकार को साहित्यकार नही बना देती—उसके अन्तस्तल में कहाँ तक प्रचलित भावनाओं एवं धारणाओं का स्पष्टीकरण है और साथ ही साथ उसने किस सीमा तक उसे व्यक्त किया है—यही हमे एक सच्चे तथा जागरूक कलाकार की कृति मे देखना है। सौन्दर्य का उपासक होने के कारण है,—साहित्यकार सौन्दर्य को ही कण कण मे ढूँढने की चेष्टा करता है, जब तक उसकी प्राप्ति नही हो जाती तब तक उसे सन्तोष नही होता परन्तु उस सौन्दर्य का आधार तो कुछ होना ही चाहिए, उस सौन्दर्य का आधार है साम्य। साहित्य को समाज का व्यापक अंग समझा गया है इसीलिए उसमे जीवन की अनुभूतियाँ और चिन्तन का समावेश मिलता है। शोषित पीडित कृषक और जनतंत्र भी उसके अग हैं। अतएव प्रगतिवादी यदि अपनी रचनाओं में इसका उल्लेख करता है तो उचित ही करता है—

"अधिकार याचना की उग्रता, शोषण शासन परतंत्रता का ही भाव प्रगतिवादी के भाव हैं। मिल के मजदूरों की परिस्थिति संभालने के लिए और उनकी अभावगत समस्याओं को सुलझाने के लिए क्रान्ति का नियमित अर्थ अवगत कराने के अतिरिक्त एक ऐसे साहित्य की रचना हुई जिसको प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई। दमन से ऊबकर अपनी आवाज बुलन्द करने के लिए निम्न वर्ग को उत्तेजित करने के लिए प्रगतिवाद की आवश्यकता समझी गई। आंदोलन के लिए उत्साहित करना अपने अपने अधिकार माँगने के लिए युद्ध करना भी प्रवृत्तिया रूस की हैं।"[2] सचमुच यदि प्रगतिवाद का जैसा रूप उन्होंने समझ रखा है, वही है तो उसका यह अभाव खटकने योग्य ही है परन्तु वास्तव मे देखा जाय तो ऐसी स्थिति है नहीं। विद्वान लेखक ने प्रगतिवाद का एक ही पक्ष लिया है, कुछ कार्यो को गिना करके अंत में उन्होंने नाम ले लिया रूस का। भारतीयो के लिए रूस कोई हौवा नही

---

1. Why should I write about the love of Jack and not consider myself as a part of the social organism which is building life A poet is not he who goes about with Jell's hair and beats lyrical love theme. A poet is he who is an arena of sharpened class.

२ चित्ररेखा पृष्ठ २०९

होना चाहिए जो उसके नाम पर ही बिगड़ उठें। अधिकार के विरोध में अपनी आवाजें उठाना, निम्न वर्ग को उत्तेजित करना यह वास्तविक रूप मे प्रगतिवादी साहित्य की प्रवृत्तियाँ नही है बल्कि एक प्रोपेगेण्डा है। जिसका हम वर्णन ऊपर कर आए हैं। साहित्य किसी वर्ग विशेष को क्यो ले चले, और वह चलता ही कहाँ है—यदि अभाव की पूर्ति के लिए यह किसी विशेष को भी लेता (व्यापक रूपों में—ही) तो उससे आलोचकों को डाह क्यों ? प्रवृत्तियों पर किसी एक विशेष राष्ट्र की मुहर नहीं हुआ करती। परिस्थितियों और प्रवृत्तियो से बड़ा भारी साम्य है—वह परिस्थितियो के उत्पन्न होने पर एक सी हो जाती है। आज के साहित्यकार का कर्म इतना महान है कि वह अपने को भारत के या किसी अन्य क्षेत्र मे बाँधकर क्यों रखे—उसका दृष्टिकोण तो व्यापक ही होना चाहिए। एक मानवता का कवि अपने राष्ट्र और अपनी जाति का ही केवल हित नही सोचता वह समस्त राष्ट्र और अखिल मानवता का शुभचिन्तक होता है। उसकी कविता तो उस सुरसरिता की भाँति है जिसमें अवगाहन कर समस्त मानवता की तृप्ति होती है, फिर ऐसे स्टेज पर आ करके यह प्रश्न उठाना कि साहित्य की अमुक प्रवृत्ति तो भारतीय नही इसलिये इसका प्रचलन भारतीय साहित्य मे निषेध है, एक संकीर्णता का ही द्योतक है साथ-साथ एक अहमन्यता जिसका कोई ठोस आधार नही। साहित्य मे रूस, भारत, जर्मनी या कोई भी राष्ट्र हो सभी बराबर है, एक से हैं। इसका कारण है अमुक स्थान की यदि परिस्थितियाँ हमारे स्थान की परिस्थितियो से मिलती जुलती होंगी तो साहित्य मे भी उन्ही प्रवृत्तियो का वर्णन होगा। हमे उस साहित्य को एक विशिष्ट राष्ट्र का साहित्य कहकर छोड़ नही देना है। साहित्यकार का क्षेत्र रूस या भारत नहीं वह किसी विशेष राष्ट्र के मंगल की कामना नही करता, उसका क्षेत्र अखिल विश्व है और उसकी मंगल कामना सम्पूर्ण मानवता के लिए होती है—चाहे उस मानवता के अंतर्गत मजदूर हो अथवा पूँजीपति। यदि किसी भी तथ्य का वह आलोचक रहा है और नाश करने की चेष्टा करता रहा है तो वह तथ्य है दानवता, अमंगल उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ एक अशक्त व्यक्ति का रक्त चूसने वाली जोंक।

प्रगतिवादी एक उच्च भावनाओं का पोषक है इसके आधार पर यह कहा जा सकता है। इसलिए वह उच्च भावनाओं के सफल होने के लिए जो भी रुकावटें हैं, उसका विनाश करना चाहता है। प्रगतिवादी ने अपने साहित्य में जनमत को अपनाया है केवल व्यक्ति विशेष ही उसे नहीं अपना सकता। यदि झोपड़ियाँ और दलित वर्ग का ही गान उसमें प्रमुखता प्राप्त कर सका, तो वह यदि उसका चित्रण न करे तो उनके साथ अन्याय करना है। केवल प्रासादों का ही गान किसी साहित्य को पूर्ण नहीं कर सकता। साहित्य को तो समाज के सम्पूर्ण वर्ग पर प्रकाश डालना

है।[1] रूढ़िगत बातो पर तथा रूढिगत सिद्धान्तो पर उसका विश्वास नही, उसे वह एक परिवर्तन की दृष्टि से देखता है । संसार परिवर्तनशील तो अवश्य है और उसकी गति मे भावनाओं के घात प्रतिघात भी होते रहते है । इस विवर्त मे साहित्य-कार को सजग होना है । यदि पुरातन दृष्टि से एक विशाल शक्ति का अनुभव होता है वहीं साहित्यकार रूढ़ियो को अस्वीकार करके उसके स्थान पर व्यापक प्रकृति का भी दर्शन करता है । इस प्रकार से हम देखते है कि पुरातन और नवीन साहित्य में सामान्जस्य आवश्यक सा है । रहस्यमयी आवरण में वह यथार्थ रूप का दर्शन कराता है और उसी को समाज में भी देखने की चेष्टा करता है । आज का साहित्य मार्क्सवादी सिद्धान्तो से प्रभावित है । वह उसी आधार पर अपनी नीव उठाना चाहता है । इन मूल सिद्धान्तों का जिसका कि वर्णन या समिश्रण अपनी कविता मे पाते है मार्क्स के शब्दो मे Dialectical theory है । हीगल और मार्क्स के सिद्धान्तो मे भेद बताते हुए वह कहते है ।[2]

प्रत्येक नवीनता की धुन में आकर प्रगतिवादी कविताओं का आलम्बन भी सासारिक स्थलों को लेकर हो रहा है । प्रकृति के सूक्ष्म आलम्बन को बदल कर आज के कवि स्थूलता को ग्रहण कर रहे है । फूल, सुरभि तथा झझा आदि का रूप अब क्रन्दन विप्लव और दीन दुखियों की आहों ने ग्रहण कर लिया है । यथार्थ की अमिट छाप आज के साहित्य पर पड़ रही है । कवि अपनी बातों को सीधे रूप मे अपना रहा है । वह उस पर अपनी वैयक्तिकता की छाप न लगा कर तथा उसको किसी रूप मे न मोड़ कर सीधे ही कह देता है । यह उसके वास्तविक चित्रण की ओर ही संकेत है । कविता लिखने वाला कवि ही तो है, और वह इसी समाज मे रहता है । सामाजिक घात प्रतिघातो की प्रतिक्रिया उसके मस्तिष्क पर होती रहती है इस प्रकार से अपने अहम् को वह एक व्यापक रूप में बदल कर विस्तृत कर देता है । उसका यही समीकरण ही एक नवीन वस्तु को जन्म देता है । इस प्रकार से उसका वह अनुभव होता तो उसके द्वारा है परन्तु वह अपने अनुभव को समष्टि मे परिवर्तित कर देता है । उस कवि का अनुभव तो उसकी चिरन्तर प्रवृत्तियो के ही फलस्वरूप होता है । मनुष्य की मनोवृत्तियां अपरिवर्तनशील है, इसी अपरिवर्तनशील प्रवृत्तियो के नीचे संस्कार भी चला करते है जो समाज एवम् परिस्थितियो की अन्तर्वृत्तियो को

१—प्रगतिवाद—पृष्ठ २०९ से ० शिवचन्द्र ।

1. Let the literature hanker after cottages, think over the minute problems of life. The literature which thinks of our faccination, builds his basis on no views, is no literature.

2. Hegal's dialectic is the fundamental principle of all dialectic only at its meptical form has been sloughed off and this is precisely which distinguishes my method

पैंदा करते हैं कनुष्य की व्यापक अ तवृ त्तियो के कारण तो कबिता मे एक शाश्वत गुण पैंदा होता है इसीलिये तुलसी और सूर के राम और कृष्ण की लीलाएँ आज भी प्रेरणा देती है। राम का विलाप अब भी कारुणिक वातावरण पैंदा करता है, कुम्भकरण कायुद्ध अब भी वीरता की ओर संकेत करता है, परन्तु इन प्रवृत्तियों के नीचे मनुष्य का अहम् भी कार्य करता रहता है उसकी उस पर (बैयक्तिता पर) तद्-सम्बन्धी समाज और परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि अनजाने रूप मे एक ही समय में दो मस्तिष्क में वही भाव उदय होते है, जिसका निर्णय किया जाना असम्भव है और साथ ही साथ निरर्थक भी, किसके मस्तिष्क मे यह भाव पहिले उठा होगा। यदि एक उदाहरण लें तो अधिक स्पष्ट हो सकता है। एक विस्तृत प्रासाद जिसकी गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ देखने से बड़ी मनोरम प्रतीत हो रही है और ठीक उसी मे लगी हुई एक टूटी झोपड़ी जिसका छप्पर भी ठीक नही, कुछ गिरी हुई कुछ ठीक अवस्था मे—इन दोनो उदाहरणों पर दृष्टि पड़ती है एक तीसरे कलाकार की, वह सोचता है, उसके अन्तरंग को स्पर्श करता है—अन्ततोगत्वा वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि दोनों का आधार है सामाजिक पहलू उसकी कोमल भावनाओं पर जब परिस्थितियों का आघात होता है तो वह उद्यत हो जाता है एक क्रान्ति के लिये जो प्रासाद का थोड़ा सा अंश निकालकर उस झोपडी को दे दे क्यो कि दोनों के रहने वाले मानव है? दोनों कास्त्रष्टा एक ही है चाहे उसका जो भी रूप हो।

अत उस झोपड़ी को देखकर दया, करुणा आदि का संचार जो उस मस्तिष्क पर हुआ वह एक शाश्वत प्रवृत्ति के कारण, क्रान्ति की भावना हुई उस सामयिक स्थिति को देखकर। उस समाज को देखकर, जो अनैतिक अधिकारों का उपयोग कर किसी को कुछ विशेष वितरण कर रहा है किसी को कुछ। इसी सिद्धान्त को दृष्टि मे रखते हुये आधुनिक कविता की रचना हो रही है। संक्षेप में यह आधुनिक कविता की व्याख्या है और प्रतीकवाद, प्रयोगवाद और साहित्य के अतिवस्तुवाद से विमुख हो अनेक प्रतिभाशाली कवि और आलोचक अब स्वीकार कर रहे हैं कि कविता को आधुनिक वास्तविकता के प्रति एक सचेत, प्रगतिशील दृष्टिकोण व्यक्त करना चाहिए। ऐसा करके ही वह एक वर्गहीन समाज के लिए मनुष्यो के भाव जगत का संगठन कर सकता है।[1]

यही भावजगत मनुष्य का क्षेत्र है जिसमें उसकी समस्त चितवृत्तियाँ एकत्रित होकर कविता के रूप में स्पष्ट होती हैं। कवि का यही अह्म अब तक अलग अपनी ही अनुभूति में लिपटा हुआ प्रतीत होता था यही कारण था कि कवि का अस्तित्व साधारण अस्तित्व से दूर कुछ बोझिल कुछ अस्पष्ट दिखलाई पड़ता था—इधर की

१ कविता की आधुनिक शिवदत्त पृष्ठ १०५

कविता धारा मे हमे यह भिन्नता स्पष्ट दिखलाई पड़ती है । आज का कवि अपने उस अह्‌म को त्याग तो नही सका, (और त्याग देने पर उसकी अनुभूति भी समाप्त हो जाती) परन्तु उसके संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकल कर वह व्यापकता लिए है, उसकी यही व्यापकता उसे समाज से मिलाती है। समाज के सुख दुख मे वह अपना सुख दुख अनुभव करता है । इस प्रकार कविता अपनी गति से मनुष्य की वाह्य चेतना को तीव्र कर, उसे वातावरण के प्रत्यक्ष ज्ञान से सन्निकट कर, स्वचेतन को अन्तर्मुखी न बनाकर, हमारेहृदय को वास्तविकता के गह्वर मे उतर कर भावात्मक जगत को प्रत्यक्ष कर देती है—वह भावात्मक जगत, इन कवियो का अधिकतर सीमित ही रह जाता था । एक मजदूर की दुख भरी रात्रि के प्रति यदि उनकी भावात्मक प्रवृत्ति आकर्षित होती है तो बिखरे हुए कुन्तल राशि या उभरे हुये उरोजो की ओर भी आकर्षित हो सकती है—कुछ कवि रागात्मक प्रवृत्तियाँ कह कर इनको छोड देते हैं। मै मानता हू कि कविता में सर्वसाधारण का चित्र हो, समाज का यथार्थ वर्णन हो इसके साथ ही साथ वे वस्तुएँ जिन्हें मनुष्य के मानसिक विचार छोड ही नही सकते उनका त्याग आधुनिक कविता मे इस प्रकार से उचित नहीं है । साहित्यकार को चाहिए (और अन्य साहित्यकारों ने उसका वर्णन भी किया है) कि समाज के बर्बरतापूर्ण संकुचित वातावरण से हटकर अपने साहित्य मे सत्य की सृष्टि करें। चेखव की कहानी में नाद्या परिस्थितियों और सामाजिक वातावरण से ऊबकर बाहर निकल पड़ती है, वह बाहर आकर केवल अपनी आत्मानुभूति को ही शान्त कर बैठ नही जाती बल्कि प्रतिक्रिया स्वरूप क्रान्तकारी कार्यो मे भाग लेती है। इस प्रकार से लेखक त्रुटियो को दिखलाते हुए भी उनके प्रति उदार और संवेदनशील है, वह अपनी नायिकाओं से एक परिवर्तन भी कराता है केवल कल्पना के ही सहारे नही परन्तु एक निश्चित कार्यक्रम रखा कर । नायिकाओं को बाहर न निकाले वह उसी मे रहते हुए उसकी दशा मे परिवर्तन सुधार की कल्पना कर लेता जिसकी आवश्यकता है। यदि कवि समाज से दूर रखकर अथवा उस नायिका को सर्व साधारण की भाँति न रखकर उसमे कुछ ऐसी असाधारण प्रवृत्ति उत्पन्न कर देते है तो वह जन साधारण का चित्रण न होता साहित्यकार को साधारण मानव की गुत्थियों को सुलझाते हुए उनको प्रति संवेदनशील होना चाहिए । उन नायकों की यही प्रवृत्तियाँ जो अपने में परिवर्तन देखते हुए समाज को भी अपने कार्यों से प्रभावित कर सकेगी सचमुच प्रगतिशील साहित्य की रचना करने मे सहायक हो सकती है । इस प्रकार से साहित्य केवल भावनाओ का ही उदगार नही रह जायेगा – उसमे कवि का या साहित्यकार का वह संकीर्ण अह्‌म न बोल सकेगा जिसके विषय मे ऊपर कहा जा चुका है । इस प्रकार से साहित्यकार एक संदेश दे सकेगा अपने नायको के मुख से अपने समाज को, यही बढ़ी हुई अवस्था ही साहित्य को समाज से मिला देती है।[1]

रूसी उपन्यासकारो का उदाहरण देकर मैं उनका ही पक्षपात या उनके ही

१—कविता को आधुनिक सिंह चौहान पृष्ठ १०४

साहित्यादर्शों पर पूर्णरूप से विश्वास नहीं करता परन्तु ऐसे उदाहरण हमको यह अवश्य बता सकेंगे कि साहित्य का वास्तविक रूप क्या होगा जब उसमें सामाजिकता का स्वरूप अपना प्रमुख स्थान ले लेगा। नायक का कथन प्रायः ऐसा ही होना चाहिए जो अपनी समस्याओं में उलझा हुआ होकर भी एक ऐसा सन्देश दे सके जिसमे उस समय की परिस्थितियों के लिए हल मिल जाय।

धर्म तथा कर्तव्य पर यदि आधुनिक दृष्टिकोण से कुछ कहा जाय तो यही कि कवि धर्म आदि का स्वरूप एक विस्तृत दृष्टि से देखता है। उसकी दृष्टि में मानव का सबसे बड़ा धर्म मानवता है और उसके पश्चात् जो कुछ भी हो। पाप का सामाजिक दण्ड उसके लिए निराधार, क्योंकि समाज ने पापी को दण्ड कब दिया। जहाँ पर वैभव के बल से पाप पुण्य हो जाते है उस मस्तिष्कहीन समाज में इसका मूल्य हो ही क्या सकता है ? जब किसी वस्तु का मूल्य ही नहीं, उपयोगिता ही नहीं तो उसका प्रयोग क्या ? वास्तविक लाभ क्या ? इस समाज को ठीक ढाँचे में न ढले होने के कारण ही तो पाप और पुण्य का ठीक निर्णय नहीं हो पाता। प्रत्येक कार्य के पीछे हमें उसकी पृष्ठभूमि देखनी चाहिए, यदि उसकी मानसिक प्रवृत्ति से समाज के अधिकाँश प्राणियों की हानि होती हो तो उसका ऐसा सभी कार्य उचित नहीं है, पाप है। एक समाज की कुरीति दूसरे समाज की अच्छी रीति एवं प्रशंसा प्राप्त करने योग्य हो जाती है। अतएव पाप और पुण्य तो मानव के ही अपने अपने दृष्टिकोण का फल है, उसी की ही प्रतिक्रिया है। समाज के अधिकाश व्यक्ति जो कार्य करते है (चाहे वे ठीक हो या न हो) चाहे उनका नैतिक स्तर कुछ भी हो, प्रायः अच्छा समझा जाता है। यही पुण्य का स्तर है और ठीक उसके विपरीत अनैतिकता को अपनाने वाले, पापी कहे जाते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो अनैतिकता का आधार क्या है किसी भी कार्य को अनैतिक कहने का आधार क्या है, उसी को निश्चित करने वाला समाज है, समाज के इने गिने कुछ लोग हैं जिसका उस पर दायित्व है। अतएव नैतिकता एवं अनैतिकता केवल इन्हीं के मस्तिष्क की उपज है जिन्होंने अपनी पूँजी के बल पर समाज को हथिया लिया है।

इस प्रकार धर्म तथा कर्तव्य के ऊपर यदि प्रगतिवादी दृष्टिकोण से कुछकवियो ने कहा है तो यही कि वह धर्म आदि का स्वरूप विस्तृतरूप से देखता है। उसकी दृष्टि मे मानव का धर्म मानवता है और उसके बाद चाहे जो कुछ भी हो। पाप और पुण्य उसके लिए निरर्थक शब्द हैं क्योंकि समाज ने पापी और अपुण्यात्मा को दण्ड

धन हीन पुण्य को स्पर्श नहीं,
जब ईश्वर भी कर पाते हैं।
पापी महलों का अहंकार
तब देता मुझको आमन्त्रण ॥

इन्ही कुरीतियों की ओर उनकी दृष्टि गई है, इसीलिए वह सचमुच क्रान्ति चाहते है। समाज के जर्जर अभाव की पूर्ति न करके वह उसे नष्ट-भ्रष्ट ही कर देना चाहते है, उनकी यह भावना कहाँ तक उचित है यह तो एक दूसरा दृष्टिकोण और दूसरा विश्लेषण ही होगा उनके विचार मे समाज के जर्जर अंग जो रोग ग्रसित हैं उन पर मलहम लगाकर ठीक नही किया जा सकता। प्रगतिवादी उसे लेप द्वारा ठीक नही करना चाहता है।

साहित्य मे इन्ही विचारों को लेकर प्रगतिवाद आया। इसके पूर्व अनेक वाद-अनेक धारा मे अनेक विचारो को लिए हुए आये। सब अपने-अपने विचार मे महत्व-पूर्ण थे, इनमें सबका एक अपना दृष्टिकोण था। छायावाद काल मे साहित्यिक केवल अपने तक ही सीमित रहे। वे केवल एक ही दृष्टिकोण से देखते थे, उनका दृष्टिकोण एकांगी था, वह समाज मे दूर कविता को जगत से बाहर की वस्तु समझते थे। अतएव उनके विकास के नए रूप का नाम प्रगतिवाद पड़ा। वह युग की बीन पर अपनी एक विशिष्ट रागनी लेकर थिरक रहा है—इन कविताओ मे समाज का यथार्थ चित्रण है। समाज की यथार्थ भावना पर प्रकाश डालने के कारण उसमें वैयक्तिक भावना प्रमुख नही—उसका कवि अपने मे एक सामंजस्य लिए हुये है, समाज से पृथक उसका कोई अस्तित्व ही नही—यही समाजीकरण प्रगतिवादी कविताओं का मुख्य आधार है।

भौतिक जीवन के चित्रण के साथ ही साथ इधर का प्रगतिवादी, मानव की समस्त चेतनाओं पर भी प्रकाश डाल रहा है। इसका कारण है कि वह एकांगी नहीं भौतिक जीवन का चिन्तन ही उसे अपनी चिन्ता मे बाँध एकांगी कर रहा है। अतएव उसने सोचना शुरू किया जीवन की अनुभूतियों की ओर जो उसे प्रेरणा देती रही है। नरेन्द्र ने अपनी पुस्तक हंसमाला में एक स्थान पर संकेत किया है—

"मैंने अधिभौतिक के साथ ही साथ अधिनैतिकता का भी उल्लेख किया है यह केवल संयोगवश नहीं। मुझे आज भौतिक चित्रण एकांगी लगता है। हमें अपने जीवन दर्शन को भी अधिक मानवीय और व्यापक बनाना होगा जिसमे भौतिक प्रसार तथा चेतना की गहराइयां दोनों ही तत्व विद्यमान हों। जिसमें प्रतिपक्षी की ओर से नवीन के निर्माण के हित की तत्परता हो और परम्पराओ के समझने और अपनाने का सामर्थ्य और शक्ति भी। इस प्रकार केवल भौतिक-चिन्तन ही सचमुच एकांगी है और यदि दूसरी ओर देखा जाय तो रोमांस और रीतिकालीन अस्वस्थ्य शृंगारिकता के गाने गाना भी केवल एक अधूरी प्रवृत्ति का ही प्रदर्शन है। नरेन्द्र के इस सिद्धान्त का आश्रय लेकर आज के प्रगतिवादी को बढ़ना है तथा नरेन्द्र की हं उनके कथनानुसार सफल हो सकेगी

—बन जगत की नई आशा,
उड़ निराशा के गगन में हंसमाला तू निडर ।

कवि अपने साहित्य से यह संदेश देता चलता है कि हंसमाला निडर होकर चले, आशा का पुन. संचार करे । ऐसी ही आशा आज जीवन का सर्वस्व बन सकती है, साहस और गति ये ही दो तत्व है जो जीवन को आगे खीच सकते है । साहित्य का सच्चा उद्देश्य केवल समाज का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेना ही नहीं है, उसे तो उस प्रतिबिम्ब मे मानव की जहां स्वार्थ, पदलोलुप और घृणित प्रवृत्तियो की छाया पड़ रही है उसे धो देना है ।

साहित्यकार यह देखता है कि अमुक समाज में अमुक २ बुराइयाँ है, वह केवल उन बुराइयो को ही अपने साहित्य मे रूप नही देता वरन् उन बुराइयो के आधार की ओर संकेत करके यह भी बतलाता है कि इन्हे दूर करना आवश्यक है । आजका साहित्यक इसी व्यापक धर्म और व्यापक निष्ठा की ओर अग्रसित है । प्रभाकर माचवे ने इसी तथ्य का प्रतिपादन अपने "जैनेन्द्र के विचार" नामक पुस्तक-मे किया है—

"यदि साहित्य पहले दर्पण के तौर पर सामाजिक अवस्थाओ का अपने में बिम्ब प्रतिबिम्ब धारण करता था, तो अब वह कुछ ऐसी वस्तु है जो समाज को प्रतिबिम्बबित तो करे, पर कुछ चोट भी दे दे और इस भांति समाज को कुछ आगे बढाने का काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है । हमारी बीती ही अब उसमें नही है हमारे सकल्प और मनोरथ भी उसमें है । साहित्यकार वर्तमान से अधिक भविष्य मे रहता है ।" साहित्यकार का यही वास्तविक रूप है । समाज के साधारण वर्ग से ऊपर, साधारण बुद्धि से ऊपर एक निर्देशक की सी बुद्धि रखनेवाला ही एक स्वस्थ साहित्य का सर्जन कर सकेगा । माचवे के शब्दो मे ही यदि कहूँ कि "अधिकतर साहित्य दुनिया के व्यसन और विकास का सामान देते है", तो अधिक उपयुक्त होगा । यदि समाज आदर कर पाता है तो ऐसे ही साहित्यिकों का जो वास्तव मे समाज को प्रेरणा देता चलता है । समाज के खुशी और नाखुशी से उसे क्या ? वह तो उसका कल्याण चाहने वाला है । इस प्रकार का साहित्य जो जीवन से सामंजस्य रखते हुए भी उसके कल्याण के लिए सोचता हुआ चलेगा, वही शाश्वत और उपयोगी साहित्य है । यदि समाज इतना प्रगतिशील है जो उसके सन्देश को समझ सके तो इसमे कोई सन्देह नही कि उसे लाभ होगा परन्तु यदि वह रूढ़ि और परम्परा के बन्धन मे इतना अधिक जकड़ा हुआ है कि कोई भी सन्देश सुनने तक को उद्यत नही तो उसका कल्याण होना असम्भव है । इतना होते हुए भी एक ईमानदार साहित्यकार का फिर भी यह कर्तव्य होता है कि वह समाज से घृणा, स्पर्धा और अपमान पाते हुए भी उसे अमर संदेश देता रहे, किसी न किसी दिन चेतना आने पर समाज उसके सन्देश की महत्ता समझेगा ही, परन्तु वह सन्देश संकीर्णता लिए हुए न हो यदि उसके सन्देश में उसकी आत्मा का उत्तरोत्तर विकास है युग का है तो वह सन्देश अमर होगा

आदर्शवाद

यद्यपि आदर्शवाद की सर्वमान्य परिभाषा नहीं है फिर भी उसका स्वरूप जिसके सम्बन्ध मे प्राय. सभी लोगो की सम्मति एक सी है, वह चरम उत्कर्ष अथवा सीमा की ओर परिलक्षित है। अपनी परिस्थितियो से सघर्ष करता हुआ, ऊब जाने के पश्चात् मानव उस असतुष्ट परिस्थिति से ऊपर उठी हुई परिस्थिति चाहता है, और उन मनुष्यों के उद्देश्य से ऊँचा उठा हुआ उद्देश्य जिसके साथ उसे संघर्षरत रहना पडा है, उसका वही लक्ष्य आदर्श है। आदर्श प्राप्त करने का नहीं केवल सीमा के निश्चय कर देने का है, उसका सम्बन्ध एवं असंतुष्ट परिस्थिति अथवा अधूरी मनोकामनाओ से है परन्तु लक्ष्य इन सबसे दूर तृप्ति एवम् पूर्णता की ओर है। जहाँ आदर्श की प्राप्ति हुई वही वह आदर्श यथार्थ हो जाता है, जब तक उसकी रूपरेखा मन मे कल्पना या विचार के रूप में है तभी तक उसका स्वरूप आदर्श का है। जहाँ हमारे विचार को वह लक्ष्य प्राप्त हो गया उसी बिन्दु से फिर नवीन आदर्श की कल्पना एवम् रूपरेखा प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार से आदर्श का स्वरूप स्थापित करते हुए हम उस निष्कर्ष पर आते हैं कि अपनी वर्तमान परिस्थिति से ऊब करके अथवा उसमे अपूर्णता पा करके मानव एक पूर्णता की योजना करता है अतएव—

१. आदर्श में पूर्णता का भाव रहता है।

२. यथार्थ की कडुवाहट तथा उसके अभाव ही आदर्श को जन्म देते हैं।

३. मानव समाज की सभ्यता के साथ ही साथ तथा उसके विकास के साथ आदर्श के स्वरूप मे परिवर्तन हो गया। अतएव सभ्यता के विकास ने आदर्श के स्वरूप मे परिवर्तन ला दिया।

४. परिस्थितियो के अनुसार ही आदर्श की कल्पना की जाती है और इस प्रकार आदर्श के स्वरूप में परिवर्तन एक आवश्यक तथ्य है।

हिन्दी साहित्य मे आदर्श के इस स्वरूप का निर्वाह रामायण में हमे देखने को मिलता है। मानस मे भगवान राम के चरित्र में हम पूर्ण आदर्श की स्थापना पाते हैं। तुलसीदास के द्वारा राम के व्यक्तित्व में असाधारण रूप विधान तथा अलौकिकता का दर्शन हमे मिलता है। कवि के समय की परिस्थिति ऐसी हो चुकी थी जब पिता और पुत्र राज्य की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के रक्त के

प्यासे हो जाते थे। अतएव ऐसे अवसर पर तुलसी ने राम के चरित्र मे पिता की आज्ञा का पालन का आदर्श रख करके उस युग को एक नये रूप में मोड़ देने का प्रयास किया। उस समय की परिस्थिति में तो राज्य की प्राप्ति बहुत संघर्ष के बाद भी उचित समझी जाती थी। अतएव उस समय के अभाव में ही एक स्वरूप की कल्पना की और महात्मा तुलसी अपने उस आदर्श को प्रतिपादित करते हुए कह उठे—

"राजीव लोचन राम चले, तजि बाप को राज बटाउ की नाईं।

एक ओर उस समय की परिस्थिति में राज्य की प्राप्ति एक अलभ्य वस्तु समझी जाती थी जिसके लिए बड़े से बड़े नरसहार हो जाते थे और दूसरी ओर तुलसी का प्रतिपादित आदर्श राम से राज्य को इस प्रकार छुड़वा देता है जैसे एक पथिक पथ में आये हुए वृक्षो और पक्षियों को छोड चलता है। इस परिस्थिति में यथार्थ की कडुआहट से ऊब करके आदर्श का जन्म हुआ। मानस में दूसरा स्थल जिसमे आदर्श का सम्पूर्ण रूप विकसित हुआ है वह रामराज्य की कल्पना में है।

"मणि दीप राजहि भवन भ्राजहि देहरी विद्रम मढ़ी"।

कह करके तुलसी अपने स्वप्नों के आदर्श को ही मानस में एक साकार रूप दे गये हैं। यथार्थ की कडुआहट से ऊब कर ही तुलसी का कवि कह उठा होगा।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवस नरक अधिकारी॥

अतएव यह स्पष्ट हो गया कि यथार्थ की कडुआहट को झेलते-झेलते प्रतिभाशाली व्यक्ति एक ऐसी महान कल्पना करता है जिस कल्पना में उस यथार्थ का दुख न हो। चतुर्दिक एक आनन्द की ही व्याप्ति हो। तुलसी का राम - राज्य एक आदर्श की स्थापना करता है, जिसकी पृष्ठ भूमि में कवि के समय की राज्य व्यवस्था का अभाव ही रहा है।

बदलती हुई राज्य की परिस्थितियाँ, उसके आदर्श में भी परिवर्तन ला देती हैं। आदर्श का स्वरूप, उसकी मान्यताएँ इन्ही परिस्थितियो के साथ बदलती रहती हैं। हम रामायण और महाभारत नामक महाकाव्यों को लें इन महाकाव्यों में सम्पूर्ण युग की समस्याओं को सुलझाया गया है। वही महाकाव्य सफल महाकाव्य माना जाता है जिसमें मानवजीवन की समस्यायें अधिक से अधिक आ गई हो और वह सक्रिय होकर उन समस्याओं का निदान प्रस्तुत कर रहा हो। तुलसी का मानस उस समय की फैली हुई दुर्व्यवस्था-सदाचारी और अत्याचारी का संघर्ष, आर्य और द्रविड़ों की संस्कृति का समन्वय आर्यो के जीवन-यापन का एक आदर्श ढग इन सभी पर प्रकाश डालता है। 'मानस' मे राम और रावण दो विभिन्न संस्कृतियो के प्रतीक है। जिसमें एक सदाचारी है, बलवान है और अपनी शक्ति क सदुपयोग करता है और दूसरा भी शक्तिशाली है, सभी सुख उसे सुलभ हैं, साधनवान है परन्तु अपने व्यवहारों में वह   है अपनी शक्ति का दुरुपयोग

सन्तो को सताने मे करता है—सीता ऐसी सती साध्वी का हरण कर लाता है ऐसे दो भिन्न-भिन्न आचरण के व्यक्तियों का चित्रण है। इस प्रकार से मानस मे हम यही पाते हैं कि परिस्थितियों के यथार्थ रूप का चित्रण कर उस अराजकता को तुलसी ने मिटाने के लिए निदान प्रस्तुत किया है। इस प्रकार से एक राज्य की बदलती हुई प्रवृत्ति ने नए आदर्श को जन्म दिया है। हिन्दू राज्य समाप्त होने के पश्चात् मुगलो के शासन काल का प्रारम्भ हुआ। यह निर्विवाद है कि हिन्दू राज्य काल की समस्याओ तथा मुगलों के राज्य की समस्याओं में आधारभूत अन्तर था। उसी बदले हुए युग की तस्वीर एक ओर तो यथार्थ को जन्म देती है, और दूसरी ओर यथार्थ के आभावो से ग्रसित उस युग का प्रतिभाशाली चिन्तक अपने विचारों द्वारा नवीन सिद्धान्तो को जन्म देता है। उसका वही नवीन सिद्धान्त आदर्श बन कर हमारे समक्ष आ जाता है।

अब दूसरा प्रश्न रहा कि महाकाव्यों के अतिरिक्त खण्डकाव्यों मे आदर्श की स्थापना कहाँ तक सम्भव हो पाती है। महाकाव्य तो नायक के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है और कवि उस नायक के अखिल जीवन का वर्णन करता है और ऐसी परिस्थितियों में डाल देता है जिन परिस्थितियो में वह स्वयं (कवि) होकर जा रहा है। नायक का निर्माण, उसके चरित्र का गठन स्वयं कवि अपने आदर्शों के आधार पर ही करता है। इसीलिए यदि यह कहूँ तो अधिक सत्य है कि कवि स्वयं नायक होता है। नायक के आदर्श, उसकी विवेचना स्वयं कवि की आन्तरिक प्रवृत्तियो की विवेचना है। महाकाव्यों मे तो उसे फैला हुआ जीवन मिलता है और परिस्थितियों का गुम्फन, उसका उतार चढ़ाव, उन सभी को कवि अपने रूप में, अपने ढग में रखता हुआ उसका निदान प्रस्तुत करता है। खण्डकाव्यो के कवि को उतना विस्तृत मार्ग नही मिलता है। जीवन का केवल एक अंश, केवल सीमित परिस्थितियाँ, उस सीमा मे रह करके कवि एक निदान दे बैठता है। इस प्रकार से खण्डकाव्यो मे भी आदर्श का निर्वाह हो जाता है। कवि के मन की क्रिया के अनुसार ही वस्तुओं तथा परिस्थितियो का रूप बदलता हुआ दिखलाई पड़ता है। यह तो आदर्श का स्वरूप रहा जिसे भारतीयों ने अपनाया। यूरोप के दो आचार्यों ने भी इसका मूल्यॉकन किया प्लेटो और और अरस्टॉटिल ने। प्लेटो तो आदर्शवादी थे मानव जीवन को उन्होने निकट से देखा, परखा और उसका अध्ययन किया था। उस अध्ययन के आधार पर जो वे विषय बना पाये, वे आदर्श हो गए। इसके ठीक विपरीत अरस्तू ने यथार्थ का पल्ला पकड़ा।[1] इस प्रकार से ये दो धाराये भारत के अतिरिक्त पाश्चात्य देशो

---

1. Plato is an idealist his criticism is based on principles deduced from the study of the life of man. Aristotle is a realist, his criticism is based upon a consideration of the actual literary material which lay before him

Principles of Literary Cri by Worsfold.

में भी प्रचलित थी, और उनका स्वरूप भी ठीक इसी भाँति था। प्लेटो का आदर्शवाद बुद्धि पर बहुत कुछ आधारित था। उन्होंने पद पद पर कल्पना को अस्वीकार किया है, भावों का भी उनकी दृष्टि में कोई स्थान नहीं है। प्लेटो ने अपने आदर्श के सम्बन्ध में यही निश्चित किया कि जो तथ्य तर्क अथवा बुद्धि की कसौटी पर न आये वह ग्राह्य नहीं, काव्य का आधार ऐसा ही माना गया, कल्पनाओं को केवल वहीं तक प्लेटो ने स्थान दिया जहाँ तक वह बुद्धि के क्षेत्र में आ सके। अरस्तू प्लेटो से अधिक काव्य, सिद्धान्तों के प्रति उदार थे। उदार इस रूप में कि अरस्तू ने भावों की सत्यता को मान्यता तो दी पर प्रधान रूप से उनके समक्ष काव्यवस्तु का ही स्थान था। काल में probale truth संभव सत्य को उन्होने स्थान दिया परन्तु कोरी कल्पना जो सम्भव न हो सके आरस्तू के लिए काव्य में भी मान्य नहीं थी। हिन्दी के कवि बिहारी की कोरी कल्पनाएँ जो सम्भव न हो सके, नायिका का वह कल्पित स्वरूप जो श्वाँस के बाहर आने पर सात कदम आगे और श्वाँस के अन्दर जाने पर सात कदम पीछे चली जाती है[1], ऐसा वर्णन ऐसी अलौकिक और असम्भव रचनाएँ अरस्तू को मान्य नही रही। अरस्तू मे इस सिद्धान्त का प्रचार हुआ और काव्यकारों ने इसे अपनाया भी। उनका ध्यान Technique of poetry पर अधिक था। इस युग में औचित्य की चिन्ता कम होने लगी फलस्वरूप अश्लीलता का बोलबाला साहित्य मे बढ़ गया। सोलहवी शताब्दी का साहित्य अश्लील भावनाओं का ही साहित्य बन गया और वह इटली जो कि धार्मिक नेता बना बैठा था उसका साहित्य अश्लीलता से भर उठा।

इस प्रकार से आदर्श के रूप में यथार्थ का ही व्यग सन्निहित रहता है। काव्यकार अपनी अपनी परिस्थितिओं से ऊब कर जब एक नवनिर्माण करता है तभी पहिले उसकी कल्पनाओ मे आदर्श पलने लगता है फिर उसके आदर्श को एक प्रयोग का बल मिल जाता है।[2] संक्षेप में आदशे का यही स्वरूप है।

---

१. इत आवत चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरी सी रहैं, लगी उसासनु साथ॥

—बिहारी सतसई।

2. By meams of fancy we are able to understand things more lofty than those of common knowledge, and in them we recognize the idea itself as real. In Art fancy is the faculty o transforming idea into reality.

भक्ति के दार्शनिक स्त्रोत

भक्तिकाल के प्रचारको में रामानुज का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह बारहवीं शताब्दी के विचारक थे। इन्होंने विष्णु की उपासना का प्रचार किया और शंकर के अद्वैत का खण्डन किया। इन्होंने बतलाया कि मानव आत्मा पूर्ण रूप से ईश्वर का ही रूप नही है यद्यपि इन सभी के, उद्गम स्थान के रूप मे ईश्वर ही है, परन्तु आत्मा पूर्ण रूप से ईश्वर ही नही है। उसमें उसका प्रतिबिम्ब है अवश्य। आत्मा ईश्वर से ठीक उसी प्रकार से सम्बन्धित है जैसे आग चिनगारियों से। चिनगारी को आग का स्वरूप तो नहीं कहा जा सकता, उसे उसी से निकली हुई अवश्य कहा जा सकता है। उन्होने सगुण उपासना की ओर अधिक ध्यान दिया और उसका प्रचार करने में भी इनका हाथ रहा। निर्गुण की उपासना का प्रचार करके 'वे ईश्वर को दुरूह और अगम अगोचर नही बनाना चाहते थे'। जनता को ईश्वर की भक्ति तक ले जाने का वह पहिला आधार सगुणोपासना को ही समझते थे। अतएव जनता के मस्तिष्क पर जो ईश्वर की दुरूहता के प्रति एक प्रबल भावना बन गई थी उसे इन्होने उसी प्रकार दूर करने की चेष्टा की। सगुण के प्रचार को साधारण जनता के मध्य इन्होंने इसी लिए अपना लिया क्योकि निर्गुणियों की गुत्थियाँ तथा उसका दार्शनिक पहलू सभी के लिए उतना सुलभ नहीं हो सकता था जितना विद्वानों के लिए। अतएव रामानुज का यह कदम साधारणीकरण की ओर ही था, जिसके द्वारा साधारण लोग भी अगम अगोचर के स्वरूप को समझ तथा जान लें। भक्ति भावनाओं को किसी प्रकार भी जन साधारण में प्रचलित कर देना, यही उनका उद्देश्य था। युग को भक्ति की ओर मोड़ने में इनका श्री भाष्य भी बहुत अधिक सहायक रहा है।

रामानुज

केवल इस संसार को माया ही कहा इन्हें इसकी सत्यता पर विश्वास न था।[1] कहने का तात्पर्य यही कि रामानुज ने ही भाष्य की प्रथा का निर्माण किया। भाष्य का निर्माण करना भी उस युग की मान्यताओं तथा आवश्यकताओं के फलस्वरूप था। भौतिक ग्रन्थ तथा उनमे प्रतिपादित विचारों को सर्वसुलभ बनाने के लिए यह माध्यम ही अपनाया जा सकता था। रामानुज ने इस प्रकार से अपने विचारो का प्रचार तो किया ही और उपनिषद पर भी प्रकाश डाला। ये विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे और इसी पर उनका कुछ कार्य भी उपलब्ध है। उस समय वैष्णवो और शैवों का आपसी मत संघर्ष चल रहा था उस संघर्ष को अपनी मीमांसा के आधार पर एक वैज्ञानिक आधार दिया। इस दर्शन का निचोड़ आत्मा को ईश्वर से पृथक मानना नही था परन्तु उसके स्वरूप पर ही इन्होंने जोर दिया है। जैसा हम ऊपर कह आये है कि आत्मा ईश्वर से ही सम्बन्धित है परन्तु सम्बन्ध का तात्पर्य यह नही कि वह ईश्वर न का ही प्रतिरूप है। इन्होने ईश्वर को चित्त और अचित्त से विशिष्ट रूप मे माना है। आगे चल करके इनके अनुयायी दो मतो में विभक्त हो गए उनके मत का आधार केवल आत्मा की स्वतंत्रता का ही था। इस मत के अनुयायी भी उत्तर मे अधिकतर थे, और जो ईश्वर को सर्वसत्तामान आत्मा की सत्ता पर विश्वास करते थे। उनका प्रचार दक्षिण भारत मे अधिक रहा।

रामानुज के विषय मे लिखते हुए हम यह ऊपर संकेत कर आये है कि इन्होने शंकर का खण्डन किया। शंकर के विषय में भी यह स्पष्ट कर देना है कि रामानुज आत्मा को स्वतंत्र रूप से मानते थे, शंकर का इनमें यही मतभेद था। शंकर दक्षिण भारत के एक विद्वान थे। इन्होंने अद्वैत का प्रतिपादन किया।[2] जगत को ईश्वर

---

1. He (Shankar) worked out the Vedant Philosophy so as to make it more self consistent than it ever was before. Necessarily in the process certain points became elaborated which give form and character to his interpretation of those the most important is the emphatic declaration that Brahma is impersonal, the equally expressed declaration that the world is not only worthless as compared with Brahma, but it is very true illusion, maya and the position of an illusory personal God the lower Brahma. Brahma as the ruler of the world of Maya and the objects of thesistic worship.

—The Crown of Hinduism by Farquhar pp 244

2 Shankar was a Brahman of South India who acquired enormou b tting co ented upon many Vedic Texts and travelle

की छाया माना और वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् फिर साधक के मस्तिष्क मे इस संसार की उपयोगिता कुछ ज्ञात ही नहीं होती, इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जगत को ईश्वर की छाया मान कर इन्होने उपनिषद् के सिद्धान्तों का ही प्रचार किया। इनके सिद्धान्तों का आधार था उपनिषद परन्तु अपनी अनुमति और आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन भी किया। इनके मतानुसार अद्वैत एकेश्वरवाद का ही दूसरा नाम है। ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। तभी से इनके इन सिद्धान्तो का प्रचार होना प्रारम्भ हुआ। यद्यपि गुप्त काल से ही अपने इष्टदेव की पूजा का वर्णन मिलता है। इष्टदेव से तात्पर्य विष्णु और शिव इन दोनों में से किसी एक की पूजा, उपासना तथा आस्था रखने से है। ऐसे इष्टदेव पर विश्वास करने वाले उपासक केवल एक ही देव को प्रमुखता देते है और उन्ही को सर्वस्व मानकर केवल उन्ही की उपासना करते थे। इस समय तक आते - आते दोनो उपासको में बडी तनातनी चलने लगी और दोनो अपने ही मतों पर अडिग थे। शकर ने इस सम्बन्ध मे भी अपना मतभेद प्रकट किया केवल एक इष्टदेव को मानकर चलने पर इनका विरोध आधारित था। इन्होंने तो आपस में उसे दोनो मतावलम्बियों मे मतभेद के कारण वैमनस्य पैदा हो गया था उसकी तीव्र आलोचना की। कोई भी देववाद हमें पारस्परिक मतभेद अथवा वैमनस्य नही बताता। एक देवता पर विश्वास केवल यही संकेत करता है कि एक देवता पर विश्वास करो परन्तु जिस पर तुम्हारी आस्था है उस पर आस्था रखते हुए दूसरों की आस्था को धक्का मत दो। इस प्रकार से भक्तो के बीच जो आपसी मतभेद चल रहा था, वैमनस्य और स्पर्धा ने स्थान ले लिया था, इसका इन्होंने पूर्णरूप से खण्डन किया।[1] इनके विद्यार्थी अथवा

---

a short life of thirty two years He propounded a system of philosophy known as Adwaitya which believed in the absolute identity of the individual and Supreme being the manifoldness of the world being regarged only as an illusion which disappear with the acquisition of the true knowledge.

—Indian Civilization History of India by
Dr. Ishwari Prasad pp. 240

1. All worshippers of Vishnu he proclaimed of whatever occupations or tribe annurated by true devotion might share their needs and eat together. He threw down the walls of castes, devotion and called his followers the avadhut as or emancipated who have tried themselves of the bands of ancient prejudice.

m India
ter pp. 428

शिष्य सभी हो सकते थे। जाति, वर्ग भेद, तथा अन्य आर्थिक विषमताओं के रहते हुए भी इन्होने ईश्वरोपासक को एक ही दृष्टि से देखा। स्त्री पुरुष मे भी, भक्ति के क्षेत्र में इन्होने कोई अन्तर रखा ही नही। इस प्रकार से पुरातन काल से जो एक परम्परा चली आ रही थी, जागरुकना के एक झटके से उन्होंने उसका भी खण्डन कर दिया। कार्पेन्टर के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि इनकी शिष्य परम्परा मे सभी जाति तथा वर्ग के लोग थे। थीस्मइन मेडीवल इण्डिया मे वह एक स्थान पर सङ्केत भी करते है कि उनकी शिष्य मण्डली मे एक तो नाई था, दूसरा ब्राह्मण तीसरा चमड़े का कार्य करने वाला चौथा एक राजपूत और पाँचवीं एक महिला। उन्ही के शब्दों से यह स्पष्ट होता है—One was a barber another a Brahman, a third a despised lether worke a fourth a Rajput and fifth an woman इस प्रकार से इन्होने एक ऐसे सतमत की पुष्टि का उसे प्रतिपादित किया जिसका उद्देश्य जन-जन में जागरुकता और चेतना का प्रचार करना था। जाति-पाँति का बन्धन जो भारत को विशेषकर हिन्दू जाति को पँगु कर रहा था, आपसी मतभेद, ईश्वरोपासना को केन्द्र बनाकर एक सीमा मे बँधकर चलने की भावना मानव समाज मे प्रचलित हो गई थी सत होने के कारण इन्होने इन सभी का खण्डन किया खन्डन केवल सैद्धान्तिक रूप मे ही नही वरन् अपने शिष्य समुदाय से सभी को मिला कर तथा सभी वर्ग के लोगो को ज्ञान देकर एक परम्परा का इन्होने खण्डन ही नही किया वरन् एक मनोवृति को बढ़ावा भी दिया।

रामानन्द

धर्म के क्षेत्र मे रामानन्द ने आते आते ही एक नई चेतना ला दी। ये उत्तरी भारत के संत थे और चौदहवी शताब्दी में भक्ति के क्षेत्र मे उतरे। चौदहवीं सदी भक्ति के आन्दोलनों के लिए बहुत ही प्रसिद्ध रही है। रामानन्द के समक्ष हिन्दू धर्म को एक व्यापक रूप देने की एक समस्या थी,इसका कारण था इस्लाम धर्म का प्रचार और हिन्दू धर्म की प्रचलित रूढियाँ। इस्लाम का प्रचार किया जा रहा था और कुछ अंश तक उनके प्रचार में उन्हें सफलता भी मिल रही थी। इस्लाम मे सभी जातियो के लोग सम्मिलित हो सकते थे, उसे अपना सकते थे, उसके लिए कोई जाति बन्धन स्वरूप नहीं थी। इसी समय भूत-प्रेत पर भी विश्वास करने वालो का सूत्रपात हो चुका था। ऐसा समय संघर्ष का समय होता है जब सभी प्रचचित धर्मो को मान्यता मिल रही हो, तब रूढियो से मुक्त, युग की आवश्यकता के अनुरूप ही चलने वाला धर्म पनप तथा फैल सकता है। रामानन्द का पहिला प्रयास आपसी भेद-भाव को मिटाने का ही हुआ। वैष्णव धर्म में ऊँच-नीच का भेद-भाव प्रचलित था, उसी को हटाने में वे सक्रिय रहे। निम्न वर्ग के लोगो को मत्र भी देना वर्जित था, इन्होंने ऐसे लोगो को मत्र देना प्रारम्भ कर दिया और उन्हें अपना शिष्य बनाना शुरू किया। यदि यह कदम रामानन्द की द्वारा न उठाया जाता तो अन्य विदेशी धर्मों के समक्ष वैष्णव धर्म टिक न पाता इस प्रकार से भक्ति के क्षत्र में इन्होंने

का व्यवहार रखा। यद्यपि जीवन के क्षत्र में भेद-भाव का वही व्यवहार प्रचलित रहा परन्तु भक्ति के क्षेत्र में इस व्योहार को कम किया जाने लगा।

वे लोग जो अपने को धर्म गुरू कहते थे अथवा समझते थे, रामानन्द जी ने उन्हे भी उपदेश दिया। उस समय की परिस्थिति यह थी कि धर्म के नाम पर पाखण्ड तथा धूर्तता प्रचलित थी। अतएव हिन्दू धर्म की ओर से तथा उसके उपदेशको की ओर से आस्था हटने सी लगी थी। इन्होंने ऐसे लोगो से यह भी कहा कि वे कम से कम शिष्य अपने पास रखे कम से कम शिष्य रखने की ओर से यही मतलब था कि वे सभी के प्रति एक न्याय कर सके तथा धर्म की शिक्षा दीक्षा वे सभी को तत्परतापूर्वक दे सके--अतएव कम से कम शिष्य रखने की ओर उनका संदेश परिस्थितिजन्य तथा अनुकूल ही था। दूसरा कारण यह भी था कि ये लोग उन शिष्यो का निरीक्षण ठीक से नही कर पाते थे फल यह होता था ये शिष्य अपनी धार्मिक दीक्षा में अधूरे रहते थे और अपने गुरू के सिद्धान्त एवम् दृष्टिकोण को समाज तथा जनता के बीच ठीक से कह भी नही पाते थे। इस प्रकार से वे गुरू का सही प्रतिनिधित्व करने के योग्य ही नही रहते थे। कम से कम शिष्यों को रखने का यही उद्देश्य था कि सभी शिष्य अपने गुरू के व्यक्तित्व की छाप लेकर जाये। यह तभी सम्भव हो सकता था जबकि गुरू शिष्य दोनो ही जागरूक, कर्मठ एवम् योग्य हो। धर्म क्षेत्र में फैली हुई भ्रान्तियां तभी तो दूर की जा सकती थी जब उनका निराकरण करने वाला विद्वान भी उतना ही जागरूक एवम् चेतनशील हो। रामानन्द जी का यह कदम सराहनीय रहा।

इनका दूसरा सराहनीय कार्य था अपने सिद्धान्तो का हिन्दी मे प्रचार करना। उस समय प्रचार की आवशकता तो थी ही और ऐसी आवश्यकता थी जो जन-जन के कानो मे गूँज सकें, सभी भाषा भाषी समझ ले, भाषा दुरूहता उनके और धर्म-सिद्धान्तों के मध्य न आये। इसीलिए संस्कृत को हटाकर माध्यम के रूप मे हिन्दी को स्थान मिला। सम्भवतः रामानन्द इतने सफल धर्म-प्रचारक न हुए होते यदि उन्होंने उस युग की धमनियों मे बहने वाले रक्त का रंग एवम् गति पहिचान न ली होती। जनता के अभावों को जानकर ही जब सुधारक कुछ दे पाता है तो वह सफल होता है। रामानन्द जी के लिए भी यह बात सही उतरती है। इसलिए उन्होंने रामानुज के द्वारा प्रचार किए गए सिद्धान्तो में भी कुछ अन्तर किया। इस अन्तर का आधार भी परिस्थिति जन्य था। उनके सिद्धान्तो का प्रचार केवल गद्य के ही माध्यम से नहीं हुआ। पद्य साहित्य मे भी उन्ही के सिद्धान्तों से प्रभावित कवि आए--तुलसीदास और कबीरदास ऐसे कवि अपने विचारों की निधि हिन्दी जगत को उन्हीं के सिद्धान्तों का आधार लेकर दे गए है। कबीर ने निर्गुण उपासना की है अवश्य परन्तु उस काव्य मे वे लहर इस सुधारवादी की ही है। उनके काव्य मे स्वर तथा चेतना का निर्वाह इन्हीं की दीक्षा क स्पष्ट दिखलाई

पड़ता है। रामानन्द ने इन्ही सिद्धान्तो का प्रचार किया, जो कबीर के स्वर में भी स्पष्ट मिलता है। जाति - पाँति का खण्डन, जीवन की सत्यता पर अधिक जोर देना, बाहरी और दिखावटी कार्यो का खण्डन गुरू की महत्ता एवम् उनका गौरव—ये सभी तथ्य रामानन्द जी के ही है जो कबीर के काव्य में मिलते है। इसके अतिरिक्त कबीर ने एकेश्वरवाद का भी प्रतिपादन किया। हम ऊपर संकेत कर चुके है कि उस समय के बहुत से ऐसे कार्य हैं जो परिस्थिति और आवश्यकताजन्य है विभिन्न मतो के मानने वालो मे वैमस्य की धारणा थी, शैव, वैष्णव, राम तथा कृष्ण भक्त भी एक दूसरे का विरोध कर रहे थे—विरोध न भी सही तो वैमस्य तो था ही। आवश्यक यह समझा गया कि ऐसे मत की पुष्टि की जाय जिसके नीचे एक स्वर हो, एक धारणा हो, एकेश्वरवाद इसी रूप में आया। जाति - पाँति का भेदभाव उन्होने नही माना इसके अतिरिक्त 'हरि को भजै सो हरि का होइ' कह कर सभी के लिए उपासना का मार्ग खोल दिया। ईश्वर के हाथ इतने लम्बे दिखलाये गये कि सभी उसके भुजपाशों मे आ सकते है—वह छूत - छात, जाति - कुजाति से दूर है। तुर्क और अन्य जातियो की ओर भी यह संकेत था। कबीर ने तो हिन्दू और मुसलमान दोनो के लिये एक ही मार्ग और एक ही पथ बतलाया। उन मिट्टी के बने हुए बर्तनो मे ईश्वर की किरणो का ही प्रकाश है। उन्होने मूर्ति पूजा और गगा स्नान की भी कोई धार्मिक उपयोगिता नही माना है।[1]

कबीर के अतिरिक्त तुलसी भी अपने एक स्वस्थ दर्शन को लेकर जनता के समक्ष आये। रामानन्द ने अपने सिद्धान्तो का यदि हिन्दी मे प्रचार किया था तो तुलसी ने भी इसीके अन्तर्गत रामगाथा गा कर जनता को जनता की ही भाषा मे सुना दिया। तुलसी के इस विचार का उस समय के समाज ने विरोध भी किया परन्तु रामकथा, आदर्शो और भक्ति के सिद्धान्तो को, सर्वजन सुलभ बनाने का यह प्रयास तुलसी को रामानन्द के द्वारा ही मिला होगा। भक्ति के क्षेत्र मे जाति-पाँति मे समानता तुलसी ने भी स्थापित की है।[2] 'हरि को भजे सो हरि का होई' लिख

---

1. Of what avail is the worship of stone and bathing in the Ganges, if the heart is not pure. Of what avail is the pilgrimage to Mecca, if the pilgrim marches to the Kaba with a decietful and impious heart. Men all saved by faith and not by works, None can understand the mind of God. Put your trust in him and let him do what seemeth him good. Kabir reproached Brahmans and Muslims alike for their barren disputes and asked them to give up their petty pride.

—Society & culture in medeival India
by Dr. Iswari Prasad

२ राम का शबरी के बेर खाना निषाद को सम्मान देना आदि ऐसे स्थल तुलसी ने भी व्यक्त किया है जिसमे जाति-पाँति मे भेदभाव का खण्डन है

कर इसी की ओर उनका सकेत है कि भक्ति के क्षेत्र में सभी समान हैं। भक्ति के द्वारा जो भक्त साधारण जनता के ऊपर उठ जाता है फिर उसमे और अन्य भक्तो मे अन्तर कैसा ? अतएव भक्ति के क्षेत्र मे जाति - पाँति का बन्धन ढीला कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त राम और सीता के कथानक के माध्यम से उन्होने उस युग की क्या आज की भी बहुत सी समस्याओं को सुलझा दिया है। राज्य के प्रति वैराग्य 'तजि बाप को राज बटाऊ की नाई।' साधारण सी उक्ति नहीं है। एक आदर्श और सदेश इसके पीछे निहित है। वैराग्य का साधारण जीवन से समन्वय इसी स्थल पर है। तुलसी ने रामानन्दी धार्मिक सिद्धान्तो को काव्य मे ढाल कर उन्हें जनता के समक्ष लाने का सफल प्रयास किया है। वह प्रयास केवल आदर्शोन्मुख हो, ऐसी बात भी नही जनता के मध्य उसे प्रचलित एवम् मान्य भी बताया गया है। हिन्दी मे लिखे होने के नाते जनता अपने आदर्शो को इनके महाकाव्य मे ढूढने लगी और उसने बहुत कुछ प्राप्त भी किया।[1]

वल्लभाचार्य

भक्ति के क्षेत्र में रामानन्द के विचारो के पश्चात् हम वल्लभाचार्य द्वारा निर्मित वल्लभ सम्प्रदाय को लेगें। राम भक्ति शाखा का अब तक खूब प्रचार हो चुका था। रामोपासक धर्म प्रवर्तक राम के अन्दर ही रूप, गुण, शील और आदर्श की स्थापना किये हुए थे। उनके आदर्शों की जनता के समक्ष रख करके वे यही बतलाना चाहते थे कि युग का कल्याण इन्ही आदर्शो की उपासना करने से है। राम की भक्ति के पीछे शील और मर्यादा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। उनके आदर्शो का मूलाधार तो शील और मर्यादा पर ही आधारित रहा है परन्तु युग के अनुसार उसे निर्वाह करने की परम्परा में परिवर्तन होता गया है, यही कारण है कि वाल्मीकि और तुलसी के वर्णन में अन्तर प्रस्तुत होता गया है वह अन्तर मौलिक धारणाओ एवम् आस्था का तो है ही इसके अतिरिक्त उस समय की प्रचलित मान्यताओं का तथा परम्परा के निर्वाह का भी।

जिस प्रकार से रामानन्द राम की उपासना पर अधिक बल दे रहे थे उसी प्रकार वल्लभ ने कृष्ण की उपासना पर अधिक बल दिया। दोनो की उपासना के विचारो में अन्तर अवश्य था, एक ने शील और मर्यादा को आदर्श बनाया दूसरे ने

---

1 One of the greatest reformers and one of the greatest poets that India has ever produced to the present writers he is in both charcters the greatest. He desdained to found a church and contended himself with telling his fellow men how to work out each his own salvation amongst his own kith and kin.

Sir George Grierson

Imperial Gaz. II p 418

लीला और रास को, यौवन और शक्ति के साथ ही साथ रूप, लावण्य और रास लीला को। वल्लभ दक्षिण के तेलंगाना के ब्राह्मण थे। इन्होंने एक भक्त की सत्ता को ईश्वर की सत्ता के अतिरिक्त कुछ माना ही नहीं है। अपनी सारी वस्तुओं को कृष्णार्पण कर देना ही इनकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य रहा है।१ कृष्णार्पण का सिद्धान्त ही उनका अपना सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त के पीछे उनकी अपनी यह धारणा थी कि यदि मनुष्य जो कुछ करता है यह समझ कर करने लगे कि वह अपने सभी कार्य चाहे वे जैसे भी हों सभी को कृष्ण (पारमार्थिक सत्ता) को समर्पण करता है तो उन सभी कार्यों के पीछे राग, द्वेष, आकर्षण, विकर्षण आदि की भावनाओं से परे हो जायेगा। वल्लभ का यही संदेश था कि सभी कार्यो को मानव तटस्थ रह करके करे, कार्यों के पीछे राग की भावना अथवा लिप्त रहने की भावना न रहे। इस प्रकार से निर्लिप्त रह करके कार्य करने की ओर उनका संदेश था निर्गुणियाँ कबीर की भाँति वल्लभ ने भी तटस्थ रहने की ओर संकेत किया है। कबीर यदि एक ओर 'कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुआठी हाथ, जो घर फूँके आपना चले हमारे साथ।' कह उठते हैं तो दूसरी ओर वल्लभ का कृष्णार्पण भी इसी की ओर—घर फूँकने की ओर—ही संकेत कर रहा है। साराश यह रहा कि कृष्णार्पण के पीछे व्यष्टि नहीं परन्तु समष्टि के हित की ओर संकेत है। 'मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर' की भाँति अपनेपन की तिलाञ्जलि ही सर्वश्रेष्ठ है। और जब कवि में अपनेपन का मोह समाप्त हो गया तो वह व्यक्ति के हित से ऊपर उठकर समष्टि के हित तक स्वयं आ गया। भक्ति के क्षेत्र मे यह सिद्धान्त अद्वितीय था परन्तु अधिक दिनों तक यह चल नही सका—इसके पश्चात् इनके इस सिद्धान्त को प्रचलित करने के लिए कोई उत्तम, सशक्त तथा तार्किक प्रचारक रहा नहीं। उनके पश्चात् उत्तराधिकार का भार आया उनके पुत्र विश्वनाथ जी पर—इनके अनुयायी उतने पटु और अपने प्रति उतने विश्वासी नही रहे, फलत: वल्लभाचार्यजी के पश्चात् उनका धर्म-संदेश उतना सशक्त नहीं हो पाया।

वल्लभ ने अपने विशिष्ट दर्शन एवम् सम्प्रदाय के द्वारा अपने युग की धार्मिक समस्या को जिसमें विशेष कर सगुण और निर्गुण का झगड़ा था, हल करना चाहा ईश्वरोपासना के दो रूप—सगुण और निर्गुण तथा दूसरा शैव तथा वैष्णव का झगड़ा चल रहा था। वल्लभ क्या इस समय के सभी प्रचारक अपने तर्क के द्वारा इसे दूर

---

1 He asked his followers to offer everything in the service of Lord Krishna. The formula of dedication which every disciple had to utter meant that everything was to be dedicated to Krishna.

–Society and Culture
Med. India pp 480
Dr Pd.

करने में संलग्न रहे। वल्लभ ने दोनों को दो रूप बता कर इस विवाद को समाप्त करना चाहा, इन्होंने भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति का बन्धन स्वीकार नहीं किया है जहाँ तक लौकिक जीवन का पक्ष है वहाँ तो ये जाति पाँत को समूल नष्ट नहीं कर पाये वस्तु भक्ति के क्षेत्र मे भक्ति की ही प्रधानता मानी, जाति का बन्धन गौण रूप से। जात-पाँत के अतिरिक्त स्त्रियों की समस्या भी उस समय जटिल थी। स्त्रियाँ भक्ति की अधिकारी नही मानी जाती थी, इस सम्प्रदाय ने भक्ति के क्षेत्र में उन्हे भी वही स्थान दिया जो पुरुषो को। गोपियाँ, राधा आदि का रूप कृष्णभक्ति में अपना एक विशिष्ट महत्व एवम् स्थान रखता है। इस प्रकार से भक्ति की वह दुरूहता तथा हठयोग का वह हठीलापन जो भक्ति मार्ग में एक जटिल रूप लेकर आ गया था, लीला का निर्माण कराके तथा गोपियाँ एवम् राधा को कृष्ण की विशेष अनुरक्त भक्त बना कर भक्ति की वह दुरूहता इनके द्वारा समाप्त कर दी गई। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र मे एक नवीन अध्याय इनके द्वारा जोड़ दिया गया।

वल्लभाचार्य की मृत्यु के पश्चात् जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं उनका यह सम्प्रदाय ढीला पड़ने लगा। विट्ठलदास के अनुयायी अष्टछाप के नाम से जाने गए, अष्टछाप का तात्पर्य आठ सीलों से होता है। इनके सिद्धान्तो के आठ प्रमुख प्रचारक थे। वल्लभ जी ने जो सिद्धान्त तथा दर्शन स्थापित कर दिया था कवि उन्ही को गाकर जनता के मध्य उनका प्रचार किया करते थे। इन आठ प्रमुख प्रचारकों मे सूरदास जी का प्रचार उल्लेखनीय है। सूरदास जी व्रजभाषा के माध्यम से अपनी भक्ति-भावना का प्रचार किया करते थे। सूर ने राधा और कृष्ण दोनों की समान रूप से उपासना की। राधा और कृष्ण को क्रमशः प्रकृति और पुरुष के रूप में वे जनता के मध्य लीला के माध्यम से लाने में सफल हुए। दूसरे विवाद ग्रस्त विषय को भी सूरदास जी ने बड़ी मार्मिकता के साथ स्पर्श किया है। निर्गुण और सगुण का विवाद उस युग के प्रमुख विवादों में से था। सगुण का दार्शनिक पहलू जो हो परन्तु सूरदास जी ने उसे 'सब विधि सुगम' समझ कर अपना लिया। कृष्ण को इन्होंने भी युग-नायक के रूप में लिया, उनके अन्दर प्रतिभा और शक्ति की स्थापना करके इन्होने उनकी उपासना का भी तर्कपूर्ण समर्थन किया है। लीला के पदों की रचना करके ये स्वयं तो उसे गाते ही थे इसके अतिरिक्त इनके शिष्य भी उसे सस्वर गाते फिरते थे, इस प्रकार साधारण जनता में सगुणोपासना का प्रचार करके तथा निर्गुण को नीरस तथा उतना सर्वजन सुलभ न बता करके सगुण के पक्ष को बल कर दिया। कृष्ण की बाल लीला पर इन्होंने अधिक जोर दिया था। सम्भवतः रूप इन्हें अधिक प्रिय था। बाल रूप में ही समस्त विकासशील शक्तियो का निवास मान लिया गया है। सत्, चित और आनन्द की स्थापना सूर ने बालकृष्ण में ही कर दिया है। स्थापना का तात्पर्य यही कि ये तीनों तथ्य उनमें बीज रूप से विद्यमान रहे हैं जो समय पाकर उनके व्यक्तित्व का अंग बन करके फले फूले हैं सूर

ने भक्ति के क्षेत्र मे गोपिकाओं को प्रमुख स्थान दे करके स्त्रियो की भक्ति समस्या का निदान तो किया ही दूसरी ओर उन्हे शक्ति का प्रतिरूप भी मानकर एक इकाई और जोड दी है।

अन्त तक आते-आते वह सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हो गया एक ओर कृष्णोपासना और दूसरी ओर राधा की उपासना करने वाले लोग हो गए। यहीं पर आ करके पुरुष और प्रकृति की समन्वयवादी भक्ति-पद्धति की यह शृ खला झनझना कर टूट गई जिसकी लड़कियो को जोड़ने में वल्लभ का हाथ रहा है और अष्टछाप के सभी कवियों ने इसी भक्ति-पद्धति की समन्वयवादी पद्धतियों में अपने-अपने तर्क की गाँठ मजबूत की थी। इसी समय 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' भी लिखी गई और राधावल्लभ- सम्प्रदाय की नीव दी गई। हरिवंश के द्वारा प्रकृति को ही प्रधान रूप देकर वे राधा सम्प्रदाय के अनुयायी प्रकृति के द्वारा पुरुष तक आना श्रेयस्कर मानते थे। इस प्रकार से वल्लभ सम्प्रदाय में भी दो दल हो गए। भिन्नता का आधार था विचारो की विषमता—पुरुष और प्रकृति को एक सूत्र में बाँध कर न पूजना परन्तु दोनों को विभिन्न रूप से देखना था। पुरुष की प्राप्ति प्रकृति की उपासना के पश्चात हो सकती है, यही उनका सिद्धान्त था।

इस प्रकार से भक्ति काल के प्रमुख विचारकों के सिद्धान्तों एवम् मान्यताओ का चित्रण करने का यहाँ यही उद्देश्य रहा कि इन्ही की चिन्ताधारा को लेकर भक्ति-कालीन कवि अग्रसित हुए। कबीर, तुलसी तथा सूर के स्वर के पीछे इन्ही विचारकों की ही अनुभूतियाँ एवम् वाणी का सबल आधार बोल रहा है जिससे उस समय हिन्दू समाज को शाश्वत प्रेरणा मिली और आज भी आपत्ति एवम् अभाव के क्षणों मे उद्विग्न मानव इन्ही सन्देशो को दुहराकर एक नवीन स्फूर्ति, चेतना तथा प्राण प्राप्त कर लेता है।

दिनकर का व्यक्तित्व और उनका काव्य

दिनकर का व्यक्तित्व उस अंगार की भाँति है जिस पर इन्द्र धनुष खेल रहे हैं उन्होंने यौवन की शीतल छाया के नीचे विश्राम भी किया है, उद्वेगपूर्ण गीत भी गाये है, और यही व्यक्ति का उद्रेक समष्टि में क्राँन्ति बन गया। यदि एक ओर वह दार्शनिक हैं तो दूसरी ओर शान्तिनयी सेना के सेनानायक। समय की शिला से टकरा कर उनमे एक जागरुकता आ गई है। यदि 'रसवन्ती' में वे यौवन के उद्दाम वेग को रोक नही पाये हैं तो 'हुँकार' मे यथार्थ मे देश को जगाने के लिए एक हुँकार है, पुकार है जो इतती सबल है कि सुप्त प्राणियों को भी जगा सके। आज के युग के कृषको के आर्तनाद और क्रन्दन को ये पूर्ण रूप से सुन सके है। इसको सुनकर वे उसे दबा नही सके, वे उद्विग्न होकर पूँछ उठे—

पूँछे सिकता कण से हिमपति,
तेरा वह राजस्थान कहाँ,
बन - बन स्वतन्त्रता दीप लिए
फिरने वाला बलवान कहाँ ॥

अतीत भारत के प्रति भी कवि अधिक सहानुभूति दिखलाता है। उसका प्रत्येक रोम - रोम अपने देश का है और वह अपने देश पर ही मुग्ध है उसकी यह दशा देख कर उसके मुख से हठात निकल ही जाता है—

ओरी ! उदास गण्डकी बता,
तू विद्यापति के गान कहाँ।
वैशाली के भग्नावशेष तू बोल।
लिच्छवी शान कहाँ ॥

कवि लिच्छवी शान तथा विद्या पति के गान को एक बार फिर से सुनना चाहता है। ऐसी सुन्दर तथा गौरवपूर्ण वस्तुओ के प्रति वह अपनी आस्था त्याग नहीं पाया है।

कवि ज्यों - ज्यों प्रौढ़ता को प्राप्त होता जा रहा है त्यो-त्यों वह कल्पना के क्षत्र से हटता जा रहा है।

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अब समष्टि की ओर चलता है और उनकी भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता का विकास हो रहा है। वाह्य सौन्दर्य में से वे इतना अधिक नहीं रीझ सके हैं जितना कि आन्तरिक सौन्दर्य उन्हें रिझा सका है।

अपनी कविताओं के मूलभाव मे सौन्दर्याङ्कन करते समय सौन्दर्य की अवहेलना उनके द्वारा नहीं की गई है।

वे क्षयी कल्पना से खेले अवश्य हैं परन्तु उसका आलिंगन नहीं कर सके, वे उसके निकट होते हुए भी अपना सामञ्जस्य उससे नहीं कर सके। सुन्दरता (भौतिक) को तो वे शाप कहते हैं :—

सुन्दरता पर कभी न भूलो
शाप बनेगी वह जीवन में।
लक्ष्य विमुख कर भटकायेगी,
तुम्हें व्यर्थ फूलों के बन में॥

अतः कवि ने सुन्दरता का स्थान अपने जीवन मे विशिष्ट रूप का रक्खा है वह केवल स्वप्नों से न खेल कर यथार्थ का भी अनुभव करते है। 'मिट्टी की ओर' नामक पुस्तक मे उनका स्वयं का दृष्टिकोण कुछ ऐसा ही है। सौन्दर्य के प्रति उनका आकर्षण तो अवश्य है, (क्योंकि वह स्वाभाविक है) परन्तु सौन्दर्य उनके कर्तव्यो को भी आच्छादित नही कर लेता। सौन्दर्य के साथ ही साथ वह असुन्दर जगत की ओर भी ध्यान रखते है। उनके अपने शब्द हैं—

"सौन्दर्य सृष्टि के लिये कला को ऐसी कल्पना की आवश्यकता है जो उन्मुक्त हो जिस पर विधि या निषेध के कठिन बन्धन नही हो। कल्पना की यह रोमांटिक धारा अपने नियमो का अनुगमन करना चाहती है। उसे बाहर के अनुशासन या दमन सह्य नही है। उपमा की नपी तुली रस्सी उसे बाँध नही सकती। यमक की कोरी मधुरता उसे रिझा नहीं सकती।"[1]

कवि की दृष्टि में, यमक आदि की मधुरता ही काव्य में जीवन नही ला सकती। सजीवता लाने के लिये तो कवि की आन्तरिक अनुभूति है जो उसे अन्त-स्तल को भेद कर निकली।

ऐसी ही भावना कवि के गीतों में आ, गीतों को चमत्कृत कर देती है। दिनकर के 'हाहाकार' अथवा 'रेणुका' मे ऐसी ही गीतों की प्रधानता है। अतएव वे इस स्थल पर सफल कवि माने जा सकते हैं। उनकी कविता का प्रत्येक शब्द बोलता है। चित्रों मे सजीवता और प्राकृतिक तथ्य का निरूपण बहुत अधिक मात्रा में हो पाया है। अतएव ऐसे ही स्थल काव्य मे देखे जाते हैं जहाँ कवि की मौलिकता का यथार्थ रूप से संतुलन किया जाता है। वह पूर्ण रूप से भावना से ओत-प्रोत कवि हैं जहाँ कही भी अथवा जिसके प्रति भी उनकी जो भावना हृदय मे बसी हैं।' उसे वह उसी रूप में व्यक्त कर पाये है, उसे वह दबा अथवा छिपा नही सके हैं। कवि की समस्त कृतियों मे यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन्हीं मनोवृत्तियो के अनुसार अथवा युग के अनुसार इनकी भावनाओ में अन्तर दिखलाई पडा। मनोवृत्तियो की दृष्टि से इन

१ मिट्टी की ओर पृष्ठ ४८

की कवितायें तीन भाग मे विभाजित की जा सकती हैं। पहली वे प्रारम्भिक रचनायें जो अधिकाश कल्पना प्रधान हैं और जिसमें कवि का भावुक हृदय बोल रहा है। दूसरे भाग में इनकी दार्शनिक रचनाएँ आ सकती हैं–इनका दार्शनिक पक्ष भी बड़ा मौलिक है। अन्त मे उनके राष्ट्रीय गीतो को एक पृथक स्थान दिया जा सकता है। इसी के अन्तर्गत हम इनके सामाजिक गीतों को भी ले सकते हैं जिसमे समाज के स्तम्भ कृषक मजदूर क्या अन्य दलितवर्ग के लोगो का चित्रण हुआ है। इसका सामाजिक पक्ष तो यहाँ गीतो मे बिखरा हुआ मिलता है। कवि का भावुक मन जो कि समाज की दुर्व्यवस्था से ही घायाल हो गया है, इन गीतो मे एक पुकार करता हुआ दिखलाई देता है। यथार्थ मे कवि द्वारा सामाजिक चित्रण बडी ही सुन्दर रीति से हो पाया है। वह यथार्थ की भूमि पर खडा है—वही से वह कृषको का रुदन तथा मजदूरो की क्षीण दशा को देख रहा है। एक ओर तो वह इन विभीषिकाओ को देखता है, दूसरी ओर वैभव की प्रतीक अट्टालिकायें, उनमें मदिरा का उल्लास तथा दानवता का नगा नृत्य। कवि इन्ही भावो मे डूबता उतराता आगे बढ़ता है। उनके ऐसे समाज के प्रति किसी की क्या भावना हो सकती है, तथा इस आधार पर समाज कब तक जीवित रह सकता है यह तो सोचने की ही वस्तु है। इसमे परिवर्तन होना आवश्यक है।

कवि का प्रथम चरण गीति काव्य मे ही पडा है। वह भी अन्य कवियो की भाँति वासना के गीत गाता हुआ सूनी डगर पर चला है। उसने अपने ग्रन्थो मे कल्पना से भी खेल किया है। उसने एक दिन सोचा अवश्य था कि कल्पना ही जीवन को सतरगी रगो से रग देती है। इस लिए वह मर्माहत हो सूनसान की संगिनी को ढूंढ सका :—

आयि ! सगिनी सूनसान की।
तुम जागती दिन रात हो, दिन हो कि आधी रात हो
मैं जागता रहता विकल मञ्जीर कि आहट मिले।
मेरे कमल बन में उदय, किस काल पुण्य प्रभात हो।

कवि में आज भी इस रंगीन कल्पना की मूर्ति जागरूक है। 'दिनकर' के इस पक्ष को देख करके हम यह कदापि नहीं कह सकते कि उनमें इसके विपरीत पक्ष अर्थात ओजस्वी भावनाओं का अभाव होगा। कवि भी तो मानव है। उसके भी हृदय है—वह भावुक है अतः वह जागता रहता है, 'विकल मञ्जीर की आहट मिले' इसी बात की सूचना देता है। 'रसवन्ती' की भूमिका मे कवि का लिखने का तात्पर्य ही कुछ ऐसा ही है। उसने लिखा है कि मनुष्य के हृदय मे दोनों पक्ष रहा करते हैं। पहाड़ यदि जलता है तो उसके नीचे हरियाली रहा करती है, उसकी तपन को मिटाने के लिए लहलहाती हरियाली, अथवा द्रुमों की छाया की भी आवश्यकता होती है। कुछ ऐसा ही चित्र 'रसवन्ती' में खींचा गया है। कहने का तात्पर्य यही कि दिनकर में भी कल्पना की उड़ान है, रंगीनियां हैं परन्तु वह उसी में पूर्ण रूप

से लीन नहीं है। यदि वह एक ओर कल्पना से खेलता है तो दूसरी ओर यथार्थ के सूक्ष्म तत्वों मे भी उलझता हुआ दिखलाई देता है।

इस प्रकार 'रसवन्ती' का कवि गीतों में भावुकता का समावेश अधिक कर सका है—इसमे उसके हृदय की अधूरी साधना है।

कवि का दूसरा पक्ष दार्शनिक पक्ष है। उनकी कविताओं में दार्शनिक भावनाओं का तो एक अपना अलग ही स्थान है। जहाँ भाषा की क्लिष्टता है वहां भाव भी उतने ही गहरे हैं। कवि ने संसार की कल्पना—नश्वरता लिए हुए की है। वह समझता है कि ससार अपनी गति से चला करता है, मानव की चाहे इसमें अधूरी ही रह जाती है। देखिये कितने सुन्दर ढग से यह वर्णन हुआ है।

मृत प्रस्तर मेघों का पुंज,
लिये मैं देख रहा हूँ राह,
कि शिल्पी आयेगा जिस रोज,
पूर्ण करने को मेरी चाह ॥[१]

ऐसे क्षण की प्रतीक्षा एक दार्शनिक कवि के लिए स्वाभाविक ही है। जीवन के भार को ढोता हुआ मानव यह देख रहा है कि उसकी चाह पूर्ण करने के लिये शिल्पी (भगवान) कब अवसर देगा। उसे इस जीवन मे तो आशा नही वह, इसके उपरान्त ही मिल सकता है। कही-कही तो उसे हम सोच करते हुये पाते हैं। वह जानता है जो कहने के लिए ईश्वर ने उसे भेजा था वह उसे ठीक प्रकार से कह न सका —

धरती से व्याकुल आह उठी, मैं दाह भूमि की सह न सका।
दिल पिघल-पिघल उमड़ा, लेकिन आँसू बन कर वह बह न सका॥
जो कुछ मैं कहने आया था, वह भेद किसी से कह न सका।[२]

इस प्रकार से कवि के हृदय में द्वन्द चल रहा है। वह जानता है कि अभी उसे अज्ञात के संदेश को कहना है, परन्तु स्वय उसकी वाणी में इतनी शक्ति कहाँ जो कह दें। जीवन के प्रति उसका अपना सिद्धान्त है। उसे रूप, कुरूप, जीवन के कुछ क्षणो की देन दिखलाई देता है तभी तो—

अचेतन मृत्ति अचेतन शिला,
रूक्ष दोनों के बाह्य स्वरूप,
दृश्य पट दोनों के श्री हीन,
देखते एक तुम्हीं, वह रूप।
जो कि दोनों में व्याप्त विलीन॥
ब्रह्म में जीव वारि में बूंद
जलद में जैसे अगणित क्षीण।

---

१ १ तथा २ द्वंद गीत—दिनकर
से दिनकर।

कवि यहाँ पर एकमेव सत्ता की ओर संकेत कर रहा है, उसकी कुशल तूलिका से ब्रह्म का रूप रंगकर सतरंग हो गया है। जीव तथा ब्रह्म का अस्तित्व पृथक नहीं, दोनो मे एक घनिष्ट सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा कि जल से बूँद का है। बूँद की सत्ता, अपना आधार जल पर ही रखती है। इसलिये रूप को दोनों में व्याप्त दिखलाया गया है। कबीर की भाँति आपका ब्रह्म भी सबमें, सब स्थानो मे, व्याप्त दिखलाया गया है।

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़े बन माहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखै नाहि॥

दिनकर ने भी इसी का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म भी दोनो मे व्याप्त है। दोनों से तात्पर्य अचेतन तथा चेतन से है।

अन्त मे 'दिनकर' का रूप प्रगतिवादी भावनाओं में कितना निखरा है, इसे भी हमे देखना है। परिस्थितियो के साथ-साथ भावनाओ का अन्तर हुआ, और भावनाओ के साथ विचारों मे भी अन्तर होना स्वाभाविक था। कवि अपनी 'रसवन्ती' से 'हाहाकार', मे बिल्कुल बदला हुआ दिखलाई देता है। हाहाकार में वह भूखो, नगो का कवि है। उसमे उसकी कविताओ का विषय कृषक, ग्राम बधूटियाँ तथा समाज के निम्न कोटि के नही रह सके है। वह कल्पना से यथार्थ की ओर मुड़ा। कंगालो की दशा देख कवि को सचमुच ही बड़ा दुख हुआ, उसे वह शब्द देना चाहता है। उसे ध्वस मे एक सच्ची झलकें दिखलाई देती है—

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी! आज तप का न काल।

आज मौन साधना का समय नही, आज तो संसार उसी को जानता है जो नाद करता है। अतएव तू भी सिंहनाद कर, ऐसा कवि का सदेश हिमालय को है। हिमालय को उसने एक तपी की उपमा दी है जो अपने व्रत मे मौन, अपनी तपस्या में लीन खड़ा है। परन्तु तपस्या—और ऐसी तपस्या जीवन में नहीं काम देगी। आज तो सिंहनाद की आवश्यकता है जो यथार्थ में बतला दे कि तुझमे क्या शक्ति है। कवि को समय का पूर्ण ध्यान है। उसकी एक ठीक-ठीक रूप रेखा उसके मस्तिष्क मे खीच दी गई है। समय का सुन्दर वर्णन देखिये---

शोणित से रग रही शुभ्र पट,
संसृति निठुर लिए करवाले,
जला रही निज सिंह पौर पर,
दलित दीन की अस्थि मशाले।[१]

अतएव ऐसी अवस्था में, जब दलितो के रक्त चूसे जा रहे हों, अब एक क्रान्ति की आवश्यकता होती है। उसने इस समाज की गहराइयों में जाकर देखा है कि

१ ।

वह कितना खोखला है। ऊपर से जो उसका रूप है नीचे से नही, उस पर तो एक प्रकार का आवरण सा चढा दिया गया। वैभव के बल पर तो समाज न मालूम क्या-क्या करा लेता है। यदि कोई वैभवशाली है तो उसका पाप भी पुण्य के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। एक चित्रण देखिये—

वैभव के बल में जब समाज के,
पाप, पुण्य हो जाते हैं,
धनहीन पुण्य को स्पर्श नहीं,
जब ईश्वर भी कर पाते हैं।

तब पाप पुण्य की परिभाषा कैसी। जब उसकी महत्ता धन पर ही निर्भर करती है तो धन ही सब कुछ है। अतएव एक निर्धन पापी बनकर इस जगत में आया ही है। यथार्थ में जीवन विराट है, जीवन महान है, इस प्रकार से वर्ग भेद के द्वारा बाँटा नहीं जा सकता। आज के युग मे तो सब,

मानव मानव है समान,
जगती में गूँजे यही गान।

इसकी उपासना हो रही है। पाप एक दरिद्र के द्वारा हो अथवा एक पूँजी-पति के द्वारा वह उसका भागी अवश्य होगा। यदि राष्ट्र को जीवित रखना है तो हमें यह भेद को मिटाना होगा। आज का समाज पाप का दण्ड स्वयं न देकर एक अज्ञात सत्ता की ओर संकेत करके कहता है कि वह ही उसे दण्ड दे देगा। समाज की यह प्रवृत्ति क्षीण शक्ति को बतलाती है। इसमे तो स्वयं इतनी शक्ति नही रही जो पापी को समुचित रूप से दण्ड प्रदान कर सके, तब वह उस सत्ता की ओर संकेत कर लेता है। आज का कवि उस देवता पर विश्वास नही करता जो धनवानो को तो और धन देता है परन्तु गरीब के बच्चे को पीने के लिए दूध भी नहीं देता। इसी चित्र को दिखाते हुए कवि को ऐसे भगवान की ओर से विश्वास नही होता, तभी तो वह कहता है—

दूध-दूध ओ वत्स, मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं।
दूध-दूध तारे बोले, इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं॥

अतएव ऐसे भगवान के प्रति कवि को विश्वास नहीं। उन्हें तो ऐसा भगवान चाहिये जो मानव को मानव कर दे। कवि को अपने अतीत की ओर से बड़ा ही प्रेम है। अतीत की ओर ध्यान जाते ही वह कराह सा उठता है। उन्हे अपने खोये वैभव की याद आ जाती है वह हतश्रम हो अपनी बीती स्मृति को मस्तिष्क मे दुहरा लेते हैं। सुधांशु के शब्दों मे—

"जिस दिन उसके हृदय में हिमालय फूटा उसी दिन से उनकी प्रतिमा ने एक नई दिशा की ओर अपनी गति की। अतीत गौरव की सृष्टि तथा खण्डहरों के प्रति

---

१ विपथगा।

दिनकर' ने जिस भावुकता का परिचय दिया वह अप्रतिम है। अन्त में हम हिमालय दिनकर की कविता का मेरुदण्ड है यही कह कर संतोष करते है ।"[1]

यथार्थ में यदि देखा जाय तो यह वाक्य ठीक ही प्रतीत होता है। हिमालय शीर्षक कविता मे कवि ने अपनी समस्त भावनाओ को सञ्चित कर दिया है। उसके हृदय में— मेरे नगपति ! मेरे विशाल ! !

के प्रति कितनी आत्मीयता है। उसी आत्मीयता के कारण ही, उसका नष्ट हुआ वैभव उसे कष्ट देता है। उसके हृदय मे एक पीड़ा का अनुभव होता है। मिथिला के प्रति शोक प्रकट करता हुआ कवि उसे भिखारिणी कह कर सम्बोधित करता है—

पैरों पर ही है पड़ी हुई,
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूँछ कहाँ इसने खोई,
अपनी अनन्त निधियाँ सारी।
रे कपिलवस्तु कह बुद्ध देव के,
वे मंगल उपदेश कहाँ ।।

केवल इतना ही कहके कवि आत्म विभोर हो जाता है। मिथिला जो कि एक दिन अन्यन्य राशि की सिद्धि थी, जिसमें वैभव के अगणित दीप जला करते थे—वह आज भिखारिणी हो गई है। अपने धन राशि को लुटा कर आज वह दीन है। यही नही बुद्ध देव के गान भी जो शान्ति का उपदेश देते थे, वे सब जाने कहाँ सबके सब विलीन हो गए है। नियति ने सबको परिवर्तन चक्र में लाकर बदल डाला है। इसी लिए कवि की अन्तर्दृष्टि उसे देख भी लेती है। वह उसे देखकर विकल हो जाते है। कविता लिखते-लिखते वह आत्म-विभोर होकर कहदेते हैं, परन्तु उसे गान अपने अतीत के ही याद हो जाते हैं। उदाहरण के लिए—

कलम उठी कविता लिखने को,
अन्तस्तल में ज्वार उठा रे
सहसा नाम पड़ा कायर का
पश्चिम पवन पुकार उठा रे।

उसकी कलम उठी थी कुछ [illegible] लिखने को, परन्तु वह अपनी उबलती हुई भावना को दबा कैसे लेता [illegible] उसने—

देखा शून्य कुँवर का गढ़ है,
झाँसी की वह शान नहीं है,
दुर्गादास प्रताप बली का—
प्यारा राजस्थान नहीं है ।।

कह कर संतोष किया।

कवि की दृष्टि झाँसी तथा राजस्थान पर पहुँच गई। उसने वहाँ की प्रत्येक वस्तुओं को उलट पुलट कर देखा। ऐसी भावनाओं का चित्रण उनके अधिकांश रचनाओं में मिलता है। यही तो दिनकर की सफलता का कारण बन गया है। किसी भी वस्तु का वर्णन वे कर रहे हैं, उसमें उनके अन्तर की यह चीत्कार स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। नई दिल्ली शीर्षक कविता का उदाहरण लीजिए—

आहें उठी दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प पुकारें,
अरी गरीबों की लोहू पर,
खड़ी हुई तेरी दीवारें।
कृषक मेघ की रानी दिल्ली॥

दिल्ली का वर्णन करते-करते इन पंक्तियों में- कवि, मजदूरों तथा कृषकों की पुकारों पर चला गया। उसे दिल्ली का वैभव, उसी गरीबों के लोहू से सना हुआ दिखलाई देने लगा। अन्त में कृषक मेघ की रानी दिल्ली कहकर कवि ने अपना पीछा छुड़ाया है। इसी प्रकार का द्वंद हम दिनकर की कविताओं में देखते हैं—और फिर वे अपने राष्ट्रीय पक्ष को ही सबल कर देते हैं। प्रकृति का वर्णन रुक जाता है। उनके समक्ष फिर वही लोहू की नदियाँ, मजदूरों की तड़प पुकारें फिर अपना भीषण रूप धारण कर लेती है। वे अधीर हो कह उठते हैं—

लाखों क्रौञ्च कराह रहे हैं,
जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट फूट कर कवि कण्ठों से,
बन व्यापक युग की तू वाणी॥

अन्त में कवि पंच परमेश्वर पर विश्वास करने वाले हैं। जनता का उनके सम्मुख एक बड़ा ही उच्च स्थान है। आज के जनतंत्र के युग में वे जनता को शासक तथा शासित भी मानते है। उसकी शक्ति पर उन्हें पूर्ण विश्वास है। अतएव उसी के लिए सिंहासन भी खाली करवाना चाहते हैं। यह आपका आधुनिकतम विचार है—

सिंहासन खाली करो कि,
जनता आती है।
हुंकारो से महलों की नींव उखड़ जाती,
सांसों के बल से ताज हवा में उड़ता है,
जनता के सम्मुख टिके, समय में ताब कहाँ,
यह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।[1]

---

१ 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।'— दिनकर

आपका जनतंत्र पर ऐसा ही विश्वास है। समय में भी वह शक्ति नही जो जनता के बल पर रुक जाय। इन पंक्तियों में वे सच्चे प्रगतिवादी के रूप मे आते है। उनके लिये तो देवता का स्थान देवालय के अतिरिक्त कहीं और है, वह इस प्रकार है—

आरती लिए तू किसे खोजता है मूरख,
मंदिरों, राजप्रसादों में, तहखानों में।
देवता कहीं सड़कों पर मिट्टी कूट रहे
देवता मिले हैं कहीं खेत खलिहानों में।

अतएव देवता का स्थान इन्होने सचमुच ही खेत खलिहानो मे माना है। देवता देवालय में नही, राजप्रसादों मे नही वे तो खेतों में हैं अपने अंगो को मिट्टी से साने हुए। आपको ऐसा ही दृष्टिकोण जनतंत्र की ओर है। जनता का राज्य सदैव ही सुखकारी होगा।

भारतीय आदर्शों का निर्वाह कवि के भावो में पूर्ण रूप से मिलता है। वह वास्तव मे प्रगतिवादी कवि है। समय की प्रगति के साथ ही साथ कदम मिला करके आगे बढ़े हैं। अन्त में हम सुधांशु के शब्दों मे यही कह सकते है—

"दिनकर प्रगतिशील कवि नही, वास्तव मे प्रगतिवादी कवि हैं। भारतीय लोक जीवन के सम्मुख राष्ट्रीयता का रसात्मक स्वरूप रखने की आशा इन्ही से की जा सकती है।[२]

इस प्रकार से दिनकर को हम एक प्रगतिवादी कवि कह सकते है। दिनकर के कवि में एक क्रान्ति का दर्शन भी होता है। उनका उद्देश्य स्वयं का ही बनाया उद्देश्य है, उसमे मौलिकता है, शब्दों की प्रखरता तथा सुन्दर प्रयोग है। इसमे वह कहाँ तक सफल हुए है इसका स्पष्ट उदाहरण हमे उनकी पंक्तियों से प्राप्त हो चुका है। उनका मजदूरों के प्रति एक पृथक तथा सहानुभूति लिए हुए दृष्टिकोण है। सचमुच में कृषकों तथा मजदूरों के कवि वे ही हैं, उनके जीवन में रमे हुए हैं और मजदूरों की गीत उनमें (अर्थात उनके कवित्व) में अपनी एक पृथक सत्ता बना पाया है।

समाज की समस्या सदा से ही कवि को सताती रहती है—क्योकि समाज ही राष्ट्र का प्रमुख अंग है। जब तक समाज को प्रेरणा नही मिलेगी, तब तक समाज एक उचित मार्ग पर नही जायेगा, तब राष्ट्र का निर्माण उचित रूप मे नहीं हो सकता। अतएव 'दिनकर' की भावना सदा से ही समाज के दलित वर्ग की ओर से अधिक द्रवीभूत हुई है। वह सजग है, समाज के अन्तरंग से पूर्ण रूप से परिचित है।

१—'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' ससार

२—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त : सुधांशु

उनकी दो कृतियाँ हैं 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी'। अब तक हमने उनके स्फुट गीतो का अध्ययन किया था उन गीतों में उनके विचार भी कुछ विशृंखलित हैं परन्तु प्रबन्ध काव्य मे जबकि कवि को अपने भावों में एक प्रवाह लाने की आवश्यकता पडी, तभी वे भावो मे एक गति लाने में भी सफल हुए। इन ग्रन्थो में भी कवि जीवन से दूर नही जा सका है। समाज की प्रचलित बुराइयों, आदर्शों और परम्परा का ही खण्डन इनमे भी हुआ।

अब हम उनकी कृति, कुरुक्षेत्र की समस्याओ पर विचार करेंगे।

कुरुक्षेत्र :—

कुरुक्षेत्र आधुनिक युग के मानव की समस्त प्रवृत्तियों, भाव और चिन्तन की एक सामूहिक परिभाषा है। युधिष्ठिर और भीष्म दो पात्र सम्पूर्ण कथा साहित्य को आगे लेकर बढ़े हैं। दोनों के अपने दो विचार हैं। एक जगत से दूर अध्यात्म की ओर उन्मुख और दूसरा जगत में ही रहकर जगत के प्राणियो को सुखी करने के पक्ष मे है। युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र मे हुए युद्ध को केवल जनसंहार का कारण बतलाते हैं। जिनका परिणाम कुछ भी नही है। कलिंग के अशोक की भाँति कुरुक्षेत्र के युधिष्ठिर को भी संताप होता है और साथ ही साथ वैराग्य भी। विजयी हो जाने के पश्चात् विजय उन्हें डसती है, विजय पर उन्हे पश्चात्ताप होता है। युधिष्ठिर का यह अध्यात्मिक चिन्तन की ओर उन्मुख विचार है। वे तपोबल छोड़ मनोबल से लड़ने की इच्छा रखते हैं—

> जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
> भुजबल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता।
> तप से, सहिष्णुता से, त्याग से, सुयोधन को
> जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता॥

इन विचारों के अतिरिक्त युद्ध की समस्या पर भी विचार किया गया है। युद्ध किन अवस्थाओं में उचित है और किन - किन अवस्थाओ में उसका औचित्य अपनी कोई उपयोगिता नही रखता, इस समस्या को भी सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। आज के युग के लिए विज्ञान वरदान और अभिशाप दोनो ले आया है। उससे ध्वंस अधिक हो रहा है, रचनात्मक कार्य कम। युद्ध की विभीषिका और ज्वाला विज्ञान की आहुति लेकर और भी प्रखर हो उठती है। नरसंहार के यज्ञ में विज्ञान घृत डालता चलता है। इन विचारों को लेकर कुरुक्षेत्र का कवि आगे बढ़ा है। युद्ध को एक निन्दित कर्म अवश्य कहा गया है परन्तु इस निन्दित कर्म का दूसरा उपचार है भी क्या ? शान्ति स्थापित करने के लिए जिस मार्ग को अपनाना पड़ता है वह मार्ग काँटो से पूरित है उसमे झंझा तूफान और बवडर है। शान्ति तक पहुँचने के लिए इस मार्ग का पार करना ही पड़ता है। युधिष्ठिर उस मार्ग को

के अन्त में एक निराशा के अतिरिक्त उन्हे और मिला क्या ? उस समय की परिस्थिति तो ऐसी हो गई---

कौरवों का श्राद्ध करने के लिये,
या कि रोने को चिता के सामने।
शेष जब था रह गया कोई नहीं,
एक बुड्ढे एक अन्धे के सिवा॥

इस महा नरसंहारकारी युद्ध मे केवल एक निराशा युधिष्ठिर के हाथ लगी। उन्हें वैराग्य हो गया। जहाँ भी उनकी दृष्टि गई उन्होंने सुहागिनी के भाल का सिन्दूर पु छा हुआ देखा, बालहीना माता की आर्त्तनाद सुनी और सोते - सोते उठकर (आवेश मे आकर) अर्जुन के लाल के शोणित को पुकारते हुए सुना। यह वह युधिष्ठिर है जिसमें एक राजनीतिज्ञ, शासक और हठधर्मी का हृदय नहीं बोल रहा है, परन्तु यह उस युधिष्ठिर का हृदय बोल रहा है जो त्यागी है, हिंसा करता है। परन्तु उसके फल याद आने पर हिंसा के भय से कांप भी उठता है, वह अध्यात्म वादी है। भीष्म ने युधिष्ठिर मे वैराग्य की ऐसी भावना उग्र होते हुए देख करके उन्हें क्षत्रियोचित फटकार भी दी है। पाप और पुण्य अपने में ही सीमित नही है। कोई भी काम अपनी विशेष अवस्था के कारण पुण्य हो सकता है और वही कार्य उन स्थलों और परिस्थितियों के परिवर्तित हो जाने के कारण पाप भी कहा जा सकता है। महाभारत ऐसा युद्ध जो प्रतिशोध की भावना से आगे बढा हो पापकर्म नहीं कहा जा सकता।

जानता हूँ किन्तु जीने के लिए,
चाहिये अंगार ऐसी वीरता।
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है,
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

अपने अधिकारों को बचाना, चाहे वह किसी प्रकार बचाया जा सके, मनुष्य का कर्तव्य है। अधिकारों का इस प्रकार उपयोग करने में भी, दिनकर के शब्दों में---

'चाहिए अंगार जैसी वीरता',

और आगे भी,

छीनता है स्वत्व कोई और तू,
त्याग तप से काम ले यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

इस प्रकार से एक ओर तो भौतिक सुखों को तुच्छ समझने वाले युधिष्ठिर के विचार हैं दूसरी ओर भीष्म अपने स्वत्व अधिकार और कर्तव्यों के प्रति सजग हैं।

युधिष्ठिर के सिद्धान्त तो कहीं - कहीं भीष्म को चिढ़ा देते हैं। इन कोरे सिद्धान्त-वादियों को तो उन्होंने कायर तक कह दिया है।

कायरों सी बात कह, मुझको जला मत, आज तक,
हो रहा आदर्श मेरा वीरता बलिदान ही,
जाति मन्दिर में जलाकर शूरता की आरती,
जा रहा हूँ विश्व से चढ़ युद्ध के ही यान पर।

युद्ध के विषय मे भीष्म का ही दृष्टिकोण कवि का दृष्टिकोण है, इसलिए उसने इसके वर्णन मे उतनी ही तन्मयता और शब्दो की सजग वृत्ति को लाकर सजीव वर्णन कर दिया है। युद्ध के विषय मे यह एक सुझाव है। यदि अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए, जीवन मे जीने के लिए नरसंहार और ऐसे ही अन्य उपकरणों का प्रयोग किया जाय तो हानिकर नही। कवि के लिए व्यष्टि का हित समष्टि के समक्ष कुछ भी नही है। एक पुरुष के हित के लिए यदि समाज का अहित होता है तो उस व्यक्ति का हित समष्टि के हित के लिये बाधक है। द्रौपदी के साथ उस समस्त समुदाय की लज्जा हारी गई थी जो पाण्डवो के साथ था।

द्रौपदी के साथ ही लज्जा हरी थी जा रही,
उस बड़े समुदाय की जो पाण्डवो के साथ था।

युधिष्ठर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपना एक दृष्टिकोण भीष्म ने रखने का प्रयत्न किया है। भीष्म यह कह कर युद्ध के विपक्ष मे शुरू से ही नही है। ऐसा भी नही है कि युद्ध की विभीषिका को वह चाहते हैं। उनके विचार से दया एक शक्ति-शाली का ही भूषण है, जिसमे शक्ति नही वह दया क्या कर सकता है। यदि कायर किसी को क्षमा दान देने चले तो वह उसका गुण नहीं। भीष्म के अनुसार —

सच पूँछो तो शर में ही, बसती है दीप्ति विनय की।
सन्धि वचन संपूज्य उसी का, जिसमें शक्ति विजय की।।

यदि युधिष्ठिर के पक्ष मे ही लिया जाय तो युधिष्ठिर ने दुर्योधन को पहले क्षमा किया उसके अपराधो पर दृष्टि न डाल उसे टालते ही रहे परन्तु इसका परि-णाम क्या हुआ? उसका अत्याचार दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया। युधिष्ठिर ने जब तक शक्ति की पूजा नही की, अपने अधिकारो को बलपूर्वक छीनने की चेष्टा नहीं की तब तक दुर्योधन का अत्याचार बढ़ता रहा। संसार के पीछे एक निश्चित एव स्वस्थ आधार था धर्म का तथा अपने अधिकारियों की रक्षा का। महाभारत का युद्ध केवल युद्ध के लिए नही हुआ, उसमे तो न्याय के पक्ष और अधिकार के स्वत्व की रक्षा करनी थी।

कुरुक्षेत्र में जली चिता जिसकी, वह शान्ति नहीं थी,
अर्जुन की धन्वा चढ़, बोली वह दुष्क्रांति नहीं थी।

थी परस्वग्रासिनी भुजंगिनी वह जो जली समर में,
असहनशील शौर्य था जो बोल उठा पार्थ के स्वर में ।।

युद्ध की समस्या के पश्चात् दूसरी बात उठती है कि युद्ध किसके कारण हुआ। युधिष्ठिर अपने को युद्ध का कारण समझते हैं और भीष्म अपने को। भीष्म का विश्वास है कि यदि वे कौरवों की ओर से युद्ध न करते तो शायद दुर्योधन युद्ध के लिये न उठ खड़े होते, भीष्म के अभाव में युद्ध होता ही नही। भीष्म को अब भी पश्चाताप होता है कि

सच है था चाहता, पांडवों का हित मैं सन्मन से।
पर दुर्योधन के हाथों में, बिका हुआ था तन से।।

मन से भीष्म युधिष्ठिर की ओर थे और तन से वे दुर्योधन की ओर। 'प्रसाद' की भाँति दिनकर ने भी कोरे बुद्धिवाद की आलोचना की है। भीष्म बुद्धि से अधिक श्रेयस्कर स्नेह और प्रेम को कहते है। यद्यपि वे जीवनपर्यन्त बुद्धिवादी रहे है कर्मों को ही प्रधान समझा है, अन्त मे जीवन के अवसान में ही उन्हें स्नेह और प्रेम का ज्ञान होता है। बुद्धि और तर्क का ही अवलम्ब लेकर युधिष्ठिर के विरोध मे दुर्योधन की ओर से उन्होने युद्ध किया है। जब कि युद्ध का समय था वे न्याय पक्ष की शरण ले सकते थे? परन्तु उनके बुद्धिवाद ने, तर्क ने, उन्हे युधिष्ठिर की ओर न जाने दिया। मस्तिष्क पक्ष जब भी इस प्रकार से विजयी होता है तभी मानव एक अज्ञात ज्वाला और विप्लव से ग्रस्त रहता है। जैसा कि ऊपर संकेत कर चुका हूँ कि 'प्रसाद' के मानव (कामायनी) की भाँति भीष्म भी जब बुद्धि की ओर आकर्षित हुये तब ही उन्हे पराजय मस्तिष्क और हृदय की खानी पड़ी। अब वे उसे समझ रहे है।

किन्तु बुद्धि ने मुझे भ्रमित कर
दिया नहीं कुछ करने।
स्वत्व ही अपने हाथों का,
हृदय वेदि पर धरने।

हृदय वेदि पर वे अपने समस्त स्वत्व को, बरबस रख देना चाहते हैं परन्तु विवश थे। मस्तिष्क का यह सघर्ष हृदय से चल ही रहा था कि बीच मे राजद्रोह की भी चर्चा छिड़ जाती है यदि दूसरे रूप में देखा जाय तो मस्तिष्क मे सघर्ष की ही प्रतिध्वनि है। भीष्म सोचने लगते है कि मैं जो सोचता था उसी पर चलकर युधिष्ठिर का साथ देता तो सभवतः यह नरसहारक युद्ध न होता। वह अपने न्याय पक्ष पर ही डटे रहते, क्योंकि यह समझते थे कि युधिष्ठिर सत्य मार्ग पर है, उनके साथ अन्याय किया जा रहा है। अतएव उन्हे यह सोचते हुए युधिष्ठिर का साथ देना चाहिये था। परन्तु बुद्धि ने, तर्क के जाल ने उनके इन विचारो को अपने मे प्राय सुप्त कर दिया व भूल गये कि कर्त्तव्य के मोह में स्नेह और य य पक्ष को

भी सत्ता है ? यही मानव मस्तिष्क का विश्लेषण किया गया है जब वह एकागी होकर सोचने लगते है, और जब भी वह अपनी प्रतिभा को त्याग कर कोरे तर्क का आश्रय लेने का प्रयास करते है तभी उसे इस प्रकार से नीचे गिर जाना पड़ेगा। यथार्थ जीवन में लोभ ही एक पुरुष को अपने सत्कर्मो को कभी-कभी करने से रोक देता है। यह सत्य था कि भीष्म ने दुर्योधन का साथ सदैव दिया था। उनका कर्त्तव्य उनके शब्दो में यह होता था कि वह उन्ही का साथ दें। परन्तु इस परम्परावाद का निर्वाह ही कुरुक्षेत्र के इस महायुद्ध का कारण रहा। दुर्योधन युधिष्ठिर भीष्म के लिये पृथक-पृथक रूप से कुछ नही थे। उन्हें आदर्शो का सहारा लेना था। वे समझते थे कि युधिष्ठिर के साथ अन्याय हो रहा है तो अन्यायी का साथ उन्होने दिया क्यों ? क्या केवल कर्मवाद उन्हे प्रभावित कर रहा था ? अन्त मे स्मृतियाँ सजग हो उठती है। भीष्म के सम्मुख एक-एक करके सम्पूर्ण चित्र आते हैं।

राजद्रोह की ध्वजा उठाकर,
कहीं प्रचार होता।
न्याय पक्ष लेकर दुर्योधन
को ललकारा होता।

सप्तम सर्ग में भाग्यवाद पर विश्वास रखने वालो के लिए चुभता हुआ सदेश है। इसके पहले कुछ समाजवादी धारणाओ को ही परिपुष्ट किया गया है। कवि युद्ध की बात करते-करते इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि शान्ति तभी हो सकती है जब समाज मे सभी व्यक्ति बराबर कर दिये जाँय। वट और अनेक छोटे वृक्षो की उपमा लेकर कवि यह बताना चाहता है कि सभी को रहने का और बढने का अधिकार चाहिये—

वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे है उन्हें बढ़ने का वर दो।
जल सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिरायें तोड़ो, डालिया कतर दो।

इसी वृक्ष की भाँति वह मनुष्य जो धरती का रस सोख रहा है जो शोषण कर रहा है उसको दंड देना चाहिये। ठीक उस वृक्ष की भाँति उसकी भी शिरायें और डालियाँ कतर देनी होंगी।

अब भाग्य वाद की चर्चा करेंगे। कवि ने केवल भाग्यवादियों को भाग्य पर निर्भर रह करके, कार्य करने पर उनकी आलोचना की है। आज के युग में सचमुच भाग्य को विज्ञान ने पछाड़ दिया है। प्रकृति कुछ नही देती कुछ नहीं करती मनुष्य यदि चाहता है तो उससे छीनकर अपने अधिकार ले ही लेता है अधिकार वह भीख नही जिसे माँगने के लिये दर दर की ठोकर खाई जाय। वह प्राप्

को इसकी शिक्षा भी भीष्म ने दी है। उन्होने स्पष्ट शब्दो में कह दिया है कि यदि तुम इस प्रकार से अपने अधिकारों की अवहेलना चाहते थे तो तुम्हारे लिए उचित था कि जंगल मे निवास करते। मेरी समझ मे यह पलायनवादी प्रवृत्ति है,— निरी पलायनवादी प्रवृत्ति है। संक्षेप मे यही कि कुरुक्षेत्र मानव की यथार्थ से पूर्ण काव्य है। जीवन को वह जीवन स्तर पर लाकर विचारक के रूप में देखना है। उसने कल्पना की है कि यहाँ कोई किसी का राजा प्रजा नही। राजा और प्रजा, अमीर और दीन यह मानव ने ही बनाये हैं। समाज मे श्रेणियों का विभाजन शोषण करने वालो ने अपने हित के लिये किया। कवि के समक्ष पहले का समाज जब कि मानव पर किसी भी मानव का शासन नही था, नाँच उठता है। मानव सभ्यता के शिशुकाल मे जब मानव स्वच्छन्द था वह समस्त धरती पर विचर सकता था मुखर हो जाता है धीरे-धीरे लोभ का उदय हुआ। मनुष्य के विचार एक दूसरे को नोच कर खा लेने की ओर अग्रसर हुए, तभी तलवार आई, शासन हुआ, और आज का समाज, जिसको हम अपने समक्ष देख रहे हैं उसकी रचना हुई, लोभ के सामने विश्वास, स्नेह और वास्तविक सौन्दर्य नत हो गये घुटने टेक दिए, क्यो ? इसका कारण था मनुष्य का पाशविक बल, उसकी लोभ और अन्याय की ओर झुकी हुई प्रवृत्ति। एक ही आदमी सभी आदमियों के अधिकार, स्वत्व और न्याय हड़प कर जाने की चिन्ता मे लीन हो गया। तभी तो क्रान्ति और तलवार की आवश्यकता पड़ी। सबसे बडा आधार जिसपर शान्ति टिक सकती है वह है मानवता। मानव यदि अपने स्वार्थों को भूल जाये तो युद्ध बन्द हो सकेगा।

कुरुक्षेत्र मे जीवन और मानव दो समस्यायें हैं। जीवन जीने की वस्तु है मुँह फेर कर उससे भागा नही जा सकता। भीष्म का सन्देश आज के प्रत्येक मानव के लिए है कि भाग्य कभी किसी पर हसता नही, न्याय कभी किसी को प्राप्त नही होता। अन्यायी यदि सशक्त है तो जग उसका साथ देता है तथा न्याय शक्ति से छीना जा सकता है। युधिष्ठिर की विचारधारा मे वह एक मोड़ ला देना चाहते है, यदि केवल अध्यात्म का अवलम्ब लेना था तो युधिष्ठिर जगल मे ही तपस्या करते, उन्हे इस जगत मे जहाँ प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भट्ठियां सुलग रही हैं आने की आवश्यकता ही क्या थी। यदि इस धरती मे कोई रहना चाहता है, और यहाँ के संघर्ष से मुँह मोड़कर केवल तर्क का ही आधार ले, कोरे सिद्धान्तो को मान कर चलता है तो वह जीवन में सफल नही हो सकता, परन्तु उन सिद्धान्तो को मानने के लिए भी ··

'चाहिये अंगार जैसी वीरता'

जीवन के वास्तविक कगारो को स्पर्श करके ही इस प्रकार से कुरुक्षेत्र की रचना की गई है। युग मानव तभी मानव है जब वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को त्याग कर समष्टि की भलाई की चिन्ता करे। अपने में ही सीमित रहना मानव के

इस जीवन मे जीने का अधिकार नहीं रखता। कर्म और समष्टिगत सिद्धान्तों के अग्रदूत उसका गला घोंट देगें कुरुक्षेत्र मानव के वास्तविक जीवन की परिभाषा है एक सन्देश है जो जीवन की सूनी घड़ियो को पुकार कर कह रहा है।

ऊपर सब कुछ शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में।
धर्मराज ! जो हैं वह हैं, मिट्टी के इस जीवन में।

शून्य की बात कह कर उन्होने स्वर्ग की कल्पना पर आक्षेप किया है। युधिष्ठिर सत्यवादी हैं, अध्यात्मिक विचार वाले हैं, अतएव उनका स्वर्ग पर विचार रखना स्वाभाविक है। भीष्म यहाँ पर यथार्थवादी दार्शनिक की भाँति ठीक उसी वस्तु की सत्ता मानते हैं जो देखते हैं। ऊपर उनको शून्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता अतएव वे कर्म को ही जीवन मे प्रधान अब तक मानते आए हैं। यहां भी कर्म पर उनका विश्वास है। यदि कर्म अच्छा है तो उस अच्छे कर्म करने वाले मनुष्य के लिए इसी धरती पर स्वर्ग है यदि कर्म खराब हुआ तो उस मानव के लिए इसी धरती पर नरक है। यह वसुन्धरा केवल वीरो के भोगने के लिए ही है, जो अशक्त है उनके लिये यहाँ कोई स्थान नहीं।

'शक्तिहीन वह हुआ जो बैठा भू पर आसन मारे,
खा जाते उनको मिट्टी के ढेले ये हत्यारे'

अब हम दूसरी पुस्तक रश्मिरथी को लेगे।

रश्मिरथी

महाभारत नामक युद्ध इस बात का संकेत कर रहा है कि प्रत्येक युग में जब अनाचार, पदलोलुपता और मानवता का पतन होने लगता है तो उसका अन्त करने के लिए एक महान् संहारकारी युद्ध होता है जिसमे सृष्टि फिर से अपना नया चोला धारण करती है। महाभारत का युद्ध इस बात का प्रमाण है, साक्षी है। समाज की कुरीतियाँ जब अपनी पराकाष्ठा पर होती हैं प्रतिभाशाली जब अहमवादी व्यक्तियो से ठुकराये जाते है, जब कुछ जन इसी लिए उपेक्षित किए जाते हैं क्योंकि उनके व्यक्तित्व के पीछे कोई ठोस आधार भूमि नही, तभी क्रान्ति होती है, और तब एक नया जागरण चेतना का सन्देश देता है समाज को- वही रश्मिरथी का संदेश है आज के समाज को। कुन्ती का पुत्र कर्ण केवल इसीलिए ठुकराया जाता है क्योंकि उनके माता-पिता का नाम लोगो को ज्ञात नहीं था। यह झूठा आदर्श ही समाज को निकम्मा बनाता जा रहा है आदर्श के पर्दे मे कितना अपराध, कितनी ज्वाला और कितना क्षोभ भरा पड़ा है—रश्मिरथी उसका एक उदाहरण है—

कर्ण को उपेक्षित रखने का सबसे बड़ा आरोप (समाज द्वारा उस पर जो लगाया गया था) यही था कि पिता का नाम नहीं ज्ञात था वह अज्ञात पिता का पुत्र था कर्ण का अपमान केवल इसीलिए समाज द्वारा हुआ क्योंकि वह ब्राह्मणों के

समक्ष सूतपुत्र के नाम से प्रचलित था। सूतपुत्र का होना ही कर्ण की वीरता पर पानी फेर दे यह बात उपयुक्त नही ज्ञात होती। यदि वस्तुतः देखा जाय तो कर्ण और अर्जुन दोनो की परिस्थितियाँ एक सी थीं। उन्ही परिस्थितियो मे पैदा हुए कर्ण को गिरी दृष्टि से, और अर्जुन को एक दूसरी दृष्टि से देखना उस समय के सामन्तवादी समाज का परिचायक है। अर्जुन के जीवन मे और घुसिए ऐसे उदाहरण मिलेंगे। द्रोपदी के विवाह के पश्चात् पाचो भाइयों के बीच यह समझौता हो चुका था कि यदि बड़ा भाई द्रोपदी के साथ शयनागार मे रहे और कोई भाई यदि उस कक्ष मे प्रवेश कर ले तो उसे व्रत का पालन और बनवास (किसी निश्चित अवधि तक) करना पडेगा। व्रत और सयम की ये रेखायें सचमुच बड़ी तीव्र थी परन्तु क्या इसका निर्वाह महाभारत का प्रधानपात्र अर्जुन कर सका? सम्भवत नही। यदि इस नियम का पालन पूर्ण रूप से अर्जुन के द्वारा हुआ होता तो उलूपी (नाग कन्या) के द्वारा अर्जुन को एक सन्तान न पैदा होती। कहने का तात्पर्य यही कि महाभारत के पहले का आचरण और नैतिकता का स्वरूप आज के आचरण और नैतिकता से भिन्न था। दिनकर का रश्मिरथी इसी बात का संदेश देता चलता है कि समाज किसी भी तथ्य को केवल बाह्य रूप मे ही देखता है उसका आन्तरिक रूप कितना वीभत्स है अथवा आकर्षक समाज का ध्यान उधर नही जाता।

दिनकर का कवि आज तक इस आन्तरिक तथ्य के ही खोज मे व्यस्त रहा है, कुरुक्षेत्र मे युद्ध की विभीपिका और उसके फल पर विचार किया है। वह रश्मिरथी में एक पग और बढाने में सफल है और वह पग है किसी यथार्थ-दर्शन की पहिचान, वह मनुष्य के भीतर के देवता की पहिचान कर रहा है। उसे अब तक पीड़ितो, असहायों और दलितों से स्नेह था और उनके प्रति स्वाभाविक दया भी, वही इस काव्य-ग्रन्थ मे भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है—

मैं उनका आदर्श, कही जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम बोले सकेंगे,
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा।
मनमें लिए उमग जिन्हें चिरकाल कल्पना होगा॥

रश्मि-रथी के निर्माण मे इन्ही तत्वों का समावेश रहा है। 'दिनकर का हृदय सदा से असहाय और दीनो के लिए खुला रहा है, उनकी करुणा सहज ही इन पात्रों के पीछे द्रवीभूत होती दिखाई पड़ी हैं। वह दलित और पीड़ितो का नेता नही माना गया है, वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसे समाज का आदर्श रुलाता रहा है। धर्म प्रभुओ के प्रति विद्रोह और उनसे लड़ना भी उसका दृष्टिकोण नहीं रहा है। यह तो कवि के सन्देश का एकाँगी दृष्टि से देखना है। समाज मे आदर्श और नियमों का पालन ... पुरुष सदा पराजित होता रहा है युद्ध मे वही विजयी

होता है जो राजनीतिज्ञ हो, धोखा देना जानता हो। नीति पूर्ण युद्ध हुआ कब है? ठीक यही चीज सभी युद्धों मे लागू होती रही है, नहीं तो शिष्य गुरू का गला कटवाने के लिए जीवन में पहली बार और अन्तिम बार झूठ न बोलता, भीष्म को मारने के लिए छल का सहारा न लिया जाता और अन्त मेमहावीर कर्ण को मारने के पूर्व थोड़ा सोच समझ कर रथ की पहिया को निकाल देने का अवकाश दिया जाता।[१] परन्तु युद्ध युद्ध ही है धर्म और नीति के नाश हो जाने पर युद्ध होता है फिर उसमें धर्म नीति का अवलम्ब ही कैसा। इस तथ्य पर आ जाने पर यह कहना भूल होगी कि महाभारत धर्म का युद्ध था।

अब हम रश्मिरथी के प्रथम—सर्ग को लें। कर्ण का व्यक्तित्व ऊपर उठाने के के लिए कवि की सारी भावुकता और सारी शक्ति जाति पाँति के विरोध में ही लगी हुई है। केवल एक ही स्वर सम्पूर्ण सर्ग मे गूँजता सा दिखाई देता है वह है जाति के विरोध में कहना। समाज ने कर्ण को इसलिए नहीं पहिचाना क्योंकि वह समाज के साथ नहीं था—समाज से बहुत दूर वह अपनी ही राग में मस्त अपनी ही तपस्या मे निरत था। अर्जुन को इसलिए समाज ने बढ़ावा दिया क्योंकि वह उस पर शासन करता था। कर्ण का रणभूमि में प्रवेश करने के पहले क्या कोई सामाजिक महत्व था? अर्जुन की ही भाँति यदि वह शासक नहीं हो सकता था तो शासित ही सही, किसी भी रूप मे कर्ण ने क्या समाज के सम्मुख अपनी धनुर्विद्या का परिचय पहले दिया था कुछ परिस्थितियाँ ऐसी थी, आपस में द्वेष और कलह के कारण ही सुयोधन ने कर्ण को अंगदेश का राजा बना दिया, यह समाज का दान नहीं कहा जा सकता, या कर्ण की प्रतिभा से प्रभावित हो कर यह दिया गया, यह भी नहीं कहा जा सकता बल्कि एक राजा ने अपनी शक्ति का प्रयोग करके कर्ण का अँगदेश का शासक नियुक्त कर दिया। इसीलिए समाज के द्वारा कर्ण न तो सम्मानित हुआ न तो समाज ने उसे कोई अधिकार ही प्रदान किया शायद वह भी उसे राज्य न देता, राज्य देना ऐसे पुरुष का कार्य नहीं हो सकता था, परन्तु वह विवश था, उसकी बाहु में उतना बल नहीं था जो वह अर्जुन का सामना कर सकता, कर्ण का अवलम्ब पाकर वह ईर्ष्या द्वारा प्रेरित हुआ कि वह कर्ण को राज्य दे दे। अतएव सुयोधन की यह कृपा स्वाभाविक दया के फलस्वरूप नहीं उत्पन्न हुई वस्तुतः उसका कारण ईर्ष्या थी। कर्ण समान्यतः इस तथ्य को समझ नहीं सका और शायद जीवन भर भी उस कृत्य को कृपा ही समझता रहा नहीं तो वह इस प्रकार चकित न रह जाता। दिनकर ने की बालू में सीपी ढूढ़ने वाले बालक को रत्न दिया और वह चकित रह गया।

१—इसका आधार आज का दृष्टिकोण है मैं उस नियम की आड़ लेकर बात नहीं कर रहा हूँ जिसके द्वारा राजाओं को सभी काम शोभा देदे और उनके सौभ काम क्षम्य समझे जाते हैं। शायद उस दृष्टिकोण से देखने से अर्जुन क्षम्य हो, परन्तु आज का नैतिक स्तर तो उन्हें उचित नहीं हो समझेगा।

कर्ण चकित रह गया सुयोधन की इस परम कृपा से,
फूट पड़ा मारे कृतज्ञता के भर उसे भुजा से।
दुर्योधन ने हृदय लगाकर कहा बन्धु ! हो शान्त,
मेरे इस क्षुद्रोपहार से क्यों होता उद्‌भ्रान्त।

दुर्योधन की दया पाते ही कर्ण पूजा जाने लगा। जनता उसे पूजने लगी पुरवासी उसे घेरकर खड़े हो गये। इसमे कोई सन्देह नहीं कि पुरवासियो ने कर्ण के कौशल को देखा था, उसकी वीरतापूर्ण ललकार को सुना था, वास्तव मे कर्ण को मैं तब जनता का प्रिय नायक मानता जब उसे जनता ने पहले ही (राज्य मिलने के पूर्व ही) पूजा होता। जनता यदि कर्ण की वीरता को पूजती, कर्ण की आहुतियो को पूजती तो कर्ण गौरव का पात्र था, परन्तु क्या जनता ने इन वस्तुओं को पूजा ? जनता ने कर्ण के शासक घोषित हो जाने पर उसकी पूजा प्रारम्भ की। तुलसी के राम, तब भी पूजे जाते हैं, जब वह शासक नही है। केवट उनकी आराधना करता है, शबरी उनके वन आने के लिए अपने पलको के पावड़े बिछाये रहती है और फिर अयोध्या लौट आने पर वनवासी राम, वन की अवधि समाप्त किये हुए राम, जनता द्वारा पूजे जाते हैं, इसका अर्थ है कि राम का शासन जनता पर नहीं, जनता के हृदय पर था परन्तु कर्ण की पूजा कहाँ हुई ?

रश्मिरथी के चरित्र को अधिक उज्जवल बनाने का उपाय तो कवि ने किया अवश्य है, परन्तु यदि जनता द्वारा ही राजा होने के पूर्व सम्मानित होता तो वह सर्वप्रिय शासक कहा जा सकता था। कवि यदि इसे ऐसा रूप दे देता उसका चरित्र अधिक उज्जवल ज्ञात होता। राजाओ को पूजनेवाली प्रजा तो अपने निकम्मे से निकम्मे और खोटे से खोटे राजाओ को भी पूजती आ रही है परन्तु जागरूकता तब होती जब दुर्योधन के राज्य घोषित करने के पूर्व ही जनता द्वारा कर्ण की पूजा हो जाती वस्तुतः वह पूजा कर्ण की वीरता की होती, उसके राजा होने की नहीं, और कवि तब अपने उद्‌देश्य में पूर्ण सफल हो जाता। कर्ण की वीरता की पूजा यदि जनता द्वारा होती तो उसका रोब अधिक गालिब होता। यह पूजा (जो रश्मिरथी में हुई है) वीरता की पूजा नही बल्कि दुर्योधन के द्वारा कर्ण पर राजत्व की लगाई गई मुहर की पूजा है।[1]

कथोपकथन में भी कर्ण का चरित्र संयमी, वीरता से पूर्ण होते हुए भी एक उद्धत स्वभाव के पुरुष की भाँति हो गया है। अर्जुन के कृत्यो को देख करके एका-

---

१—घेर खड़े हो गए कर्ण को, मुदित मुग्ध पुरवासी।
होते ही हैं लोग वीरता पूजन के अभिलाषी (१)
चाहे हो इस मिथ्या ईर्ष्या अभिमान,
जनता निज आराध्य वीर को पर लेती पहचान। पृष्ठ ७, [illegible]

एक रंगस्थल मे फूट पडना और यह कहना कि अर्जुन ने जो कुछ कर दिखाया है वह मै भी कर सकता हूँ, कुछ गौरवमय नही प्रतीत होता। एक पहलवान को अखाड़े में लडते हुए देख करके यदि उससे बड़ा पहलवान उसे ललकारता है वह ठीक है, परन्तु जनता के सामने आकर कह देना कि मै भी इस पहलवान के समान लड सकता हूँ, व्यायाम कर सकता हूँ, यह तो खोखले अहम् के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ भी नही प्रतीत होता। एक दूसरा स्थल और लें, कुन्ती और कर्ण का संवाद। इस स्थल पर कवि भूल गया है कि माता और पुत्र का संवाद है, (सवाद में, स्नेह का दोनों ओर से अधिकाधिक पुट रहना चाहिए था, इससे ठीक विपरीत पुत्र अपनी माता के कुकृत्यो का विवरण देना चाहता है, और स्त्रीत्व को भी ललकारता है—

शायद टूटता समाज वज्र बन तुम पर,
शायद घिरते दुख के कराल घन तुम पर,
शायद वियुक्त होना पड़ता परिजन से,
शायद चल देना पड़ता तुम्हे भुवन से।
पर सह विपत्ति की मार अड़ी रहती तुम,
जग के सम्मुख निर्भीक खड़ी रहती तुम,
पी सुधा, जहर को देख नही अकुलाती,
था किया प्यार तो बढ़कर मोल चुकाती।

अन्तिम पक्ति मे कवि का सारा जलता ओज और क्रोध समाज के प्रति बिखरा है। कवि को इस पंक्ति को लिखते समय, समाज की सारी दुर्बलताएँ याद पड गई होंगी, कुन्ती एक साधारण नारी की भाँति सामने आ पड़ी होगी तब कर्ण का स्थान स्वयं कवि की अनुभूति ने ग्रहण करके उसे ऐसी फटकार बताई होगी। तव यह पंक्ति "पी सुधा जहर को देख नही अकुलाती" की रचना हुई होगी। बात ठीक है, कवि का पुरुषत्व अपनी सीमा पर है। यदि कुन्ती ने प्रेम किया था, और चाहे वरदान स्वरूप हो, कुन्ती को सूर्य का यह पुत्र प्राप्त हो गया था तो उसका वरदान भी लेती उससे वह घबराई क्यों। यदि समाज सुधारक यह बात कहता तो ठीक भी होता, परन्तु पुत्र, भारतीय संस्कारों में पला हुआ पुत्र कर्ण, अपनी माता से यह बात कहता हुआ कुछ सकोच का अनुभव करेगा। कवि ने अपने स्वाभाविक ओज की धुन मे इसकी चिन्ता नहीं की और पुत्र कर्ण अपनी माता से

पाता। ऐसी प्रवृत्तियां हम प्रारम्भ से ही कवि में देखते आए हैं। इसमें सन्देह नहीं कवि में पौरुष है समाज की दुर्बलताओ को देखते ही वह भभक उठता है, उसके शरीर में ऊफान आ जाता है, इस तथ्य को दिनकर अपने व्यक्तित्व से अलग कर भी नही सके। यही कारण है कि औचित्य की ओर ध्यान कवि का कम जाकर कर्तव्य की ओर जाता है। कुन्ती कर्ण की माता थी, वहाँ कवि के सामने से माता और पुत्र का वह स्थूल रूप मिट गया और आ गया एक समाज के द्वारा शापित-तापित मनुष्य का रूप और वह था कर्ण, उसे शापित और दूसरा जिसके कारण यह शाप सहना पड़ा, फिर क्या था कवि की सभी सहानुभूति कर्ण पा गया और क्रोध कुन्ती। बिचारी भारतीय सस्कारों में पली माता कुन्ती इसका क्या उत्तर देती कि 'था किया प्रेम तो बढकर मोल चुकाती'। वह एकटक हतप्रभ हो तपस्वी कर्ण के इस अस्वाभाविक वार्ता को सुनती ही रह गई होगी और उसे आश्चर्य हुआ होगा कि तपस्वी बालक कर्ण इतना आधुनिक कैसे हो गया जो अपनी माता की भर्त्सना कर गया।

गीतों में कवि का मूल्यांकन

कुरुक्षेत्र तथा रश्मिरथी के अतिरिक्त कवि द्वारा रचित स्फुट गीत और अन्य कविताएँ भी है जिनमें उनके व्यक्तित्व का बहुत सा रूप स्पष्ट हो जाता है। उनकी स्फुट कविताओं मे प्राय: निम्न प्रकार की धारणायें हमें मिल जाती है।

१—ऐसी धारणायें जिनमे देश के प्रति, दुखियो तथा दुर्बलो के प्रति कवि अपनी अनुभूतियाँ व्यक्त कर देता है।

२—व्यँग प्रधान रचनाये—व्यंग में भी अनुभूतियों का नुकीलापन चुभता प्रतीत होता है।

कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उत्तेजनात्मक रहा, ऐसी उत्तेजना जिसमें आलोडन—विलोडन की शक्ति हो—बिम्ब, शब्दों की व्यञ्जनाशक्ति, दिनकर के सम्पूर्ण गीत-काव्य में देखने को मिलती है। शब्दों का उनका अपना चुनाव है। उसी में सम्पूर्ण कला सन्निहित है। वे शब्द, व्यञ्जना और बिम्बो की रचना करते चलते हैं। 'जलता चुम्बन' 'अगारो वाली कविता' 'शीतल प्राण का भटकना 'पीला - पीला चाँद' आदि ऐसे प्रयोग हैं जिनके साथ एक निश्चित भाव का बोध होता चलता है, सामाजिक और काल्पनिक तत्वों का समावेश करके इतिहास का आधार तथा कल्पना का अवलम्ब लेकर कवि जोरदार वातावरण पैदा कर देने में सर्वथा सफल है।

'नीम के पत्ते' कवि के कविताओं की एक पुस्तिका है। इसमें अधिकांश कवितायें देश के प्रति ही हैं नेताओं का वास्तविक स्वरूप उनके प्रति कवि का विश्वास कवि के शब्दो में ही देखिये

टूट चुकी है कड़ी,
एक तूही उसको पहिने बैठा है।
पूजा के ये फूल फेंक दे-
अब देवता नहीं होते हैं
बीत चुके हैं सतयुग, द्वापर
बीत चुका है त्रेता ![१]
नेता ! नेता !! नेता !!!

इन पक्तियो मे एक ओर तो कवि ने बदलते हुए युग की पगध्वनि को पहिचाना है और दूसरी ओर यथार्थ परिस्थितियो तथा एक रूप का वर्णन कर एक सत्य का स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। त्रेता और द्वापर की मान्यतायें आज सर्वथा बदल जानी चाहिए, इसलिए नहीं कि कलयुग है, इसलिए कि अब देवता का कन्सेप्ट बदल चुका है। 'अब देवता नहीं होते हैं' सम्भवतः इस पक्ति के पीछे कवि का तात्पर्य यही रहा हो कि वह देवता का पूर्वस्थापित त्याग तपस्या और बलिदान से युक्त रूप अब रहा ही नही इसी लिए तो वह आगे की पंक्तियों मे स्पष्ट कर देते हैं कि—

हवा देश की बदल गई है
चांद और सूरज दोनों भी
छिपकर नोट जमा करते हैं
और जानता नहीं अभागे
मन्दिर का देवता चोर बाजारी में पकड़ा जाता है।
फूल इसे पहिनाएगा तू ।।[२]

चांद और सूरज जो प्रकाश के पुञ्ज हैं, धरती के सबसे पुराने गवाही देने वाले रहे हैं आज उन पर भी मिट्टी उछाल कर कवि यही स्पष्ट करना चाहता है कि उनकी भांति उज्ज्वल और कीर्तिमान भी अब नोट जमा करने लगे हैं।' बदलती हुई परछाई ही यह स्पष्ट कर देती है कि परछाईं का अवलम्ब, वास्तविकता स्वय बदल रही है, इसीलिए तो परछाईं में भी उसी की रूपरेखा की छाप है। इसी कविता के अन्तिम चरण मे कवि ने अपनी निश्चित सम्मति भी दी है कि जब आज विश्वासों का अम्बार ढहता जा रहा है, हमारे विश्वसनीय अशक्त होते जा रहे है तो स्वय अपने ऊपर ही हमें भरोसा कर लेना है।

उठ मन्दिर के दरवाजे से
जोर लगा खेतो में अपने

---

१ दे० नीम के पत्ते पृष्ठ १७।
२ नीम के पत्ते दिनकर पृष्ठ २८ २९

नेता नहीं भुजा करती है
सत्य सदा जीवन के सपने ।'[१]

दिनकर के काव्य की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने इसका ध्यान रखा है कि उनके गीत जन - जन में गाये जा सकें। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कवि जन - जन की समस्याओं का ध्यान रखे, जब प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही समस्या की झाँकी और उसका निदान गीतो मे मिलेगा तो सभी उसे कण्ठहार की भाँति अपना लेंगे। 'दिनकर' के काव्य मे गहरी अनुभूति है, तुरन्त प्रभाव डालने वाला जादू है, चाहे वह शाश्वत रूप से रहे न रहे। 'सामूहिक गान' के रूप मे एक नया प्रयोग देखिए—

'जियो जियो अय देश ! कि पहरे पर ही जगे हुए है हम
बन पर्वत हर ओर चौकसी में ही लगे हुए हैं हम।
हिन्द सिन्धु की कसम कौन इस पर जहाज ला सकता है ?
सरहद के भीतर कोई दुश्मन कैसे आ सकता है ?
पर की हम कुछ नहीं चाहते अपनी किन्तु बचायेंगे,
जिसकी उँगली उठी उसे हम यमपुर को पहुँचायेंगे।
हम प्रहरी यमराज समान
जियो जियो अय हिन्दुस्तान ॥

इन पक्तियों मे तुरन्त प्रभाव डालने वाला जादू हैं। यह हम इसलिए कहते हैं क्योंकि इनमें मानव की शाश्वत वृत्तियों एवम् समस्या पर कोई बात नही कही गयी है परन्तु उसके लिए तो इन्होने प्रबन्ध काव्यों को चुना है, उनका निर्माण किया है। गीतों में तो एक उमंग की आवृत्ति होती है उमंग शाश्वत कहाँ, उसमे तो क्षणिक रूप से भावों का एक हल्का सा ऊफान है। चीन के आक्रमण पर कविताओ का ढेर लग गया — गालियाँ ही गालियाँ चीन को मिलने लगी—हर गुनगुनाने वाले की लेखनी अकड कर खडी हो गई, परन्तु 'दिनकर' की राष्ट्रीय चेतना ने उसे दूसरे रूप से ग्रहण किया। युद्ध मे प्रत्येक कार्य क्षम्य है (All is fair in love and war) इसी का प्रतिपादन 'दिनकर' ने किया है। युद्ध होता तभी हैं जब मनुष्य अपनी बर्बरता पर उतर आता है उस बर्बरता का उत्तर बर्बरता के साथ ही देना उचित होता है। कोई आँखे तरेरे, लाल किए हुए, दाँत किट किटाता, आप के घर में घुस आये और आप शिष्ट और मित्र रूप से उसे अपने ड्राइग रूम में बैठाये तो यह तो उपहास है। चीन और भारत के युद्ध के मध्य में ही एक स्थान पर नेहरू जी ने कहा था कि युद्ध में भी पशु मत बनो, कवि ने इसी वाक्य को अपनी कविता का प्रमुख विषय बनाया हैं। कवि ने कहा है कि पण्डित जी की बात में ऊँचाई

---

१ मोम के पत्ते पृष्ठ ३९

अवश्य है परन्तु चिन्ता का विषय भी यह है कि समरभूमि में मानव, मानव बन कर रह सकता है ? जिसे नर-पशुओ ने घेर लिया हो वह भला कब तक तुलसी की कण्ठी छू - छू करके वार करेगा ।[१] कवि का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है कि समरभूमि में तो पशु बनना ही पड़ता है. पशु की तरह जो डकार कर, पशु की भाषा में ही न बोल कर वार करेगा वह सफल नही हो सकता ? पण्डित नेहरू के आदर्शों को कवि सम्मान तो देता है परन्तु यह भी तो सत्य है कि—

'बिना हुए पशु आज कौन जीने देता है ?'

इसीलिए कवि को इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि युद्ध क्षेत्र, युद्ध क्षेत्र है वहाँ मानवता का निर्वाह नहीं हो सकता। कवि कह देता है कि—

शुरू हो गया भैंस भैंस का खेल
जानवर तू भी बनले।
पशु की तरह डकार, यही बन की भाषा है,
सिर पर तीखे सींग बांध, बघनखे पहिन ले
सकुच रहा क्या ? बर्बरता का खेल नहीं खुलकर खेलेगा ?
तोड़ेगा सिर नहीं वक्र विषधर भुजग का।
भैंसों की हुर पेट पीठ पर ही झेलेगा ?
तो कहता हूँ सुन रहस्य की बात,
खड्ग सींचा जाता है,
नहीं युद्ध में, गङ्गा के जल की फुहार से,
अजब बात तू लड़े आततायी असुरों से,
निर्भयता से नहीं,
दया, ममता दुलार से ?

इस प्रकार से आदर्शों की रूपरेखा तो कवि के मस्तिष्क में हैं अवश्य, परन्तु स्थल विशेष ही उसके लिए आवश्यक है, खड्गो के खेल के बीच दया, ममता और दुलार को क्या स्थान ? आलोचको ने प्राय: दिनकर को ओज, और उमंगो का

---

१. क्या मनुष्य मानव होकर लड़ने जाता है ?
क्रूर दानवों के दुर्दान्त समूह ने
वको, हिंस्र पशुओ, बाघों के व्यूह ने,
घेर लिया है जिसे, अगर वह नर पशुओं पर
तुलसी की कण्ठी छू छू कर. रो रो कर वार करेगा
पशु की होगी विजय, पराजय मानवता की.
—आवाहन, सम्पादक, रामदास मिश्र 'विजय'
पृष्ठ १९

२ । वे पृष्ठ १९

कवि ही माना है परन्तु इन पंक्तियों मे ओज, उमंग और ललकार के अतिरिक्त एक संदेश भी तो है. वह संदेश है युद्ध के बीच दया और ममता के न पालन करने का। आदर्श ऊँचे हों, उनकी ऊँचाई के कारण हम उनका सम्मान करें, वहाँ तक पहुँचने का प्रयास करे परन्तु यथार्थ की कड़ुवाहट के कारण हम अपनी आँखें नही मूँद सकते।

व्यंग-प्रधान कविताएँ

आदर्श महत्वाकांक्षी है, चरम लक्ष्य है मनुष्य का। कवि तो समाज का वह भावुक प्राणी है जो तर्क-वितर्क से कभी-कभी दूर रहकर भी अपनी भावना का आधार लेकर कल्पना के पंखो पर मँडराकर आदर्श के आसमान मे घूम आना चाहता है। 'दिनकर' की व्यंग-प्रधान रचनाओं के पीछे आधार एक तिलमिलाहट तथा खीज का है, जो उस स्थिति मे पैदा होती है, जब अपने निश्चित आदर्शो से वह जन-समुदाय को नीचे पाते है। यह मानसिक स्थिति की उस विशिष्ट दशा का द्योतक है कि कवि अपने चतुर्दिक वातावरण से ऊबा ऊबा है, उसके आदर्श, जो उसके अनजाने में समुदाय के लिए निश्चित किये गये थे उस आधार से जब वह लोगो को निम्न पाते है तभी व्यंग की सृष्टि होती है। उनकी व्यंग-प्रधान कविता मे, स्वाभाविकता हमे इसीलिए मिलती है क्योकि वह स्वाभाविकता अनुभूति गम्य है। भारत के प्रति कवि की पूर्ण आस्था है।

इसलिए यहाँ यदि कही दुर्व्यवस्था अथवा अभाव उन्हे दृष्टिगत होता है तो उन्हे यह स्वात उकसा देने वाली ही हो जाती है। आजादी की पहली वर्ष गाँठ[1] शीर्षक कविता पूर्ण रूप से व्यंग-प्रधान है। आजादी कवि को प्रिय न हो ऐसी बात नही, उसे प्रिय है, बहुत प्रिय इसीलिए उसकी आजादी में दुर्व्यवस्था करने वाले लोग 'दिनकर' के कवि को किसी भी रूप मे प्रिय नही है। यदि आजादी खादी के कुरते की एक बटन हो, नुकीली तनी हुई टोपी हो, तिरंगे को मोटर मे लगाकर चलने के फैशन तक सीमित हो तो ऐसी आजादी कवि को खोखली ही लगती है।[2] उसकी दृष्टि मे अनुशासन और ईमानदारी का अपना स्थान है। इसी स्थल पर उन्होंने लेट आने वाली गाड़ियो[3] स्कूलो की हड़ताल[4] पर भी भरपूर व्यंग किया है। आज के टोपी तथा कुर्ता धारियो को भी उन्होंने लक्ष्य करके कहा है—

---

१. दे० नीम के पत्ते पृष्ठ १७

२. आजादी खादी के कुर्ते की एक बटन, आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई,
फैशन वालो के लिए नया फैशन निकला, मोटर में बाँधे तीन रंग वाला चिथड़ा,
औ गिनो की आँखें पड़ती हैं कितनी हम पर, हम पर यानी आजादी के पैगम्बर पर!

३. है कहाँ तुम्हारी आजादी क्या? स्कूलो मे, अनुशासन लंगड़ा हुआ जहाँ बिललाता है,
हड़ताल कर्ण भेदी प्रचण्ड कोलाहल में, हैं जहाँ गर्क भावी नेताओं के समूह ?
या उस इन्जिन पर जिसे ड्राइवर बड़ा छोड़ है चला गया   जहाँ कुर्सी कमेटी

४. वही पृष्ठ १८

'टोपी कहती है मैं थली बन सकती हूँ,
कुरता कहता है मुझे बोरियाँ ही कर लो,
ईमान बचा कर कहता है आँखें सबकी-
बिकने को हूँ तैयार खुशी हो जो दे दो !

आज के समाज की प्रत्येक वस्तु बिकने को तैयार है। ईमान की कोई बात ही न रही जो भी हो, जितना भी सस्ता हो, सस्ते से सस्ते मूल्य पर मानव अपने को, अपने ईमान को बेचने पर प्रस्तुत हो जाता है। अन्त में—

बिक रही आग के मोल आज हर जिन्स मगर,
अफसोस, आदमीयत की ही कीमत न रही ![1]

इसके अतिरिक्त और भी ऐसे कई स्थल हैं जहाँ कवि की सहज भावुकता देश की दयनीय स्थिति पर अथवा प्राप्त की हुई आजादी के निर्वाह करने पर तथा उस आजादी को शाश्वत बनाए रखने पर उमड पड़ी है। कवि देश की जनता से सीधा-सीधा सा प्रश्न पूँछ बैठना है—

स्वाधीन हुआ किस लिए ? गर्व से ऊपर शीश उठाने को ?
पशु के समान अथवा खूँटे पर घास पेट भर खाने को ?
उस रोटी को धिक्कार बचे जिससे मनुष्य का मान नहीं,
खा जिसे गरुड की पांखो में रह पाती मुक्त उड़ान नहीं !!

यद्यपि ऊपर की पंक्तियों मे आवेश है तथा भावना का पूर्ण निर्वाह है। इतना होते हुए भी इस का अर्थ तो है ही, महत्व तो है ही। मानव समाज के बीच ऐसी पंक्तियाँ ही तो कभी-कभी जागरण और प्रकाश देती आयी हैं। ऐसी रोटी-दासता की उस शृंखला की भाँति है जिसे पहनने के पश्चात् 'गरुड की मुक्त उड़ान' समाप्त हो जाय, चाहे जितनी भी मिलें, शृंखला चाहे कैसी भी, स्वर्ण की हो परन्तु 'मुक्त उड़ान' से बढ़कर सोने का मूल्य और रोटी का मूल्य नही है।

इस प्रकार से हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि 'दिनकर' के काव्य मे व्यंग कहीं-कहीं बहुत ओजपूर्ण है ऐसा लगता है कि उसके निर्माण करने में कवि ने अपनी समस्त शक्ति, अपने शब्दों को समस्त जादू —जोश भरा जादू, शब्दों के मध्य उडेल दिया हो, इन कारणों पर पहिले ही संकेत किया जा चुका है। भगवान पर विश्वास की वास्तविक स्थिति भी उन्होने भली-भाँति समझी है। साधना, तपस्या, फकीरी ये सब कुछ, एक ओर दूसरी ओर मनुज का अपना स्वार्थ इतना प्रबल हो जाता है कि वह सम्पूर्ण साधना, भगवान के प्रति अपने विश्वासों को वह तोड़ भी देता है।

'लोगे कोई भगवान, टके में दो दूँगा,
लोगे कोई भगवान बड़ा अलबेला है,

---

१ वही पृष्ठ १८

साधना फकीरी और नहीं, खाओ, पियो,
भगवान नहीं असली सोने का ढ़ेला है ।'[१]

कवि की मनोदशा का ही वह चित्र है जिसमे उसके हृदय के सिंचित भाव उभर आते हैं। भगवान के स्थान पर अथवा नाम पर आभा स्वर्ण की ही उपासना तो सर्वोपरि हो गई है। कवि को इसी रूप मे, बोलने के इसी ढंग से सँतोष मिलता है[२] क्योंकि उसकी बेचैनी समाज की विकृतियो को समाप्त कर देना चाहती है। उनके गीतो मे व्यंग और उसकी चुभन इसीलिए अधिक है।

---

१. धूप और धुँआ--भगवान की बिक्री पृष्ठ १९
२. यह इसलिए कि मैं देखता हूँ कि इधर मेरे लिखने की तर्ज कुछ बदली हुई है और यह नयी तर्ज मेरी वर्तमान मनोदशा के मुआफिक भी आ रही है। यह प्रयोग है, या प्रगति मैं नहीं बता सकता। निश्चय पूर्वक मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आजकल इसी लहजे में बोलने में कुछ संतोष का अनुभव करता हूँ।"

धूप और धुआँ के दो शब्द से

सन्त काव्य और प्रेम काव्य का धरातल

हिन्दी साहित्य के काल विभाजन एवम् उन कालों के नामकरण के पीछे एक स्वस्थ पृष्ठभूमि है। अपभ्रंश एवम् प्राचीन हिन्दी का इतिहास ९वीं शताब्दी से ही प्राप्त होने लगता है, परन्तु उसका निखरा हुआ स्वरूप, जिसके आधार पर हम किसी युग विशेष की व्याख्या कर सकते हैं तेरहवीं सदी मे जाकर स्पष्ट होता है। यह एक ऐसा युग रहा है जब हिन्दी की मनोभूमि तैयार की जा रही थी। मनोभूमि से तात्पर्य आन्तरिक जगत से है, जिसपर बाह्य-तथ्यो का प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार से वही आन्तरिक जगत ही उस काल के काव्य की आत्मा बन जाती है। 'सन्त काव्य' जैसा नाम से ही स्पष्ट है सन्तों का काव्य था। सन्त धार्मिक जगत के वासी थे और अपने अनुभव के आधार पर ही मानवता के हित के लिए कुछ सिद्धान्तो को मान्य करते चलते थे, वही सिद्धान्त राग का आधार लेकर काव्य के रूप मे परिणत हो जाते थे। इसीलिए हिन्दी के ऐसे काव्य का नाम सन्त अथवा भक्ति काल ही पड़ा जिसमे सन्तों की बानियाँ, ईश्वर का अलौकिक सानिध्य, दाम्पत्य-भाव का प्रदर्शन, आदि तथ्य बहुतायत से मिलते है। सन्त-काव्य का नामकरण इतिहास मे अपनी एक विशेष महत्ता रखता है—इतिहास के नामकरण के पीछे उस युग की आत्मा और प्रखर शक्ति ही प्रेरक रहा करती है। वीरगाथा काल, वीरता की कहानियो और वीरों के गुणगान का काल था, अतएव ऐसे काल को वीरगाथा काल का नाम दे दिया गया सन्त काव्य से भी तात्पर्य ऐसे सभी सन्तमतों से है जिसके द्वारा उस युग की विशेषता लक्षित होती है, साहित्य का मूल तत्व दार्शनिक सन्तो के विचारो तक ही सीमित रहा, अतएव ऐसे काव्य का सन्त का काव्य नाम दे दिया गया।

सन्त-काव्य के प्रारम्भ तक जाने के लिए हमे ९वीं सदी तक अपने को खीच ले जाना है। इस समय बौद्धों की और सिद्धो की रचनायें, दर्शन और धर्म प्रधान हैं। यद्यपि सन्तकवि की रचनाओ मे हमें धार्मिक प्रेरणा ही मिलती है परन्तु उस प्रेरणा में संकीर्णता नही आ पाई है, उपदेश ही प्रधान है। अतएव साहित्य सृष्टि की योजना न रखते हुए, सन्तों ने उपदेशात्मक प्रवृत्ति के द्वारा साहित्य सृष्टि की है उपदेश के पीछे उनकी मानव हित की भावना ही छिपी हुई मिलती है सम्पूर्ण को बुद्ध और सिद्धा का सन्देश

की राजनीति पर इनका आक्षेप नही परन्तु सामाजिक कुरीतियों को दबाने की चेष्टा कुछ सन्तो ने अवश्य किया है, और निर्गुणियो को छोड करके सगुण उपासको ने अपनी उपासना का केन्द्र राम अथवा कृष्ण तक सीमित रखा और उन्ही का चरित्र गुणगान, आदि करते रहे। राम और कृष्ण की उपासना के पीछे उस युग के आदर्श छिपे हुए थे और आदर्श का तात्पर्य ही एक युग विशेष के अभाव पर आश्रित कुछ सैद्धान्तिक सकेतों का हुआ करता है जिसको पालन करने से अन्तश्चेतना में एक विकास होता है। अतएव सन्त काल ऐसे आदर्शो का पुञ्ज रहा है जो जीवन को विकसित करने का आध्यात्मिक मार्ग था।

सन्त काव्य का मनोभाव :—

सन्त साहित्य उपदेशात्मक रहा है। विक्रम की पन्द्रहवी सदी कबीर और उनके समसामयिक सन्तों का काल एक परम्परा स्थापित करता चलता है। परम्परा से तात्पर्य ऐसे सिद्धान्तो से है जो कि एक पीढ़ी द्वारा मान्य हुए और अनेक अनुगामी पीढियो द्वारा जिसको माना गया। कबीर का विचार एक क्रान्तिमय विचार रहा है। इसका कारण है, कबीर की रचनाएँ मस्तिष्क पर उतना प्रभाव न करके हृदय मे सीधी पैठती जाती हैं कारण है कबीर का पढे-लिखे न होना। समाज की नसो मे प्रवेश करके कबीर उसके रक्त बन गए थे अतएव उन्हे अपनी अनुभूति द्वारा यह स्पष्ट होता चलता था कि समाज की धमनियो मे कैसे रक्त का संचालन हो रहा है यह ऐसा ही सन्धि स्थल है जहाँ वाह्य जीवन आन्तरिक जीवन से मेल कर लेता है कबीर का आन्तरिक पक्ष जहाँ वाह्य जीवन से मिल जाता है वही अनुभूतियो से विवश होकर वह चीत्कार कर बैठता है। अनुभूति पक्ष अधिक प्रबल होने के कारण वह यथार्थ प्रवृत्ति ही साहित्य के मूल रूप की स्थापना की कसौटी बन गई। सन्तो ने साहित्य रचा नहीं, उनका उद्देश्य साहित्य सृष्टि का नही रहा है उनका उद्देश्य उपदेश देना रहा है। ऐसा उपदेश जिससे जनजीवन में एक चेतना और जागृति का उदय हो। इन उपदेशों मे प्रधान है।

१. दाम्पत्व भाव

२. उल्टवासियाँ

३ प्रकृतिचित्रण।

सन्तों के साहित्य में दाम्पत्य भाव एक विशिष्ट स्थान रखता है। साध्य और साधक को अधिक निकट लाने के लिए और साधक की भावनाओं को आत्मसात् करा लेने के लिए ब्रह्म अथवा ईश्वर को साध्य रूप में मानते हुए कही तो प्रेमी के रूप में कहीं प्रेमिका के रूप मे माना गया है। यह परम्परा हमारे यहाँ की नवीन नहीं, पहले से ही चली आती रही है। भक्त कवयित्री गोदा की रचनाओं से प्रकट होता है कैसे उन्होंने अपने देव को वरण कर लिया हो अपने पकड़ने पर

नन्दलाल' से तात्पर्य क्या है मीरा का स्त्रीत्व स्त्रीत्व से ऊपर उठ करके भक्त के उस आवेशात्मक दशा मे आ गया है जहाँ समाज का बन्धन इतना दृढ नही, जहाँ मान्यताओं को सीमित करके नही देखा गया और ऐसा बिन्दु वही है जहाँ अपना व्यक्तित्व कुछ है ही नही, जो भी है ईश्वर का स्वरूप है, जिसके प्रकाशमे और जिसके प्रभाव से भक्ति 'गूँगे का गुड' बन जाती है।[1]

अविगत अकथ अनूप देखा, कहत कह्या न जाई।
सैन करे मन ही मन रहसै, गूँगै जानि मिठाई॥

× × ×

आपै में तब आपा निरष्या, अपन पै आपा सूझ्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपना, अपन पै आया बूझ्या॥

अन्त मे भक्त कवि रैदास के अनुसार इस दशा में पूर्ण पूर्व शान्तिमय सन्तोष की भी स्थिति आ जाती है और तब उस परम तत्व विषयक भजनादि की भी कोई आवश्यकता नही रह जाती—

जब तक है यह तन की आशा, तब लग करै पुकारा।
जब मन मिल्यौ आस नहीं तन, की तब को गावन हारा॥

अतएव सन्तो ने, भक्ति मे एक ऐसी भी स्थिति मानी है जब तन की आशा बिल्कुल रह ही नही जाती। यह स्थिति वह है जब शारीरिक कष्ट समाप्त हो जाता है यह मन का विकास माना गया है, मन जब विकसित है, जब उसको सानिध्य प्राप्त हो चुका है तब (शरीर) की आवश्यकता ही क्या। ऐसा सम्पूर्ण वर्णन दाम्पत्य भाव के अन्तर्गत आ जाता है एवं सांसारिक स्थिति को रूपक मान करके आत्मा और परमात्मा का मिलन बड़े ही स्वाभाविक ढंग से दिखलाया गया है संक्षेप में कबीर[2] ने अपने साहित्य में इस भाव का स्पष्टीकरण किया है औरआगे चल करके सूफी कवि भी इससे प्रभावित रहे हैं जिनके ऊपर पाश्चात्य प्रभाव

---

१. कबीर ग्रन्थावली (का० ना० प्र० सभा) पद ६, पृष्ठ ९०

२. भक्त का स्त्री रूप में अपने को स्वीकार करने के उदाहरण—

पुरुष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग,
जे जे जैसी ताहि सों, वे लै तिसही रंग।

दादू दयाल की वाणी (अंगवधू) पृष्ठ ३४

दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।

आदि

भनति नानकु सभना का पिरु एको सोई,
जिसनो नदरि करे सा सोहागणि होई।

आदि ग्रन्थ पृष्ठ ३५१

स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह तो आध्यात्मिक पक्ष की बात रही। कबीर आध्यात्मकवादी होने के साथ ही साथ लोकवादी (लोक के विषय में सोचने वाले) भी रहे है। सन्तो के बीच मे ही कुछ ऐसा सन्त समूह भी था (जिसमे निर्गुणियें प्रधान हैं) जो इस लोक और परलोक दोनो की बात करते थे इस संसार से पराङ्मुख होना उनका सिद्धान्त न था परन्तु इस संसार पर से आस्था हटा लेना इनके विचार मे तर्क सगत प्रतीत होता था। भक्ति का क्षेत्र भी मनुष्य के लिए तभी सुगम्य हो सकता है जब वह पेट की पूर्ति कर सके, सन्तो ने इसका अनुभव भी किया है।

भूखे भगति न कीजै, यह माला अपनी लीजै।
हौं माँगों सतन रेना, मैं नाही किसी का देना।
माधौ, कैसी बने तुम सँगे, आपन देहु त लेवउमँगे,
दुइ सेर माँगहु चूना, पाउ घीउ सग लूना।
अध सेर मागे दालो, सोको दोनों बखत जिवाले॥
खाट माँगउ चउपाई, सिरहाना अवर बुलाई,
ऊपर कउ माँगउ खीधा, तेरी भगति करै जनु बीधा,
मैं नाही कीला लवौ, ईकु नाउ तेरा फवौ,
कहि कबीर मनु मान्या, मनु मान्या तौ हरि जान्या।

कबीर भूखा रह करके भक्ति नहीं कर सकता, भूखा रहने की अपेक्षा वह माला ही लौटा देना चाहता है। वह सन्तो के चरणो की धूल चाहता है। वह भक्त साहसी भी तो है। सन्तो की मस्ती, लीक तोड़ करके चलने की भावना, स्पष्टवादिता कबीर का गुण रहा है, यही तथ्य उसके व्यक्तित्व के द्योतक है। वह स्पष्ट कहता है कि माधो ! हमारी तुम्हारी निभैगी नहीं, यदि तुम अपने आप हमको कुछ नही दोगे तो माँगना ही पड़ेगा। कबीर की यह स्पष्टवादिता उनके भक्ति की कसौटी बन गई थी।

इस प्रकार से सन्तों के सोचने का ढंग, उनका सन्देश, तथा उनका दर्शन युग के लिए माकूल था। उनका मनोभाव जीवन के प्रति विराग, घृणा पैदा करने मे सीमित नही था वरन् जीवन के प्रति एक अनुराग और उसके सच्चे महत्व को स्पष्ट करने मे था। जीवन के प्रति वे आसक्त अवश्य नही हो पाए हैं क्योकि आसक्ति सकीर्णता की निशानी है और वह उनके व्यापक दृष्टिकोण मे बाधा उत्पन्न करती। सवत् १५५० तक के सन्तो मे एक विशेषता यह है कि उनका व्यक्तित्व अनुभूतियो अनुशीलन एवम् चिन्तन पर आधारित व्यक्तित्व, किसी भी पूर्ववर्ती सन्त-दर्शन से प्रभावित नही था। वे अपने ही अनुभव पर सोचते थे, उनका कोई समुदाय नही था, सम्प्रदाय नही था यदि था तो केवल व्यक्तिगत, चिन्तन और स्वानुभूति पर आधारित कुछ अनुभव जो उनके काव्य का आधार था चाहे उसको उन्होंने उपदेश के रूप में कहा चाहे भजन के रूप में। निर्गुनवादी कबीर नाम और ज्ञान को ही

सर्वोपरि मानते थे। उन्होने रूढियों का खण्डन किया—रूढ़ियों से तात्पर्य उस समय के प्रचलित रीतियों से है जो लोक भावों से दब कर झुक गई थी, कबीर ने ऐसा मिथ्याडम्बर का विरोध तो किया ही—यह सामाजिक चेतना के फलस्वरूप ही हुआ। कबीर के सिद्धान्त धार्मिक और सामाजिक चेतना के ही द्योतक हैं। जाति-पाँति की समस्या, बडे और छोटेपन के आधार पर आपसी द्वेष बढ़ गया था—कबीर के अक्खड़पन ने इस पंक्ति का सृजन किया।

तू बांभन मै काशी का जुलाहा बूझो मोर ग्याना।

कबीर के साहित्य में 'नाम' का अधिक महत्व है। नाम से तात्पर्य उस अनादि से है जो सबको प्रेरणा देता चलता है। इन पर शङ्करवाद का पूरा प्रभाव था और वे जीव ब्रह्म की पूर्ण एकता पर विश्वास करते थे। निर्गुणवादी होने के नाते इनके राम नाम का मर्म भी 'ज्ञान' है। इसके अतिरिक्त सारा ज्ञान, और श्रद्धा 'गुरु' शब्द पर आकर केन्द्रित हो जाती है। भक्ति काल संघर्षों का काल होते हुए भी श्रद्धा का ही काल रहा है नास्तिकता इसमे आई परन्तु श्रद्धा का हनन करके नही, उस पर घोर विश्वास करके, इसलिए निर्गुणवादियो मे भी गुरु का महत्व है।[१] इन्होने जीवन की पाठशाला से बहुत कुछ सीखा और ऐसी सीख पर जोर भी दिया जो वास्तविक अनुभव के आधार पर आधारित हो[२] जिसमे केवल रटी रटाई बातें न हो, ऐसी अनभूतियो के आधार पर हिन्दी साहित्य आकर निखरता रहा।

कबीर के इन्हीं विचारों को उनके उत्तराधिकारी धर्मदास भी लेकर आगे बढे। धर्मदास पहले सगुणोपासक थे पीछे इन्होने निर्गुण पथ मे दीक्षा ली। इनके पदो की भाषा, भाव और छन्द शैली मे भी कबीर की ही छाप मिलती है।[३] कहने

---

१. गुरु गोविन्द तो एक हैं दूजा यह आकार,
आप मेट जीवन मरे तो पावै करतार।
कबिरा हम गुरु रस पिया बाकी रही न छाक
पाका कलस कुभाँर का बहुरि न चढई चाक।

२. कबीर पढ़ना दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ,
बावन आखर सोधि कर, ररै ममै चितलाइ।
कबीर माला मन की और ससारी भेष,
माला पहिरियाँ हरि मिले, तो अरहट के गलि देख। कबीर वचनावली

३. झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै खन बिजली चमकै लहर उठै शोभा बरनि जाय,
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम आनन्द ह्वै साधु नहाय,
खुली किवरिया मिटी अँधियरिया धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
विनवै कर जोरे सतगुरु चरन मे रहना समाय

का तात्पर्य यही कि निर्गुणकाल, अनुभवों पर आधारित कविताओ के सृजन का काल रहा है। समाज की त्रुटियाँ उसके अभाव, विषमताएँ इस युग के 'बेपढ़' कवि को प्रेरित करती रही हैं कि वह कुछ लिखे---इस अवस्था में उसने जो कुछ भी लिखा अथवा लिखवाया, वह अमर हुआ, इसका कारण यही था कि वह किसी पुस्तक की रटी हुई वस्तु नहीं थी, अनुभव की हुई चीज थी, अनुभूतियों का अवलम्ब पाकर वह पंक्तियाँ काव्य के रूप में होकर वह समाज को संदेश देने लगी।

भक्ति का दूसरा मोड़ प्रेममार्गी शाखा तक जाकर हुआ। हिन्दू और मुसलमान सस्कृतियो का सम्मिलन ही भारतीय प्रेमकाव्य का मुख्य तत्व है। मुसलमानी शासन के पश्चात् दोनों शक्तियो का सम्मिलन हो जाना ही उस युग के प्रगति की निशानी थी। दोनों सिद्धान्त एवम् दर्शनो को मानने वाली जनता के बीच केवल वही काव्यमत प्रचलित हो सकता था जो दोनों के हित एवम् लोकाचार के बातो का प्रदर्शन करता। प्रेमकाव्य का आधार ऐसा ही है। इस काव्य की समस्त कथा हिन्दू पात्रों के जीवन में घटित होती है। उदाहरण के लिए हम जायसी के 'पद्मावत' को ही लें। पद्मावत की सम्पूर्ण कथा मे वातावरण शुद्ध हिन्दुओं का सा है। इसके प्राकृतिक वर्णन मे भी हिन्दुस्तान के ही अवलम्ब लिये गए है। वर्षा का वियोग, जाड़े में एकाकीपन का खलना, विरहणी का जल मरना[1] आदि भारतीय वातावरण का ही द्योतक है। मसनवी की प्रेम-पद्धति को भी इसी कहानी मे मिला दिया है। राजा का बेहोश हो जाना,[2] विरह मे व्याकुल और विक्षिप्तो की भाँति हो जाना, ये सभी प्रवृतियाँ मसनवी प्रेम पद्धति से मिलती-जुलती है। किन्ही किन्ही स्थानों पर तो जायसी कबीर की भाँति हिन्दू मुसलमान के मेल कराने पर तुल जाते है। हिन्दू पात्रों के जीवन को उन्होने सूफी सिद्धान्तों से बाँधने की की चेष्टा भी की है। 'अखरावट' मे एक ओर सूफीमत का वर्णन है दूसरी ओर वेदान्त का।[3] जायसी ने अपने काव्यों को कथावस्तु मे ऐसा ही सम्मिलन किया है,

---

१ जाल कथा भइ कंत सनेहा, तोला माँस रहा नहि देहा! [पदमावत जायसी

२. सुनतहि राजा जा मुरछाई, जानो लहरि सुरुज कै आई,
प्रेम-धाव दुख जानि न कोई, जेहि जानै लागै पै सोई,
परा सो प्रेम समुद्र अपारा, लहरहि लहर होइ बिस भारा, [पद्मावत पृष्ठ ५३

३. ना नमाडा है दीन क थूनी, पढ़ै नमाज सोइ बड तूनी,
कहो सटीअल चिसती पीरू, उघरित असरफ औ जहगीर
तेहि कै नॅव चड़ा हौ धाई, देखि समुद्र जल जिउन डेराई, [सूफीमत—३५३
तथा—मायाजारि अस आपुहि खोई, रहै न पाप, मैलि गई धोई,
औ दूसर भा सुझहि सुझ_ कहँ कर पाप कहाँ कर पुन्न_
आपुहि गुरु आप भा चेला आपुहि सब आ आप अकेला

यही कारण है कि उनका काव्य धार्मिकता के संकीर्ण वृत से ऊपर उठ कर जन-जीवन का हो गया। हिन्दू धर्म अथवा उस समय के प्रचलित किसी धर्म के लिए उनके हृदय में न तो श्रद्धा ही है न तो अपमान ही। अपने साहित्य द्वारा सूफीमत के उपदेशों का प्रचार करना भी इनका ध्येय नहीं रहा है, हाँ आधार वह अवश्य है। सम्पूर्ण कथा को एक प्रेम का स्वरूप प्रदान करके इस भारत में शुद्ध प्रेम का सदेश भी दिया गया है, साधक के लिए साधना का महत्व है और वह महत्व उसे अपनी ही दृष्टि मे उठा देता है। सूफी काल का वर्णन आदि से अन्त तक हिन्दू वातावरण मे हुआ है। सुआ, रानी नागमती, रतनसेन में सभी पात्र आध्यात्मिक अभिव्यजना प्रस्तुत करते चलते हैं। कथा की समाप्ति पर सूफी मत का प्रभाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है, भारतीय और सूफी मत की चिन्तनधारा के मिश्रण का यह सगम स्थल है।

इस बात की ओर तो हम ऊपर ही संकेत कर चुके हैं कि मुसलमान सूफियों पर हिन्दू वेदान्तियो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सूफी धर्म सम्प्रदाय के रूप मे आया।[1] डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इस धर्म को सम्प्रदायों के रूप में ही माना है और इसका विविध रूप, समय-समय पर भारत के कोनो में फैलता रहा है। सूफी धर्म ने इस्लाम धर्म के अधूरे कार्य को पूरा करना चाहा और इसमे सन्देह नहीं कि प्रेम, विश्वास और आस्था के आधार पर ये धर्मावलम्बी इस्लाम को बहुत प्रचलित कर पाये। अपने वर्ताव और सात्विक तत्व-बोध के कारण ये दूसरे को और भारत कीआध्यात्म और अहिंसावादी जनता को शीघ्र ही प्रभावित कर सके सूफी धर्म के चार सम्प्रदाय थे, इस बात की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है परन्तु इन चारो सम्प्रदायों में मौलिक एकता थी, ईश्वर की एकता और सर्वोपरिता पर इन सभीका विश्वास था। केवल ऊपरी धर्माचरण में अन्तर है[2] इसके अतिरिक्त भारत में इतनी शीघ्रता से प्रचलित हो जाने का कारण एक और था वह था सूफी

---

१. १. चिश्ती सम्प्रदाय—सन् बारहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध
२ सुहरावर्दी सम्दाय—सन् तेरहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध
३. कादरी सम्प्रदाय—सन् पन्द्रहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध
४ नक्शबंदी सम्प्रदाय—सन् सोलहवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध

२. कहीं ईश्वर के गुण जोर से गाये जाते हैं। कहीं मौन रूप से स्मरण किये जाते हैं कहीं गा कर कहे जाते हैं इत्यादि। चिश्ती और कादिरी सम्प्रदाय में संगीत का जो महत्व है वह सुहरावर्दी और नक्शबंदी सम्प्रदाय में नहीं है। पिछले सम्प्रदायों में नृत्य और संगीत धार्मिक भावना से अनुचित समझे गये हैं अन्यथा ईश्वर की उपासना के सरलतम मार्ग की शिक्षा सम्प्रदायों समान रूप से एक है

धर्म मे धार्मिक एकता के अतिरिक्त सामाजिक एकता और समता । सनातन मत के जात पाँत के कड़े बन्धनों के कारण और सामाजिको में जाति भेद के अन्तर के कारण हिन्दू जनता कुछ क्षुब्ध थी, इस असन्तोष का कारण मनोवैज्ञानिक सत्यता के आधार पर भी था । सूफी धर्म ने इस जातीयता और आपसी भेद भाव को हटा दिया, इस लिए हिन्दू धर्म के विविध वर्णों के असन्तुष्ट सदस्य, इस्लाम के अन्तर्गत प्रसन्नतापूर्वक आ गए ।

सूफी मत का यह दृष्टिकोण युग की अखण्डता को रखते हुए युगानुकूल था। सात्विक जीवन की समस्त सुविधाओं से भरपूर तथा समाज में वर्ग भेद को तोड कर समाधिकारी होने का प्रलोभन हिन्दू जनता को प्रिय लगा ।

प्रेम मार्गी कवियो के पश्चात शुद्ध भारतीय तत्व-ज्ञान एवम् भक्ति से प्रभावित राम काव्य का विकास हुआ। उत्तरी भारत मे राम काव्य के प्रचार का सम्पूर्ण श्रेय रामानन्द जी को दिया जाता है । अब तक राम चरित्र का विकास न होने के कारणो मे से एक यह भी था कि राम काव्य संस्कृत में था । रामानन्द ने संस्कृत के साथ जन-समाज की बोली में राम चरित्र का उद्घाटन किया । रामानन्द के दार्शनिक एवम् सामाजिक उपदेशो ने उस जीवन के आदर्श कवि तुलसी का निर्माण किया । राम भक्ति का विकास ही हमें इस ओर सकेत करता है कि लौकिक जीवन मे आदर्शों की कितनी महत्ता है । उस समय की परिस्थितियो के अनुसार यह इतिहास हमे बतलाता है कि जन जीवन बड़ा ही दयनीय हो गया था—आपसी सम्बन्ध श्रद्धा एवम् भक्ति. राज्य प्राप्ति के लोलुप-विचारो एवम् सघर्षो में दब कर कराह रहे थे । बेकारी और जीविका विहीनी लोगो को पंगुल कर दे रही थी, तुलसी साहित्य में ही तदकालीन परिस्थिति का आभास होता है ।[1] जाति-पाँति का बन्धन जो हिन्दू जनता मे बहुत ही तीव्र था और उस तीव्रता ने हिन्दू धर्म के ह्रास में भी

---

१. ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटी को ।
(तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खण्ड, दोहावली पृष्ठ ११४)

या

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी,
जीविका विहीन लोग सीयमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाइ का करि ।'
(कवितावली पृष्ठ २२५)

या

करि<del></del>री कुमारी देखि सूपुर भिखारी मोर
छेम मोह काम कोह कलिमल घेरे हैं ।

बड़ी सहायता की, इसका समूल मूलोच्छेदन तो रामानन्द अथवा तुलसी नहीं कर सकें, हाँ इतना अवश्य हुआ कि उस बन्धन में जो तीव्रता थी, कटुता थी, जिससे निम्न जाति के लोग भक्ति करने के भी अधिकारी नहीं समझे जाते थे, उसे यथा शक्ति कम करने का स्तुत्य प्रयास है।

राम कथा को काव्य के रूप मे वर्णन करने का प्रयास वाल्मीकि ने भी किया। इनकी तिथि ईसा के ६०० या ४०० वर्ष पूर्व मानी जाती है। इनका दृष्टिकोण लौकिक है। राम के चरित्र का वर्णन–क्रमानुसार बतलाया गया, परन्तु वाल्मीकि ने राम को एक युगपुरुष मान लिया है, यही कारण है कि उस ग्रन्थ मे धार्मिक भावोन्मेष एवम् अन्ध विश्वास का दर्शन नही होता ऐसा प्रतीत होता है कि इतिहासकार ने राम के व्यक्तित्व को जैसा का तैसा उठा कर रख दिया हो। राम प्रारम्भ से अन्त तक मानव हैं उनमे देवत्व की छाया अवश्य है। वे धीरोदत्त नायक हैं, महापुरुष हैं, महात्मा हैं। अतएव राम काव्य मे हम यह देखते हैं कि युग की आवश्यकता के अनुसार सामाजिक विघटनों को दूर करने क रूप में तथा जनता के समक्ष एक सुलझा हुआ आदर्श के रूप मे राम चरित उपयोगी सिद्ध हुआ है। हमे रामभक्त कवियों ने, राम चरित को कितना लोकोपयोगी और महान बतलाया है इसी का अध्ययन करना है और राम साहित्य की प्रगति भी इसी दिशा मे निहित है कि इस साहित्य द्वारा सामाजिक परिवर्तन और धार्मिक रूढ़ियों के विश्वास में कितनी कमी हुई।

राम साहित्य में वैष्णव धर्म के आदर्श प्रमुख हैं। इसी कारण सेवक और सेवा भाव पर अधिक बल दिया गया। ज्ञान और कर्म भक्ति के क्षेत्र में कोई विशेष अर्थ नहीं रखते, भक्त अपने सारे दर्शन और बौद्धिकता को विस्मरण कर साधारण जनता के मानसिक स्तर पर आ जाता है वह अपना सब कुछ—अपना सेल्फ, अपना अह्‌म और अपनी सत्ता भी भूल जाता है, अपने आराध्य-देव के चरणों पर उसे अर्पित कर निछावर कर देता है। वैष्णव धर्म मे इसीलिए भक्ति श्रेष्ठ भी मानी गई है क्योंकि उसमें सब कुछ खोकर कुछ न पाने की भावना निहित रहती है। भक्तों की यह भावना जिसमें आत्म-त्याग की इच्छा निहित है, सराहनीय है। तुलसी ऐसे ही दर्शन के कवि थे जिन्होंने अपना सर्वस्व राम के चरणों में निछावर कर दिया।

संत तुलसीदास ने राम चरित्र का आधार लेकर मानव जीवन की व्यापक और सम्पूर्ण व्याख्या की है। इनके आदर्श इतने प्रौढ़ एवम् ठोस धरातल पर आधारित हैं कि विश्व की कोई भी शक्ति और समय का कोई भी अंश उन्हे मिटा नहीं सकता, इसीलिए वह युग-युग के कवि माने जाते हैं। इनकी भक्ति केवल आकाश-विहारिणी ही नहीं है परन्तु जन-जीवन के मिट्टी के धरातल पर उसका आधार है। वह तत्कालीन धर्म [illegible] में पथ-प्रदर्शन करती है। कवि ने अपनी लगभग सभी रचनाओं में उस सन्धि एवम् सुधार का बड़ा ही ध्यान रखा है इस अर्थ में तुलसी

सुधारक भी सिद्ध होते है। 'राम लला नहछू' इसका प्रमाण है। उक्त पुस्तक में विवाह के पूर्व नहछू की क्रिया की लीला गाई गई है। नहछू एक ऐसी रचना है जिसे लोग चलते-फिरते गा सकें और विवाह आदि के अवसरो पर होने वाले अश्लील गीतों का स्थान भी इन्ही सोहरों ने लिया है। जन-साधारण की रुचि के लिए सम्भवतः आवश्यकता से अधिक श्रृङ्गार की भावना निहित है। इसके अतिरिक्त काव्य को (विशेषकर रामचरित को) यह जन साधारण की वस्तु तथा निधि बनाना चाहते थे, संस्कृत की क्लिष्टता के कारण सभी लोग वाल्मीकि का पारायण नहीं कर पाते थे, 'रामचरित मानस' की रचना अवधी में करने का तात्पर्य यही था कि 'सुरसरि सम सब कर हित होई' उन्होने राम की कथा को इतनी व्यापक बना दिया जैसे गंगा का पानी हो उसकी स्वच्छता चाहे जिस किसी के लिए क्यों न हो, स्वच्छता ही मानी जायेगी और सभी को पवित्र करेगी, उसी प्रकार से राम की कथा भी जो सुने उसे हितकर ही सिद्ध होगी। संस्कृत के विद्वानो ने इनका इसी बात पर विरोध किया है परन्तु ये अडिग रहे। तुलसी के सर्वप्रिय होने का यही कारण है, उनकी रामकथा का पाठ झोपड़ियों से महलों तक तथा हाई स्कूल के विद्यार्थी से लेकर एम. ए. तक के विद्यार्थी के लिए उपयुक्त समझा गया। जन कवि का यह एक प्रगतिशील एवम् सफल प्रयोग है तथा प्रमाण भी है।

यह तो तुलसी साहित्य की कथा वस्तु तथा उसके वाह्य कलेवर की मीमांसा रही—अब हमें तुलसी के काव्य के रचना - तत्व पर विचार करना है। तुलसी के पूर्व हिन्दी साहित्य में गीति - काव्य का प्रचलन नही था, यद्यपि विद्यापति और कबीर ने गीति-काव्य में ही अपनी भक्ति - भावना का स्पष्टीकरण किया था, परन्तु उनकी भक्ति - भावना और तुलसी की भक्ति - भावना के स्वरूप मे बहुत अन्तर है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण का श्रृंङ्गारिक वर्णन गीति - काव्य के अन्तर्गत किया-उसमें भक्ति की भावना अधिक नही थी, गीति में राग होने के कारण एन्द्रिय जन्य विचार बडी ही कोमल पदावली में और गतियुक्त (Forceful) शब्दावली में व्यक्त हो जाते हैं—शृंगार सम्बन्धी वर्णन ही इस शैली में अधिक सफल हुए हैं। अतएव विद्यापति पदावली मे भी शृंगारिक भावनाएँ गीत में और राधा कृष्ण का चरित्र-गान पदो मे व्यक्त हुआ है।

कबीर की रचना भक्तिमयी होते हुए भी तुलसी के साकार राम की सुलझी हुई भावना की भाँति निरूपण न कर सकी। आत्म समर्पण जो भक्ति का सर्वस्व है, भक्त जिसके सहारे अपने को भगवान पर निछावर कर देता है, वह आत्म समर्पण की भावना कबीर की भक्ति में नही मिलती।

अतएव तुलसी ने किसी भी पूर्ववर्ती कवि से अपने भक्ति का आदर्श नही उधार लिया, अथवा अनुकारण किया। दास्य की भावना, आत्म समर्पण का विचार सर्वथा मौलिक विचार का जिसने भक्ति के भिन्न क्षेत्र में एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित

किया। विनय पत्रिका इसी दृष्टिकोण का फल है और गीतावली तो रागों का क्रमिक भण्डार है।[1] गुणो मे माधुर्य और प्रसाद का प्राचुर्य्य है। 'विनय पत्रिका' का दृष्टिकोण बहुमुखी है, बहुमुखी इस अर्थ में कि साधना का रूप अनेक प्रकार का है। यद्यपि राम ही सर्व प्रमुख है सम्पूर्ण रचना में केवल एक रस ही पाया जाता है, वह है 'शान्त'। इस रस के कारण और कोई रस की स्वतंत्र रूप से सृष्टि नहीं हो सकी है।

'रामचरितमानस' भी अपने युग की एक बेजोड़ रचना है। राम का सम्पूर्ण चरित सात काण्डों मे विभाजित है। 'मानस' के समस्त छन्द दस हजार हैं। 'रामचरित मानस' की भूमिका में स्व० रामदास गौड़ ने चौपाइयों की संख्या 'सत पँच चौपाई मनोहर' बतलाया है। डा० वर्मा जी ने सत पँच का अर्थ 'सत का अर्थ १०० पँच का पांच लेकर ५१०० माना है। जो सर्वथा उचित लगता है।

इस प्रकार से भक्ति क्षेत्र की रचनाओं में कथावस्तु तथा शैली में नवीन प्रयोग हो रहा था। अब हमें यह देखना है कि तुलसी अपने समय की परिस्थितियों से कितने ऊपर उठे हुए कवि हैं तथा उन्होंने धार्मिक मतभेदों को तटस्थ रहकर कैसे एक सम्यक राह प्रदान किया। अब साहित्यिक प्रगति का तात्पर्य समझाते हुए हम इस ओर संकेत कर चुके हैं कि उच्चकोटि का साहित्य अपने युग की परिस्थिति को पीकर आगे बढ़ता है और वह संदेश इस कोटि का देता है जो जन-जीवन को व्यापक बना कर समय की परिधि को नाँघ कर आगे बढ़ता रहा। तुलसी का दृष्टिकोण चाहे वह धार्मिक हो, साँस्कृतिक अथवा राजनीतिक हो, ऐसा ही रहा है। तुलसी का समय उनकी प्रतिभा और दृष्टिकोण की व्यापकता को नाँपने की कसौटी के रूप में है। मुसलमानो का शासन, और वह शासन भी इस प्रकार का जिसमें हिन्दुओं के प्रति बहुत उदार दृष्टिकोण न हो, धार्मिक सहिष्णुता तो नही ही के बराबर थी, ऐसे समय में तुलसी ने अनेक मतो एवम् पथों से समझौता किया। उनके समय में शैव भक्ति और पुष्टिमार्गी अपने विचारो का प्रचार कर रहे थे। महाकवि ने वैष्णव धर्म का इतना व्यापक रूप दिया जिसमे उस समय की सभी चिन्तन धारा मे एवम् मतमतान्तर तिरोहित हो जांय। राम और शिव के भक्तों को एक सा ही बतला कर शैव और वैष्णव में सम्मिलन की ही बात कही गई है।[2]

---

१. गीतावली में जिस क्रम से राग आये हैं वह इस प्रकार हैं।
आसावरी, जयतश्री, बिलावल, केदारा, सोरठ, धनाश्री, कान्हारा, कल्याण, ललित, बिभास, नट, टोडी, सारँग, सूहीमल्लार, गौरी, भारू, भैरव, चँचरी, वसन्त और रामकली।

२ सिव द्रोही मम भगत कहावा सो नर सपनेहु मोहि न भावा
सकर बिमुख भगति चहि मोरी सो नारकी मूढ मति थोरी

इसके अतिरिक्त उस समय के पण्डितों के वाद-विवाद का प्रमुख विषय था ज्ञान अथवा भक्ति। निर्गुण अथवा सगुण। निर्गुण भक्त के पीछे ज्ञान का आधार था और सगुण भक्ति के पीछे भक्ति का। तुलसी ने ज्ञान और भक्ति में भी सम्बन्ध स्थापित किया है, उन्होंने ज्ञान और भक्ति में कोई विशेष अन्तर ही नहीं माना[1], ज्ञान की अपेक्षा उन्होंने भक्ति को किसी - किसी स्थान पर विशेष महत्व दिया है। उत्तर काण्ड का उत्तरार्द्ध इसी समीक्षा को सुलझाने में लिखा गया प्रतीत होता है। इस विवदास्पद समस्या का फल यही निकाला गया है कि ज्ञान भी मान्य है, परन्तु भक्ति को भी नहीं भूला जा सकता।[2] इस प्रकार से भक्ति के क्षेत्र में भी विवादों को समाप्त कर उनके मूलभूत सिद्धान्तो की ओर संकेत कर तुलसी ने अपने परिमार्जित विचारों का पूर्ण परिचय दिया है। यही संक्षेप में तुलसी साहित्य का दृष्टिकोण है।

कृष्ण-काव्य

प्रश्न उठता है कि राम काव्य के साथ ही साथ एक दूसरे दर्शन से प्रभावित एवम् दूसरे सिद्धान्तो से सम्पादित धार्मिक धारा की आवश्यकता क्या पड़ी। राम काव्य के समान कृष्ण काव्य की धारा चल रही थी फिर भी एक दूसरे से प्रभावित न हो पाए। इसका कारण है भक्ति के क्षेत्र में विचारों की विषमता। राम काव्य का मर्यादा सम्बन्धी विचार जीवन को एक आदर्श तो दे सका, राम और सीता का तथा उससे भी बढ़कर उर्मिला का त्याग उच्चकोटि का आदर्श समाज के समक्ष रख पाया तो अवश्य परन्तु जीवन का यथार्थ अछूता रह गया, जीवन की पूर्णता केवल आदर्श में ही अथवा अच्छाइयो में भी ही नही है उसकी पूर्णता जीवन के दोनों पक्षों में है सद, और असत् अथवा बाल-किशोर एवम् प्रौढ़। इस क्षेत्र में तुलसी के अधूरे वर्णन को सूर आगे लेकर बढ़े हैं। तुलसी ने राम के बाल वर्णन एवम् किशोर वर्णन को इतनी महत्ता नहीं दी है जितनी कि सूर ने बाल एवम् किशोर वर्णन को पूजा है। ऐसा लगता है जैसे जीवन की पूर्णता कृष्ण के बाल एवम् किशोर वर्णन में ही हो।

तुलसी के वर्णनों में मर्यादा का निर्वाह पूर्ण रूप से किया गया है। श्री राम के जीवन में उन्हें आदर्शों की ही मोड़ दिखलाई पड़ी है, यथार्थ अथवा जीवन का कड़ुवा घूंट भी राम कथा में कथा के नायक राम ने पिया है परन्तु उसे भी विवश

---

१. भगतिहि ग्यानिहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा,
नाथ मुनीस कहहिं कछु अन्तर, सावधान सोई सुनु विहगवर।

मानस पृ० ४९४

२ जो अति भगति जानि परिहरहीं केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं,
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी, खोजत आक फिरहीं पय लागी।

होकर अथवा परिस्थितिवश नहीं वरन् इस लिए कि आदर्शों की रक्षा का धर्म यही कहता है सूर के कृष्ण बहुत यथार्थ है वे अपनी अच्छाइयों के साथ अपने जीवन में पूरे साधु उतरते हैं, दास्य भाव की भक्ति को छोड़कर सूर ने साख्य भाव की ही भक्ति अपनाई। सूर के कृष्ण काले हैं, अतएव स्नेह के वश होकर गोपियाँ उन्हे काले कह कर कोसती भी हैं। भक्ति के क्षेत्र मे अपने आराध्य को पूजने का यह नया ढंग है। इसके अतिरिक्त उस समय के प्रचलित विवाद सगुण और निर्गुण के पचड़े को भी सूर ने बड़ी ही अच्छी तरह सुलझाया है। उद्धव को निर्गुण भक्ति का प्रचारक बना कर और प्रेममयी गोपियों से मीठी गाली सुनाकर सूर ने निर्गुण के प्रचारकों का मुँह बन्द कर दिया। उन्होंने यही संदेश दिया कि भक्ति हृदय की वस्तु है अतएव श्रद्धा और प्रेम की कसौटी हृदय ही है मस्तिष्क नहीं···गोपियो का भावावेश एवम् निर्गुण और सगुण पर तर्क न करने की प्रवृत्ति सगुण को पुष्टि ही नहीं उस समय के जनता के मस्तिष्क मे इसे बिठा देती है कि भक्ति का आधार हृदय है और कृष्ण का रूप, उनका रंग हृदय को आनन्द देता है, वह तो सब कुछ 'मोहन लला' पर वार देती हैं, भक्त के आत्म समर्पण के अतिरिक्त और भगवान को चाहिए का व्रत, संयम और नेम ये सभी तत्व भक्ति के ऊपरी दिखावे हैं, आन्तरिक हृदय की शुद्धि है, और सबसे महान् है सखा के रूप में कृष्ण पर सब कुछ वार देना, और अन्त में भूल जाना कि भक्त और भगवान की सत्ता है। पुष्टि मार्ग के द्वारा इसे प्रोत्साहन मिला है जिसमें भक्ति भावना ही साधन है।

कृष्ण काव्य में अधिकतर गीतों का प्रयोग हुआ है, इसके कारण की ओर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि कृष्ण की भक्ति में हृदय प्रधान है, अतएव हृदय पक्ष के सबल होने के कारण गीत अपने आप फूट निकले हैं इसके अतिरिक्त पुष्टिमार्गी भक्तों के लिए कीर्तन का भी विधान है, कीर्तन मे गेय वृत्ति सब कुछ है, इसीलिए कृष्ण काव्य में गीति की लय युक्त माधुरी सर्वत्र बिखरी है। हृदय से निकली हुई भावनाएँ आपसे आप लय युक्त हो गई हैं।

भारतेंदु के साहित्य का स्वरूप एवम् आधार भूमि

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों के दृष्टिकोण से भारतेन्दु युग एक महत्वपूर्ण युग है। रीतिकाल के पश्चात् इस काल का आविर्भाव हुआ, बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों ने सामाजिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन उपस्थित किया फलस्वरूप यह युग अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों मे विकसित हुआ। इस काल में प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन और विकास इतनी शीघ्रता से हुए कि हम इस युग मे नई भावनाएँ, नई नई मान्यताओं को पनपते हुए पाते हैं। उन्नीसवी सदी के साहित्य में केवल मुक्तक तथा शृंगार प्रधान काव्यो को ही अधिक महत्व दिया गया, इसके अतिरिक्त गद्य का विकास हो ही नही पाता था, व्यक्तिगत रचनाएँ तथा दरबारी सस्कृति से सनी हुई कवितायें तो प्रायः अब तक मिलती थी, भारतेन्दु युग के काव्य के अन्तरात्मा में परिवर्तन और विकास स्पष्ट लक्षित होता है. काव्य व्यक्तिगत स्वर से उठ कर और ऊपर राजभक्ति एवम् देशभक्ति के स्तर तक आया, उसमे व्यक्तिगत अनुभूतियों के स्वर प्रधान न होकर सामूहिक स्वरों की प्रधानता रही।

उपन्यास क्षेत्र में 'चन्द्रकान्ता' और 'गुलबकावली' जैसी कुछ पुस्तकें प्राप्त थीं। इन उपन्यासो में सस्ते किस्से लिख दिए गए थे, इसके अतिरिक्त इन उपन्यासो की भाषा भी उतनी नपी-तुली और साफ नहीं हो पाई थी। उन्नीसवीं सदी से जो भाषा की परम्परा प्राप्त हुई उसका शब्द भडार बहुत क्षीण था, उसमे विकृत, अप्रचलित एवम् प्राचीन शब्दों का आधिक्य था, अतएव भाषा का यह रूप विचारों को लेकर आगे बढ़ने मे सर्वथा अनुपयुक्त हो गया, पद्य साहित्य में तो ब्रज भाषा का कलेवर अपने माधुर्य के कारण, अपना एक विशिष्ट स्थान रखता था परन्तु गद्य साहित्य में भाषा का मधुर रूप गम्भीर एवम् कहीं-कहीं नीरस विचार को वहन करने में सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध हुआ। अतएव भारतेन्दु युग में गद्य की भाषा खड़ी बोली हुई, और इसी के माध्यम से गद्य रचना प्रारम्भ हुई।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु-युग प्रवृत्तियों में विशेष रूप में उल्लेखनीय है। लोक गीतों का महत्व निर्धारित करना एवम् उसका प्रचार उनका ध्यान जन

साधारण की ओर अधिक था अतएव कुछ ऐसे गीतों एवम् अन्य रचनाओं की ओर भी उनका ध्यान गया था जो कि जन-हित तथा सर्वजन सुलभ हों।[1]

भारतेन्दु बाबू ने बहुत सा लोक साहित्य तैय्यार किया था, और अपने अनुभव के अनुसार लोक साहित्य की उपयोगिता समझ करके लोगों को इस साहित्य के लिखने की ओर प्रोत्साहित भी किया है। इसका कारण था, भारत के ऊपर जो वाह्य संस्कृति तथा साहित्य का स्वर बरबस फैलाया जा रहा था, और उन लोगों के मध्य से भारतीय सस्कृति एवम् शिक्षा दीक्षा को निकाला जा रहा था, इसलिए आवश्यकता इस बात की थी अपने अतीत के वैभव को पहिचाना जाय और उसे बनाए रखने के लिए उसे सर्व सुलभ करना था, वह तभी हो सकता था जब लोक साहित्य रचा जाय, उसे सभी समझें और उन पक्तियों को अपने जीवन में ढाल लें।

उनके समय के साहित्य की अन्य विशेषता है राज भक्ति और देश भक्ति की भावना राजभक्ति त ो उस समय उसी समय के राजा की थी, और उसी समय के राज्य की ओर भ क्ति भी उन्मुख थी। 'पूरी अभी की कचोरिया सी चिरजीवौ सदा विक्टोरिया रानी' कह कर विक्टोरिया की वन्दना की गई है। इसका तात्पर्य यह नही कि भारतेन्दु को विक्टोरिया प्रशस्ति तैय्यार करना था, मुगलो के शासन के बाद अंग्रेजी शासन आया था और हिन्दू जनता को उस समय धर्म, ऐतिहासिक अथवा किसी भी क्ष ेत्र में जबान खोलने को भी नही मिलता था, विक्टोरिया के घोषणा

---

१. कवि वचन सुधा में उनकी एक विज्ञप्ति प्राप्त है जिसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा है—भारतवर्ष की उन्नतिके जो अनेक उपाय महात्मागण सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गांव-गाँव में प्रचार की जायें। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी—उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना शीघ्र ग्राम गीत फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव पड़ता है उतना साधारण शिक्षा में नहीं होता।

और भी............

जिन लोगों का ग्रामीणों से सम्बन्ध है वे गाँव में ऐसी पुस्तकें भेज दें। जहाँ कहीं ऐसे गीत सुनें उसका अभिनन्दन करें। इस हेतु बहुत ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बने, बरन गवांरी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हो।

—कविवचन सुधा

मई १८७९

पत्र ने थोड़ी सी स्वतन्त्रता दे करके भारतवासियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था, अतएव इतने बड़े शासन के पश्चात उतनी सी स्वतन्त्रता भी भारतीयों को बहुत सुखकर लगी, उन्हीं परिस्थितियों में यह पंक्ति का सृजन हुआ होगा, अतएव अपने देश प्रेम की भावना से विह्वल होकर और अपने को थोड़ा सा भी स्वतन्त्र हुआ समझ करके, स्वतन्त्र करने वाले के प्रति यदि शुभकामना प्रगट कर दी गई हो, तो राजभक्ति का ही प्रमाण है। इसके अतिरिक्त पं० प्रतापनारायण मिश्र की कविता ब्रेडला स्वागत भी एक सुन्दर उदाहरण के रूप में आ सकती है।

भारतेन्दु युग की कविता का राजभक्ति की ओर मुड़ जाना एक बढ़ा हुआ चरण था। अंग्रेजो के प्रति वे उन्मुख नहीं थे उनकी उन पर भक्ति नहीं थी, केवल जो भी भक्ति उनकी अंग्रेजी शासन पर है वह भारत को इनसे नियंत्रित जीवन से मुक्त करके थोड़ा कम नियंत्रण लगाने से है। यदि एक ओर उन्होंने ड्यूक की प्रशंसा की है, उनके काशी में आने के अवसर पर कवित्त लिखा है तो दूसरी ओर उन्होने अंग्रेजों को समझा भी है, उन्हें इस बात का भी ज्ञान था कि ये अंग्रेज भीतर-भीतर तो सब रस चूस ले रहे हैं, वे केवल बाहरी बातों में ही तेज हैं।

इस प्रकार से राजभक्ति की भावना का भी सूत्रपात यहीं से हुआ है, यद्यपि अंग्रेजों के प्रति श्रद्धा और शासन के प्रति आस्था प्रकट करने की भावना आज के साहित्य में टूट गई उसका स्थान विद्रोह ने ले लिया परन्तु उस समय की परिस्थिति ने इन्हे देशभक्ति की ही भावना से विवश हो ऐसे पदों को रचने की प्रेरणा दी थी। इसके अतिरिक्त देशभक्ति की भी भावनाएं पाई जाती हैं। विक्रम बल्लरी और विजयनी-विजय वैजयन्ती में दो रचनाएं ऐसी हैं जिनमें अपने देश के प्रति उठे हुए भावों और अनुभावों को दिखलाया गया है। अंग्रेजों के अफगान विजय पर और इन्हीं के मिश्र विजय पर ये दोनों कविताएं आधारित हैं। इन दोनों युद्धों में भारतीय सेना अंग्रेज सेनाध्यक्षो की देख रेख में लड़ने को भेजी गई थी, भारतीय सेनाओं की विजय ही अंग्रेजों की विजय थी, इस प्रकार से भारतेन्दु जी ने अंग्रेजों की विजय को अपनी ही विजय समझा है। इसी भावना के अन्तर्गत आ करके भारतेन्दु ने अपने भावों का देशभक्ति के प्रति स्पष्टीकरण किया है। विजय बल्लरी में अंग्रेजी शासन के द्वारा भारतीयो पर लादे गये विधानो के प्रति भी व्यंग्य है, जिसमें कि भारतेन्दु ने स्पष्ट कर दिया है कि भारत में आतंक क्यों मचा हुआ है क्या यहाँ से कर उठा लिया गया है अथवा जनसाधारण के लिए सिविल सर्विस का पद साफ कर दिया गया है उस समय के पत्रों पर लगाए गए

प्रतिबन्धों के प्रति भी इसमे चर्चा है। इन सभी प्रतिबन्धों से, कवि को आन्तरिक कष्ट था- इसका स्पष्ट उदाहरण मिलता है।[1]

इनकी दूसरी रचना है 'विजयनी विजय पताका या वैजयन्ती'। इस रचना मे भी देशभक्ति के स्वर मिलते हैं। भारत में जयजयकार होने का कारण कवि को ठीक नही ज्ञात है तब कोई उत्तर देता है—क्या तुमको पता नही कि आज तड़ित तार के द्वारा समाचार मिला है कि भारतीय सेना ने मिश्र मे महान् संग्राम किया है और शत्रुओ को भगा कर अरबी पाशा को कैद कर लिया है। इस प्रकार के सम्बोधनो के द्वारा कवि ने भारत के वीरों की एकप्रशस्त रूप रेखा दी है। इन्होने भारत के ऋषियो, शूरों, मधुर कवियो और बुद्धिमानो की भी चर्चा की है, अन्त मे भारत की गत समृद्धि के चिन्ह की कहानी कह करके भारतेन्दु आधुनिक भारत पर द्रवित होते है। भारत की वह भूमि जो कभी समृद्धशाली थी आज दुखारी हो गई है। पञ्चनद, पानीपत और चित्तौड का वह अमूल्य बलिदान कवि को आज दुःखी कर दे रहा है केवल इसीलिए कि आज देश की वह दशा नहीं रह गई है।

इस प्रकार से इस कवि के साहित्य में राजनीतिक चेतना व्याप्त हुई दिखलाई देती है। इस चेतना ने केवल साहित्य को ही नहीं चुना, परन्तु इसके बीज चारों तरफ उड़-उड़ करके पड़े समाज की ओर मुड़ने पर हमे यह स्पष्ट होता है कि शासन के बदल जाने के फलस्वरूप सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्रों मे भी नवीन चेतना व्याप्त हो गयी थी।

आर्य समाज

ब्रह्म समाज के अतिरिक्त एक दूसरी सस्था आर्य समाज के नाम से उठ खडी हुई। सन् १८७५ मे स्वामी दयानन्द ने बम्बई मे आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द का विचार, इस प्रकार से, सामाजिक दशा को सुधारने का था उनका विश्वास था कि भारतीय परतंत्रता मे मुख्य बात समाज की हीन दशा का है, यदि समाज की दशा सुधर जायेगी तो अपने आप चेतना व्याप्त हो जाने पर, लोग सशक्त हो जायेगे। अतएव उनकी दृष्टि समाज की ओर आना स्वाभाविक ही था।

दयानन्द को उस समय यह प्रतीत हुआ था कि ब्राह्मण हिन्दू धर्म में सब कुछ

---

१. कहा भूमि कर उठि गयो, के टिक्कस भो माफ,
   जनसाधारण को भयो किधौ सिविल पथ साफ।
   नाटक अरु उपदेश पुनि समाचार के पत्र,
   कारा मुक्त भए कहा जों अनन्द अति अंग,
   कै प्रतच्छ गो वधन की, जबनन छाड़ी बान,
   जो सम आर्य प्रसन्न अति, मन मँह मंगल मान।

२ हाय वही भारत भूमि भारी
   सबही विधि ते भई दुखारी

माने जाते हैं। प्रत्येक ब्राह्मण ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है और ईश्वर की इक्षाओं एवम् आज्ञाओं का प्रतिनिधित्व भीवही कर रहे हैं। ब्राह्मण को जन्म से ही इसी रूप में पूजा जा रहा था और उन्हे ही ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर सारी आज्ञायें एवम् नियमन उन्ही द्वारा हो रहा था। वह अकेले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह निर्धारित कर सकते थे कि वह क्या कर सकता है और वह किस पर विश्वास करे।[1] इस प्रकार से दयानन्द को यह बात खली थी, ब्राह्मणो का पूजा जाना तो उतन समाज को गलत राह नहीं दे रहा था जितना कि उनके द्वारा कहे गए प्रत्येक वाक्यों का वेद वाक्य के रूप मे कहा एवम् समझा जाना। संस्कृत को उन्होने इतना पवित्र मान रखा था और उसमे कहे गये मंत्रों को इतना पवित्र समझा जाता था कि शूद्रों एवम् और निम्न-जाति के लोगों को उसे कहने तक का अधिकार नही दिया गया था, दयानन्द ने इन बातों का विरोध किया। उन्होने वेद को सब के लिए सुलभ किया, उसकी टिप्पणी देकर एवम् अनुवाद प्रस्तुत करके वेद सर्व सुलभ कराने का श्रेय इन्ही को है।[2] यद्यपि वेद को पढ़ने एवम् समझने का अधिकार केवल उच्च-जाति के लोगों को था फिर भी ब्राह्मणों में भी केवल कुछ ही लोग थे जो चारो वेदो का अर्थ समझ पाते थे, यह तो वास्तविक स्थिति थी। दयानन्द ने इस स्थिति को देखकर सुधारने की कोशिश की। इस प्रकार से सभी जाति के लोगों को वेद पढने, सुनने और समझने की सुविधा इन्होने प्रदान किया, यह बडा महत्वपूर्ण कदम था। हिन्दू जाति में ही आपसी मतभेद बढ रहा था, एक दूसरे को निम्न समझने का दृष्टिकोण दृढ होता जा रहा था, दयानन्द ने इसी भाव को दूर करने का प्रयास किया, फलस्वरूप आपसी मनोमालिन्य की भावना दूर होने लगी, एक दूसरे को हेय समझने की भावना ही हिन्दू जाति को मतभेदो से उलझाये जा रही थी, दयानन्द ने इस प्रकार से सभी लोगो मे वेद समझने और सुनने की सुविधा प्रदान कर, आपसी मत-भेद को हटाने का प्रयास किया।

सभी जाति के लोगों में वेद का प्रचार करने के लिए स्वामी दयानन्द को विरोध भी सहने पड़े। एक ओर तो हिन्दू धर्म और समाज की रूढ़ि, अन्ध विश्वास तथा अपरि-

---

1. He alone could say what was religion and what was not. He alone could lay down for every man what he was to believe and to do.

—The Arya Samaj, Lajpat Rai pp. 72

2 Any one seeing modern India in the 20th century can scarcely conceive that within thirty years of the close of nineteenth century the Vedas were a sealed book in India and no one could even read them, much less could quote them in open meetings composed of all of Hindus and not Hindus alike.

The Same pp 81

वर्तनशीलता की प्रवृत्ति थी दूसरी ओर नवीन ईसाई धर्म का प्रचार भी था, ईसाई धर्मावलम्बी दूसरे सुधारवादी आन्दोलन को कर रहे थे। उन्हे तरह-तरह की सुविधायें भी प्राप्त थी, उनके पास अतुल धन, राजनीतिक सत्ता तथा कुछ अर्थों में नवीनता (भारत के लिए) प्राप्त थी। इसी आधार पर वे बढते जा रहे थे ईश्वर के स्थान पर ऐहिकता और भौतिकता को महत्त्व दिया जाने का प्रचार हो रहा था, इस कारण से हिन्दुओ का धर्म और जीवन भी अस्त-व्यस्त सा हो रहा था, एक ओर तो बढता हुआ ईसाईपन उन्हें भौतिकता की ओर खींच रहा था,दूसरी ओर उनका मतवादी संघर्ष, मतभेद, अपरिवर्तनशीलता की भावना, उन्हे घेरे थी, स्वामी दयानन्द को इन्हीं परिस्थितियों में आर्य समाज का प्रचार एवम् विस्तार करना पड़ा।

पहिले तो उन्होने ब्राह्मणों के अधिकारों का विरोध किया ही उनका विरोध सभी ब्राह्मणों से न होकर अयोग्य ब्राह्मण से था, उन्होंने जन्म के स्थान पर कर्म को ही प्रधान ठहराया, और व्यक्ति को जन्म से नहीं कर्म से ही बड़ा मानने पर विश्वास कर उसी का प्रचार किया।

प्रतिमा पूजन के विरोध के साथ ही साथ अनेक देवी-देवताओं की पूजा के स्थान पर केवल एक ही ईश्वर की पूजा का स्वामी जी ने उपदेश दिया। अनेक देवी देवता अनेक सिद्धान्त और इस प्रकार से आपसी मत भेद पैदा करते थे। भक्ति के क्षेत्र में आपसी विरोध उन्हे श्रेयस्कर न लगा, अतएव एक ईश्वर की प्रतिष्ठा द्वारा अनेक मतमतान्तरों के झगड़े को मिटाने का प्रयास किया गया। इन धार्मिक कुरीतियों को दूर करने के साथ ही साथ स्वामी जी ने सामाजिक हित अनहितों को पहिचाना और समाज में जो पारम्परिक विचार थे उसे दूर करने की चेष्टा की— विधवा विवाह का समर्थन, बाल विवाह का विरोध, अछूतोद्धार आदि आर्य समाज के प्रमुख तथा उल्लेखनीय कार्य हैं। अछूतों की भावना तथा विधवा विवाह का न होना ये दो ऐसी बड़ी सामाजिक कुरीतियां थी कि जिनके द्वारा हिन्दू समाज की जड़ों मे कीड़े लग रहे थे, निम्न जाति के लोगों को अछूत कह करके, उनका स्पर्श वर्जित करके उनके हृदय पर ठेस पहुँचाई जाती थी। फलस्वरूप प्रतिक्रिया के रूप में उन तथाकथित अछूतों के हृदय मे भी घृणा की भावना का हो जाना स्वाभाविक था, इस प्रकार हिन्दू समाज मे ही आपसी कलह बढ रही थी, मतभेद के आधार पर दो दल पैदा हो गए थे, उच्च तथा निम्न जातियां मेल के स्थान पर वैमनस्य, घृणा तथा स्पर्द्धा मोल ले रही थी। इस प्रकार से हिन्दू समाज से ही लोग खिसक-खिसक कर ईसाई मिसनरियों के चंगुल में आ रहे थे। उसका कारण यद्यपि उनकी आर्थिक दशा भी हो सकती है फिर भी इसके अतिरिक्त उनके हृदय पर लगी हुई ठेस थी जो उन्हें विवश कर रही थी कि वह बाहरी लोगों के साथ होकर मिशनरी में सम्मिलित होकर ऊँचे ओहदे पावें और वे भी अन्य हिन्दू धर्म के लोगों की भांति सभी सुविधाएँ प्राप्त कर सकें।

आर्य समाज के सामाजिक सुधारों में महत्त्वपूर्ण बात थी विधवा विवाह के प्रचलन की। राजपूत वंशो मे अधिकतर बाल विवाह की प्रथा प्रचलित थी, इस प्रथा के फलस्वरूप लड़कियों के विवाह छोटी अवस्था में ही हो जाया करते थे। अकस्मात उनके पतियो के निधन के पश्चात् वे विधवा हो जाया करती थी, फलस्वरूप अपना सम्पूर्ण जीवन उन्हें विधवा के रूप मे ही व्यतीत करना पड़ता था, समाज में सभी प्रवृत्तियो के, सभी प्रकार की स्त्रियाँ है, कुछ तो अपना नैतिक कर्त्तव्य समझकर अपने जीवन को पुनीत रख करके ईश्वराधना में व्यतीत करती थीं परन्तु समाज में इस प्रकार की भी अनेक स्त्रियाँ मिल जाती थी जो अपने जीवन को नैतिक रूप से यापन न कर पाती थीं। फलस्वरूप दूसरी ओर नैतिकता की राह से उन्हे गिर जाने का पूरा पूरा अवसर मिलता था, एक ओर तो समाज की मर्यादा का वे निर्वाह करती थीं, फलस्वरूप वे दूसरा विवाह नही कर पाती थी दूसरी ओर अपनी इच्छाओ से वे विवश रहती थी, स्वास्थ्य पर भी इस मानसिक कुण्ठा का कुप्रभाव पड़ता था। स्वामी जी ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को पहिचाना था, इसीलिए समाज से वे इस कुप्रथा को निकालना चाहते थे, विधवा-विवाह इसी के फलस्वरूप आया। वे नवयुवतियाँ जो अपनी उमंगों को, हौसलो को सामाजिक मर्यादा पर अर्पित करने को विवश हो जाती थीं, उन्हें झूठी मर्यादा से मुक्त कराना चाहा। अनाथालय[1], विधवाश्रम खोलने के साथ ही साथ बाढ़ तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगो को सहायता देने का भी इन्होंने प्रबन्ध कर रखा था। सन् १८९९-१९०० मे जब भारत अकाल से पीड़ित था उन दिनों आर्य समाज ही एक ऐसी संस्था थी जिसने कि अकाल पीड़ित लोगों को सहायता के लिए प्रबन्ध किया, इसके अतिरिक्त अनाथो को सहायता देने के लिए एक हिन्दू आरफन रिलीफ मूवमेण्ट भी चलाया गया। १८९६-९७ में पड़े हुए अकाल से पीडित हिन्दू बालको को सहायता देने के लिए इसका निर्माण हुआ।[2] ईसाई मिशनरी के बाद यह ऐसी अकेली भारतीय संस्था थी जिसमें कि समाज के विभिन्न कमजोर पहलुओं को सशक्त करने की सफल चेष्टा की गई थी।

---

1. Outside christian circles it was the first purely Indian Association to organize orphanages and widow homes.

—Philanthropic activities pp. 238

2. About 250 Hindu children were rescued by agents deputed by the movement and were brought into Punjab, where from new orphanages were founded to accomodate them, in addition that already existing at Ferozpur.

The Same pp. 240

इन सभी प्रगतिशील तत्वों का फिर भी विरोध हो रहा था, यहाँ की अधिकाँश जनता उनके इन विचारो से सहमत नही थी। इन सबके कारणों पर स्वामी जी ने सोचा तो, इनके अन्तस्तल मे बहने वाली सरिता थी शिक्षा के अभाव की। वास्तविक शिक्षा का अभाव ही हमें परम्परा तथा रूढियों मे जकड़ देता है, हिन्दू जनता उस समय इन्ही रूढ़ियों में जकड़ी थी, अतएव उनका फलीभूत होना शिक्षा के अधीन था। इसी से स्वामी जी सबको शिक्षा का समान अधिकारी समझते थे, फिर भी शिक्षा से तात्पर्य उनका अंग्रेजी शिक्षा का नही था, जिसमे जातीयता तथा राष्ट्रीयता का ह्रास होने की शतश· सम्भावना थी। गुरुकुल की स्थापना के पीछे उनका ध्येय था कि सँस्कृत और हिन्दी की शिक्षा का प्रचार किया जाय, वे कट्टर भारतीय सँस्कृत के अनुयायी इसी रूप में थे। उसके द्वारा सामाजिक अन्धविश्वासों की परम्परा टूटती थी और लोग नई चेतना के अनुयायी हो सकते थे।

इन सभी सुधारो के अतिरिक्त सबसे प्रगतिशील पक्ष था शुद्धि आन्दोलन का। कुछ तो जाति-पाँति में ऊँच-नीच की भावना ने, कुछ विधवा विवाह के रोकने हिन्दुओ को दूसरी जाति ग्रहण करने पर बाध्य कर दिया था। अधिकाँश व्यक्ति तो ईसाई धर्म को लालच से तथा राज धर्म होने के नाते अपना रहे थे। शुद्धि आन्दोलन ने ऐसे बिखरे हुए लोगो को अपने मे मिला लिया। शुद्धि का तात्पर्य बतलाते हुए लाजपतराय ने लिखा है कि यों तो शुद्धि का तात्पर्य Purification है परन्तु आर्य समाज के साथ जब इसका सम्बन्ध रहता है तब इसके अन्तर्गत reclamation और conversion भी आ जाता है।[1] एक हिन्दू सगठन होने के नाते, हिन्दुओं को अपनाना इसका मुख्य ध्येय था, इसलिए बिखरे हुए लोगो को आर्य समाज ने फिर से हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ला दिया। आर्य समाज से सम्बन्धित एक ऐसी सभा का निर्माण हुआ जिसे राजपूत शुद्धि सभा के नाम से जाना गया उसका यह प्रमुख कार्य था कि मुसलमान राजपूतों को अपने में फिर मिला लिया जाय। इसने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया और १९०७ से १९१० इन तीन वर्षों मे १,०५२ मुसलमान राजपूत शुद्ध करके फिर हिन्दू जाति मे मिला लिए गए।[2]

इस प्रकार आर्यसमाज एक ऐसी संस्था थी जिसके द्वारा अपनी अत्मोन्नति की गई देश वासियो के प्रति तथा अतीत के प्रति प्रेम जगा कर उन्होने एक आत्मसम्मान की भावना की नीव डाली। आत्मसम्मान की भावना जाग्रत हो जाने पर देश के लोग अपने खोये हुए अतीत के गौरव को प्राप्त कर लेने के लिए लालायित हो उठे। अवस्था ऐसी थी

1. Suddhi literally means purificaton but when used by Arya Samajist it includes also reclamation and conversion

—Suddhi work of Arya Samaj pp. 248

2. Consult Suddhi work pp 249

कि उस समय ऐसे गौरव और आत्म सम्मान को पा लेना स्वाभाविक न था। ऐसी स्थिति में विदेशी शासन के दोषो को बड़े साहस के साथ स्वामी जी ने माना और बतलाया है।[१] इस प्रकारसे एक धार्मिक और सामाजिक संस्था होतेहुए आर्य समाज राजनीतिक संस्था के रूप में कार्य कर गयी है। डॉ० शुक्ल के शब्दो मे उन्नीसवीं शताब्दि मे राष्ट्रीयता के प्रथम संचरण का श्रेय स्वामी दयानन्द के आर्य समाज को है।[२] बात सत्य भी है, इस संस्था ने समाज के अन्दर राष्ट्रीयता के जागरण के साथ ही साथ अतीत के प्रति एक अनुराग और आदरपूर्ण स्थान पाने की भावना जगा दी।

आय समाज के अतिरिक्त राष्ट्रीय भावना के फलस्वरूप एक दूसरा धार्मिक आन्दोलन जिसका कि नेतृत्व रामकृष्ण कर रहे थे उठ खड़ा हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य था भक्ति का प्रचार करना, अभारतीय चिन्तन धारा से प्रभावित हो करके जो लोग अधिक भौतिकता को अपना रहे थे, उनके विरोध में आगे चल करके इस धर्म ने अपनी आवाज उठायी है। श्री रामकृष्ण के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द ने इसे आगे बढ़ाया। ब्रिटिश शासन का जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य्य था वह यही कि भारत को उसके अतीत से बिछिन्न कर दिया जाय और वर्तमान में ही उसे जीर्ण करके उसके बौद्धिक और सांस्कृतिक दृष्टियो को नियन्त्रित रखा जाय यही दृष्टिकोण इतना घातक सिद्ध हुआ कि इसके द्वारा भारतीयों की दृष्टि अपने उज्ज्वल इतिहास से हटने लगी, विवेकानन्द जी का उद्देश्य था धार्मिक भावनाओं के प्रचार के द्वारा उसी भावना को जगा देने का। राम कृष्ण मिशन धार्मिक क्षेत्र में इसी दृष्टिकोण को अपना करके आगे चला है।

इस प्रकार से हिन्दू धर्म के प्रभाव को और प्रभावोत्पादक बनाकर यह प्रगतिशील movement आगे बढा। इसका आधार शुद्ध धार्मिक होते हुए भी सांस्कृतिक पुनुरुत्थान मे सहायक रहा।

थियोसाफी

भारत में थियोसाफी का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय धर्म मण्डल के अन्तर्गत सन्

---

१ कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। मतमतान्तर के आग्रह रहित पक्षपात-शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है।

—सत्यार्थ प्रकाश

अष्टम समुल्लास २३६

२. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत

—डा० शुक्ल

१८७९ हुआ। हेनरी स्टील आलकॉट और मैडम बेलावेस्की (Madam Blavatsky ने इसका भारत को परिचय दिया और एनीबेसेन्ट के द्वारा इसका प्रचार किया गया। इस धर्म की विशेषता यह थी कि इसका प्रचार और प्रारम्भ एक ऐसे अभारतीय के द्वारा हुआ था जो कि हिन्दू धारा के सभी सिद्धान्तों से प्रभावित होने के कारण उसके प्रति उनकी स्वाभाविक सम्मान थी। थियोसाफी ने पुराने हिन्दू धर्म की उपयोगिता को समझा और पुर्नजन्म के सिद्धान्तो पर विश्वास करके उसका प्रचार किया। इसके अतिरिक्त सबसे प्रगतिशील दृष्टिकोण जो इनके द्वारा अपनाया गया था वह था सार्वभौमिक भातृत्व की भावना का। एनीबेसेण्ट ने भारतीयो केमध्य यह देखा था कि धार्मिक प्रश्नो कोले करके उनमे झगडा होता है, इसी को हटाने के लिए Universal brotherhood की बात की गई की। धार्मिक सिद्धान्तो के आपसी मतभेद को मिटाने के लिए और सभी धर्मावलम्बियो को यह समझाने के लिए कि धार्मिक मतभेद आपसी अथवा व्यक्तिगत मतभेद नही प्रस्तुत करता, इस धर्मने सभी लोगो मे धर्म, जाति और सस्कार, की विषमता को हटा करके सभी को समान रूप से देखने की दृष्टि प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय भावना को भी जगाना, इसका उद्देश्य था। भारतीय आधारो पर शिक्षा देने की बात इसने उठाई थी। इसके द्वारा अतीत का लेखा प्रस्तुत करके एक ऐसे राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि तैय्यार करना ही इसका ध्येय था जिसमें यहाँ के सभी नागरिक राष्ट्रीयता के एक सूत्र मे अपने को सम्बद्ध पायें। इसके अतिरिक्त वे ऐसी शिक्षा की भी आवश्यकता समझते थे जो कि भारतीन सिद्धान्तों पर आधारित हो,[1]और जिस पर अभारतीय प्रभाव बिल्कुल न हो।

इस प्रकार यह सोसायटी एक नई चेतना देना चाहती थी, परन्तु इसकी जड़ें भारतीय-भूमि मे धँस न सकी, फलस्वरूपर इसका अवसान हो गया, इसके ही सिद्धांतों से मिलता-जुलता धार्मिक-संगठन जैसे देव समाज और राधास्वामी सत्संग आदि उठ खड़े हुए। फलस्वरूप जब एक भारतीय द्वारा आयोजित एक दूसरा धार्मिक संगठन जो इसी से मिलता-जुलता था, प्रारम्भ हुआ, तभी इस सगठन की नीव हिलने लगी।

---

1. The needs of India, Mrs Besant wrote in 1905 are among others, the development of a national spirit, an education founded on Indian ideals and enriched, not dominated, by the thought and culture of the west.

—Religious reform movement from Social Background of Indian nationalism by A. R. Desai pp 258

Published from Popular Bookhouse Lammgton Road Bombay 7

इस प्रकार से उक्त समाज ने धार्मिक क्षेत्र मे नई चेतना देकर धर्म को विस्तृत रूप देकर धर्म के ही द्वारा समाज में भी परिवर्तन पैदा करने की चेष्टा की। इसी दृष्टि से देखने मे यह धर्म एक प्रगतिशील धर्म के रूप ठहरता है।

धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू समाज मे ही चेतना नहीं व्याप्त हुई, मुसलमानो के बीच भी चेतना उसी रूप मे आई। यद्यपि भारतीय मुसलमानो में यह चेतना हिन्दुओं के पश्चात ही व्याप्त हुई, परन्तु फैल जाने पर इसका विकास बड़ा ही सन्तोषजनक रहा। हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमानो मे चेतना व्याप्त होकर फैलने मे अधिक समय लगा। इसके ऐतिहासिक और धार्मिक कारण हैं। यद्यपि मुगलों के राज्य मे मुसलमानो को प्रश्रय मिला था, तथा उन्हें धार्मिक बढ़ावा भी मिला था इस प्रकार से उनकी धार्मिक चेतना दबाई नही गई थी, इसके ठीक विपरीत हिन्दुओं को धार्मिक पराधीनता भी झेलनी पड़ी थी, उनको दबना भी पड़ा, परन्तु उनके समय की वही दबी हुई चेतना थोड़ा सा मानसिक स्वातन्त्र्य पाकर पनप उठी। उन्हे आभास होने लगा कि अंग्रेजो ने हमे मानसिक स्वतन्त्रता दे दी है, मुसलमान अब भी, अग्रेजों के साथ, अपने को हिन्दुओ मे अधिक समझते थे, और उन्हे यही लगता था कि उनका अलगाव हिन्दुओ की भाँति नही है। इसलिए शासक की सत्ता की ओर उन्मुख होने के कारण और उनसे अपना विशेष अलगाव न समझने के कारण मुसलमानो का सास्कृतिक जागरण पृथक रूप से नही हो पा रहा था। सन् १८५७ के विद्रोह ने उनकी स्थिति अग्रेजों की दृष्टि मे स्पष्ट कर दिया था। गदर के पश्चात बृटिश सरकार से मुसलमानो का विरोध बढ़ गया फलस्वरूप आपसी अलगाव को फिर इस नीति से सजगकर दिया।[1] इन लोगो ने तभी अग्रेजो की संस्कृति में भागलेने और उसे अपनाने से इन्कार कर दिया और अपने इस्लाम के बताये गए मार्ग को फिर अपनाने मे आस्था प्रकट करने लगे। इस प्रकार से नई सस्कृति को त्यागकर उनके मस्तिष्क में फिर पुराना धर्म अपनाने की लहर के रूप में इस्लाम का सिद्धान्त प्रबल हो उठा और वे सभी फिर उसी पर आधारित आवश्यकताजन्य सुधार करने लगे। उस समय चार मुख्य आन्दोलन थे जिनका कि स्थान भारतीय मुसलमानों के धार्मिक इतिहास मे उल्लेखनीय है।

(१) पहिले आन्दोलन को दिल्ली के शाह अब्दुल अजीज ने प्रारम्भ किया था। (२) दूसरे को सैय्यद अहमद तीसरे को जौनपुर के शेख करामत अली ने और हाजी शहरत उल्लाह का नाम भी उल्लेखनीय है।

This made Muslims to avoid any contact with the new culture and education which the British introduced in India. They avoid comming under the influence of that education and stuck with greater to Islam.

Kchsrions pp. 264

सन् १८८९ मे मिर्जा गुवाद मुहम्मद ने Liberal सिद्धान्तों पर आधारित एक सुधार की नीव दी । इसे अहमदिया मूवमेण्ट के नाम से जाना गया । ब्रह्म समाज की भाँति इस धार्मिक आन्दोलन का आधार समस्त मानवता को एक सूत्र में बाँधने का था । यह अपने धर्म को सार्वभौमिक धर्म के रूप मे चलाना चाहते थे । हिन्दुओं के सामाजिक एवम् सास्कृतिक सुधारों पर पाश्चात्य देश के Liberal विचारों का तथा थियोसाफी का प्रभाव इन पर पूर्ण रूप से पड़ा था । इसी के फलस्वरूप अहमदिया मूवमेण्ट ने गैर मुसलमानो के प्रति जिहाद का विरोध किया । धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान का जातीय भेद छोडकर के यह एक ही रूप मे उन्हे देखने के पक्षपाती थे ।[1] अपने इन विचारो के प्रचार के लिए इन लोगो ने स्कूल खोले, तथा अंग्रेजी और हिन्दी उर्दू मे प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओ का निर्माण किया । इस प्रकार से हिन्दू और मुसलमालो में जो धार्मिक क्षेत्र में मतभेद की एक नींव पड़ गई थी, जजिया और जेहाद के द्वारा गैर मुसलमान पीड़ित थे, उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस लगती थी, इन बातों का ध्यान रख करके इस मूवमेण्ट ने एक सुधारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया ।

इस प्रकार से एक व्यापक दृष्टिकोण का निर्माण हो गया था, अंग्रेजों के शासन ने तथा अंग्रेजी के प्रचार ने भारत को और भी देशों के निकट सम्पर्क मे ला दिया था, कुछ तो उनके प्रभाव से और कुछ अपनी स्वानुभूति पर आधारित रह करके उस समय के धार्मिक सिद्धान्तों में प्रगतिशीलता की भावना व्याप्त हो रही थी, और इन धर्मों के समक्ष एक व्यापक दृष्टि थी ।

यद्यपि इसका आधार तो इस्लाम था फिर भी पाश्चात्य liberal दृष्टि की इन्होने प्रशंसा की है, और इस्लाम को पाश्चात्य liberalism में मिलाना भी चाहते थे । इनमें धार्मिक चेतना हिन्दुओ से बाद आई, सन् १८५७-५८ के विद्रोह ने इनकी आँखें खोल दी और ये नई भावनाओं को तथा नए सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आस्थाओं पर विश्वास करने लगे ।[2]

---

1. The Ahmadia movement, opposed Jehad or Sacred war against non-Muslims. It stood for faternal relations among all people.

—Religious Reform movements.

Social Background of Indian Naticnalist pp. 266

2. The tragedy of great revolt of 1857-58 marks the death of the old order, and brought political, economic and cultural disas ter to the Indian muslims It made their fulness their aloofness their suppressed hatred for the new order more marked

इस प्रकार से नई भावनाओं को अपना करके मुसलमानों के अन्दर भी अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार हो गया था और इसके फलस्वरूप उन लोगों में भी राष्ट्रीयता की भावना का जन्म तथा विकास हुआ था। धर्म की संकीर्णता भी उनको खली थी, उन्होंने इस अहमदिया मूवमेण्ट के द्वारा उसे सुधारा था।

शिक्षा का प्रचार इनके बीच भी हो रहा था। सर सैय्यद अहमद खाँ ने आधुनिक शिक्षा का प्रचार उनके मध्य प्रारम्भ किया था, उनके इस प्रयास को अलीगढ मूवमेण्ट के नाम से जाना जाता है क्योकि अलीगढ़ मे ही एग्लो ओरियण्टल कालेज की स्थापना की गई थी और यही कालेज १८९० मे बढ करके अलीगढ विश्वविद्यालय में परिवर्तित हो गया था। आधुनिक शिक्षा के प्रचार एवम् प्रसार मे कवि हाली, मौलवी नजीर अहमद और मौलवी नुमानी भी उल्लेखनीय हैं। इसी विश्वविद्यालय के निर्माण के साथ ही साथ भारतवर्षीय मुसलिम एजूकेशनल कान्फ्रेन्स भी बनाई गई थी। इतना होते हुए भी, मुसलमानो के मध्य पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार तो हुआ परन्तु उन्होने इस्लाम को नहीं भुलाया, इन सभी शिक्षाओ के साथ ही साथ इस्लाम के प्रचार को भी वही स्थान मिला जो पहिले था, पाश्चात्य शिक्षा की ज्योति ने उनके धार्मिक प्रकाश को मन्द नही किया।

इनका दूसरा उद्देश्य था सामाजिक सुधारों का। इन्होने मुसलमानो के मध्य होने वाली बहुविवाह प्रथा की आलोचना की, बहु विवाह प्रथा के दोष की ओर हमें नही संकेत करना है, इसके द्वारा सामाजिक कुरीतियाँ पैदा होकर और बढ़ रही थी इसलिए इन पर प्रतिबन्ध लगाया गया। विधवा-विवाह को भी इन्होने प्रचलित करना चाहा, यद्यपि इस्लाम इसके विरोध में नही था, फिर भी विधवा-विवाह ऐसे मुसलमानों में प्रचलित नही था, जो अभी अभी हिन्दुत्व को छोड़कर आये थे। उनके रक्त मे तो हिन्दू संस्कार जड़ जमाये था, उनके मध्य भी विधवा विवाह को अवैध घोषित करके प्रचलित कराया गया।

ये लोग कुरान को अधिक व्यापक रूप देना चाहते थे। उसको जनप्रिय बनाने के लिए उसके सिद्धान्तो का विश्लेषण अपने ढंग से किया जा रहा था। इस प्रकार से इस्लाम को आधुनिक सांस्कृतिक उत्थान के साथ जोड़ करके देखना इनको अभीष्ट था। मुसलमानो को संगठित करके, उनके शिक्षा का प्रचार करके तथा बहु विवाह की आलोचना, विधवा-विवाह का प्रचार, कुरान का सब लोगो में प्रचार करना, प्रगतिशील भावनाओं का बढ़ा हुआ चरण था। समाज ने विशेषकर मुसलमानों ने इसे स्वीकार किया। बम्बई, पञ्जाब हैदराबाद तथा अन्य स्थानो मे इन सिद्धान्तों का प्रचार होने लगा।

इनके विस्तार ने तथा प्रचार ने मुसलमानो के मध्य से बहु विवाह को कम किया और स्त्रियो की शिक्षा की ओर भी इनका ध्यान आकर्षित किया गया भारत में स्त्रियों की शिक्षा सस्था का अभाव था इन्होने उस अभाव को दूर किया

इन सभी जागरणों के साथ ही साथ राष्ट्रीयता का उदय भी इनमें हुआ। राष्ट्रीयता के उदय ने इनको संगठित करने की ओर प्रेरित किया, आगे चलकर सारे नेताओं के प्रयास से हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य की खाई पटने लगी और उन्हें एक ही राष्ट्रीय सूत्र में बांधा गया।

इस प्रकार से हिन्दुओं तथा मुसलमान दोनों में धार्मिक चेतना व्याप्त हो गई थी, पारसी भी इसमे अछूते नही थे। अंग्रेजी शासन ने एक ओर तो भारत को परतन्त्रता दी दूसरी ओर उसी शासन के फलस्वरूप पश्चिम के निकट भारत आया। दोनो मे सास्कृतिक, तथा अन्य विचारो का आदान प्रदान हुआ। एक नई चेतना आई और भारत ने भी अपने राष्ट्रहित की बात सोचना प्रारम्भ किया। धर्मों के बढते हुए बदलते हुए रूप और परम्परा तथा अन्ध विश्वासो की टूटती हुई कड़ियाँ, इसी चेतना के ही कारण हैं। इस्लाम तो मूल रूप से मुसलमानों का धर्म था ही, परन्तु उसके पालनकर्त्ता समयानुसार बढ़ नही पा रहे थे, हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया था, वे अपनी संस्कृति को छोड़कर आये थे, उनके लिए स्वभावतः इस्लाम की सभी बातें अनुकूल न लगी होंगी, इन छोटे-छोटे धार्मिक सुधारों तथा मोड़ों ने उसे एक परिस्थिति का रूप दे करके उसे मध्य की सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा किया। अतएव वे अपने दृष्टिकोण में प्रगतिशील ठहरते हैं।

आर्थिक परिस्थिति

(सन् १८७० से १९०० तक) लार्ड लिटन लार्ड रिपन, लार्ड डफरिन, लार्ड कैन्सडाउन (१८८८ से ९४)

हिन्दी के इतिहासकारो ने भारतेन्दु-युग को सन् १८७० से १९०० तक के समय मे ही बाँध रखा है। इस युग की आर्थिक रूपरेखा देने के लिए हमें इतिहास और वाइसराय की शासन व्यवस्था की ओर मुड़ना पड़ेगा। इस समय के मध्य लार्ड लिटन, लार्ड रिपन, लार्ड डफरिन और लार्ड लैंसडाउन की राज व्यवस्था भारत में रही है। एक बडी क्रान्ति (१८५७) की थी, उसे छोड़कर भारत आगे आया था, और इस क्रान्ति के फलस्वरूप अंग्रेजो के कदम भारत में दृढ़ से दृढ़ तर हो गए थे। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी जिसका सम्बन्ध भारत में राज्य का नहीं वरन् व्यापार का था अब समाप्त कर दी गई थी। कम्पनी के शासन से भारत को निकाल कर सीधे इंग्लैंड के बादशाह के शासन से भारत को सम्बद्ध किया गया।

इस प्रकार से भारत में वाइसरायों का शासन प्रारम्भ हुआ। भारत को उनके इस शासन में जो आर्थिक एवम् राजनीतिक लाभ तथा हानि हुई है उन्हीं का लेखा भारत की आर्थिक रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेगा।

लार्ड नार्थब्रुक ने सन् १८७६ मे अवकाश ग्रहण किया था। नार्थब्रुक के समय की भारत की आर्थिक दशा उल्लेखनीय है। उसी के समय में बिहार में भयंकर अकाल पड़ा। यद्यपि इतिहासकारों का मत है कि लार्ड नार्थब्रुक ने आर्थिक क्षेत्र में

बड़ी ही योग्यता एवम् दूरदर्शिता से काम किया।[1] फिर भी उसके समय का अकाल उसकी अयोग्यता और आर्थिक नीति के कारण न हो करके लार्ड मेयो आदि के ही कारण था। १८७३-७४ के अकाल के अतिरिक्त भारत मे कोई भी आर्थिक वैषम्य नहीं उपस्थित हुआ। भारत में बाहर से अन्दर आने वाले मालों पर कर ७½% कर दिया गया था। इसमें भी अधिक कम करके लार्ड नार्थब्रुक ने ५%कर दिया था। इसके अतिरिक्त उसने तेल, चावल और लाख को छोड़ करके और सभी बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओं से export duties हटा लिया था। सिन्धु की घाटी की रेलवे के तैयार हो जाने के पश्चात् गेहूँ का निर्यात बढ़ गया था और भारत बडी संख्या मे गेहूँ बाहर भेज रहा था। उसके शासन के अन्तिम काल मे डिजरेले की कन्सरवेटिव गवर्नमेन्ट में उसके ऊपर बहुत भार डाला गया कि मैनचेस्टर को भेजे गए सूती कपड़ों पर से ५% कर जो सबके लिए निश्चय था उसको भी मुक्त कर दिया परन्तु आर्थिक हानि के कारण उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। लार्ड नार्थ ब्रुक ने भरसक तमाम अनावश्यक करो को भारत से उठा लेना चाहा जोकि भारत की आर्थिक दशा को अशक्त कर रहे थे। लार्ड नार्थ ब्रुक ने इनकमटेक्स कर मे भी अपनी सम्मति नहीं दी थी, लार्ड मेयो की मृत्यु के पूर्व ही यह कर हटा कर १ प्रतिशत कर दिया गया था फिर भी यह नार्थब्रुक की सम्मति में अधिक था, इसने इसे बिल्कुल हटा दिया। भारत की आर्थिक दशा को सुधारने का तथा प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक लाभ कराने का यह अच्छा साध्य है।

सन् १८७३-७४ के बिहार के अकाल से भारत को बड़ी क्षति हुई, उसे सुधारने के लिए बर्मा से चावल खरीदा गया और उसे बिहार में भेज कर बटवाने की व्यवस्था की गई। राबर्टस के अनुसार अकाल पीड़ितों को सहायता में ६½ मिलियन व्यय हुआ।[2] दूसरा भयङ्कर अकाल लार्ड लिटन के समय मे मद्रास मे

---

1. An admirable mastery of finance, economic facts and statistics such I have never seen surpassed in India, not even by such economists and financiers as Wilson or Liang

—Sir R. Temple

Men and events of my times in India pp. 396

2. ......the most elabrate means were taken regardless of cost to transport and distribute it and relief works were everywhere established. The result was very large expenditure of nearly Six and half million on a famine of unusual brevity and of no exceptional severity.

—Historical Geography of India

by P E Robert pp 422

हुआ। यह वही समय था जब भारत मे शानदार दरबार हो रहा था, उधर तो अपने शानदार दरबार को मना रहा था और दक्षिण पर भुखमरी अपनी काली मनहूस छाया डाल रही थी। मद्रास। बम्बई, दक्षिण के अन्य प्रदेश मैसूर आदि उसकी लपट मे जल रहे थे। लार्ड लिटन ने अकाल में सहायता देने की चेष्टा तो की परन्तु इस आर्थिक अभिशाप को बार बार भारत पर न पड़ने के लिए भी प्रयास आरम्भ किया गया। उसने एक अकाल कमीशन की नियुक्ति की जिसके रिपोर्ट पर ही 'प्रान्तीय अकाल कोड' का निर्माण हुआ। इसमें साधारण जनता की ओर तथा देश की बेकारी की ओर ध्यान दिया जाने की व्यवस्था निर्मिति की गई। इस कोड का पहला सिद्धान्त यह था कि काम करने वाले योग्य व्यक्तियो को सरकारी ओर से सहायता-कार्य मे लगाया जाय। जो लोग अपाहिज दरिद्र और असमर्थ हो उन्हे तकावी या अन्य प्रकार की सामान्य आर्थिक सहायता दी जाय। इसके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि बजट से जो शेष रहे उसके दो भाग कर दिए जाँय एक अश तो अकाल-कोष में डाल दिया जाय और दूसरा अंश जिलो के भीतर रेलवे लाइन तथा नहरों को बनवाने के काम आये। रेलवे लाइन के द्वारा अकाल पीड़ित प्रदेशो को अनाज आदि भिजवाया जा सके और नहरों के निर्माण के पीछे व्यवस्था यह थी कि वहाँ अच्छी प्रकार की खेती की सुविधा दी जा सके। इस प्रकार से लार्ड के विचार से अकाल अव्यवस्था का ही प्रतीक था, जहाँ पर व्यवस्था सुन्दर न हो सकी थी, जहाँ प्रकृति से वह लड़ नही पाया था, वही वह हार गया था। अतएव उन स्थानों पर जहाँ प्राकृतिक सुविधायें उपलब्ध नही थी वहाँ नहर बनवा कर तथा सिंचाई के अन्य साधन प्रस्तुत करके ही अनाज की उपज को अधिक करने की चेष्टा हुई।

अकाल के अतिरिक्त 'कर' आते हैं। लार्ड लिटन का आर्थिक प्रबन्ध सुदृढ़ भीति पर आधारित था - अभी तक विभिन्न प्रान्तों में नमक कर की दर भिन्न-भिन्न थी। उसे समान स्तर पर लाया गया। देशी रियासतों से बृटिश राज्य मे बिना कर लगे नमक को न आने देने के कर लगाए गए थे ऐसे कर को लार्ड लिटन ने साफ कर दिया था। इसके अतिरिक्त और कई आयातों पर कर हटा करके व्यापार को स्वतन्त्र कर दिया गया।

नमक कर तथा आय कर हटाने के अतिरिक्त लिटय ने वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पास किया। इस एक्ट के अनुसार बहुत से देशी सम्पादकों से यह लिखवाया गया कि वह कोई भी ऐसी वस्तु नही छापेंगे जिसके द्वारा देश मे अशान्ति फैले अथवा सरकार के विरुद्ध जनता में घृणा एवम् विरोध की भावना फैले। यह कानून आपत्तिजनक था, क्योंकि अंग्रेजी समाचार पत्रों को इस विधान से मुक्त रखा गय था। यद्यपि वह वर्नाक्युलर कानून बहुत दिनो तक नहीं चला। लार्ड रिपन शासन काल में यह एक्ट रद्द कर दिय गया और भारतीय को मे

हानि हो रही थी, इस कानून द्वारा विवश हो करके सम्पादक अपने विचार स्पष्ट नहीं प्रकट कर सकते थे, फलस्वरूप पत्रों का प्रचार और विक्रय गिरने लगा, आर्थिक हानि तो देश को नहीं थी ,परन्तु वहएक माध्यम था जिसमे विचारों का आदान-प्रदान होता था, लार्ड रिपन ने इसके प्रतिबन्ध को ठीक नही समझा। फैक्टरी एक्ट भी आर्थिक व्यवस्था पर प्रभाव डालता है। शहर के मजदूरो की रक्षा के लिए सन् १८८१ में फैक्टरी एक्ट पास कराया गया जिसमें बच्चों के लिए काम का ९ घटे का दिन माना गया। इसके फलस्वरूप काम करने वालो की सुरक्षा तो हुई ही उनकी क्षमता में भी वृद्धि हुई। लार्ड लैंसडाउन १८८१ के फैक्टरी कानून का एक संशोधित रूप पास किया। स्त्रियों के लिए काम के घंटे ११ निश्चित किए गए, फैक्टरियों मे काम करने वाले बालको की न्यूतम आयु ७ से ९ वर्ष कर दी गई। उनके बाद के घंटे सात तक निर्धारित किये गए और रात मे उनके लिए कार्य करना हानिकारक समझ कर बन्द कर दिया गया। अन्त मे उन्होंने कारखाने में काम करने वाले मजदूरों के लिए एक सप्ताह की सवेतन छुट्टी देने का नियम बनाया।

इसके अतिरिक्त इनके समय का मुद्रा-विनिमय प्रश्न आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। चांदी के रुपयों के गिर जाने और इसके फलस्वरूप भारतीय राज्य के अस्त व्यस्त हो जाने के कारण सरकार ने चांदी के असीमित सिक्के बनाने से रोक दिया और सोने को कानूनन ग्राह्य सिक्का बनाया। विनिमय की दर एक गिन्नी के लिए १५) रुपये निर्धारित की गई।

इस प्रकार से अकाल, कर मुद्रा विनमय तथा वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट आदि विधान भारत की तद्कालीन आर्थिक परिस्थिति की रूप रेखा के रूप में है। सिक्के किसी भी राष्ट्र के सम्पत्ति के रूप में होते है और उन सिक्कों की Face value (वास्तविक मूल्य) भी आर्थिक समता को निर्धारित करता चलता है। युद्ध आर्थिक विषमता को उत्पन्न करते चलते हैं अफगान का युद्ध, बर्मा का युद्ध आदि ऐसे युद्ध भी हुए जिन्होंने राष्ट्रीय सम्पत्ति को बहुत कुछ खर्च करा डाला। आर्थिक स्थिति को एक निश्चित निकास प्रदान करने के लिए परिस्थिति जन्य कायो को अपनाना ही श्रेयस्कर है, इन गवर्नरों ने आवश्यकतानुसार उन्हीं कार्यों को अपनाया है।

काव्य में अभिव्यक्ति और सौन्दर्य

मानव की चेतना के साथ ही साथ जिस प्रकार सभी स्थलों एव क्षेत्रों में उन्नति हुई ठीक उसी प्रकार सौन्दर्य चेतना का भी उदय हुआ होगा। सौन्दर्य का सम्बन्ध मानव की अनुभूति से है। हमारे व्यक्तिगत जीवन मे चेतना का विकास होता है, यही कारण है एक बालक जिस वस्तु को पहले बहुत ही सौन्दर्य युक्त रमणीय और आकर्षक समझता है, रुचि के परिष्कार के साथ ही साथ उस वस्तु की रमणीयता और सौन्दर्य को निश्चित करने के स्तर में अन्तर होता जाता है। हमारी सौन्दर्य चेतना के पीछे हमारी भावना, अनुभूति और अनुभव भी सोये रहते है, शिशु काल की कोमल और निश्छल भावनायें युवापन के अनुभव के पश्चात परिपक्व हो जाने वाली भावनाओं से बिलकुल पृथक होती है । अतएव सौन्दर्य की कसौटी स्थापित करने में , यही भावनाओ का स्तर ही सक्रिय हुआ करता है। भावना का स्तर भी परिवर्तनशील है। उसके पीछे अनुभव और अनुशीलन अपना कार्य करते हैं। मूलरूप से भावना का अस्तित्व मिटता नही उसके रूप में अन्तर होता चलता है। भावनाओं में परिवर्तन स्थूल रूप का नही सूक्ष्म रूप में होता है और यही सूक्ष्म परिवर्तन रुचियों में परिष्कार किया करता है। सौन्दर्य भावना में प्रगति का तात्पर्य यही होता है कि भावनाओं एवं अनुभवों के क्रमागत विकास के साथ ही साथ सौन्दर्याङ्कन की दृष्टि में परिवर्तन के स्तर को देखना !

अब साहित्य में सौन्दर्यानुभूति के विकास को लें। साहित्यकार की भावना तथा सौन्दर्य में प्रगति किसी व्यापक रूप में नही हुआ करती बल्कि किसी एक क्षेत्र में, किसी एक दृष्टिकोण में ही सौन्दर्य का लेखा मिलता है। समाज की किसी समस्या को अथवा किसी सत्य को अनुभूति के किस कोरक से प्रगट किया गया है, अथवा अनुभव के किस अध्ययन के द्वारा अपना लिया गया है, सौन्दर्य इसी में निहित है इस प्रकार से एक - एक अङ्ग में अपनी - अपनी समस्यायें हैं। उन्हीं समस्याओ क विधान किस प्रकार से मिलता है अथवा अनुभूति के स्पष्टीकरण में शब्दों का रू विन्यास क्या है, यही सौन्दर्य भावना मे प्रगति का सूचक है। इस प्रकार से य स्पष्ट है कि हमारे विवेक विचार और अनुभूति का ऐतिहासिक विकास जो कि हमे सौन्दर्य विकास की ओर ले जाता है यही विकसित होता रहता है। अजंता औ अजोरा की चित्रकारी के सौन्दय की प्रशंसा एक शिशु नहीं कर सकता ए

अविकसित अनुभूति वाला वयस्क पुरुष भी नहीं कर सकता परिष्कृत रुचियों वाला एक दर्शक ही उस चित्रकारी के मनोगत भाव और उसके सकेत का अर्थ समझ उसकी प्रशंसा कर सकता है। चित्रकारी का अपना क्षेत्र है, साहित्य का अपना, परन्तु सभी क्षेत्रो को सम्बधित करने वाला तथ्य भावना का है जो विकसित होकर परिष्कृत रुचि में बदल सकती है। रीति काल का नायिका भेद और उसमे नखशिख का वर्णन सौन्दर्य की अनुभूति पर ही आधारित है। उस सौन्दर्य बोध की भावना मे क्रमागत विकास तो नही होता परन्तु रुचियो के परिष्कार के फलस्वरूप शब्दो के कुछ नये अर्थ और नये रूप हमारे सामने आते है। अतएव कलात्मक जाग्रति का उदय होना ही सौन्दर्य भावना के विकास का द्योतक होता है।

साहित्य विचार और अनुभूति का क्षेत्र है। इसमे शब्दो का बहुत ही महत्व है। शब्दों के द्वारा ही अर्थ बोध होता है। इस प्रकार से समस्त साहित्य सृष्टि शब्दों को ही माध्यम मान कर हुई। दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने शब्दो के अनेक गुण का उल्लेख किया है। शब्द मूर्तियाँ तीन मानी गयी है मधुर, प्रसन्न और ओजस्वनी। इन्ही तीन शब्द मूर्तियो के आधार पर ही अर्थ का सारा व्यापार आधारित है। साहित्य के दो प्रमुख अग गद्य और पद्य शब्द के अर्थ पर ही आधारित हैं। विचार गुण और प्रवाह के ही आश्रित पद्य मे शब्द रहा करते है। अर्थात् पद्य मे कवि के अपने विचार भाषा के प्रवाह तथा गुण के अनुसार ही शब्दों को चुन लेते हैं। इसके ठीक विपरीत गद्य में होता है। "गद्य मे अर्थ मूर्ति का प्राधान्य शब्द विन्यास के ऊपर होता है" इस प्रकार से सम्पूर्ण साहित्य मे शब्द विन्यासो के द्वारा ही सौन्दर्य की स्थापना होती है। सामाजिक चेतना के फल स्वरूप जब साहित्यिक चेतना तीव्र हो जाती है तभी साहित्य में चरमसीमा का जन्म होता है। यही एक ऐसा मोड है जब सौन्दर्य की अनुभूति मे थोडा अन्तर होता है। इस अनुभूति के पीछे चाहे चेतना का जो भी स्वर कार्य करता हो यह तो स्पष्ट है कि मानव की जिज्ञासा के फलस्वरूप ही यह परिवर्तन और नया मूल्याङ्कन बनता है। इसी आलोक मे हम विभिन्न काल के काव्य में सौन्दर्यानुभूति का अध्ययन करेंगे। पहले हम भक्तिकाल को लें।

भक्ति काल में सौंदर्य वर्णन का आभास

प्रत्येक काल के काव्य-सौंदर्य को आँकने के लिए उस समय की प्रचलित संस्कृति, सभ्यता और रूप-विधान की कसौटी को समझना पड़ता है। भक्ति-काल के सौन्दर्य निर्माण में सूर, मीरा और तुलसी की परम्परा का हाथ था। सूर और मीरा ने कृष्ण के रूप का वर्णन किया। वह वर्णन भी एक विधान और निश्चित मर्यादा से बँधा था। सूर द्वारा राधा का रूप-वर्णन भी अध्यात्म की शिला पर परखा गया था ऐन्द्रिय भावनाऐं यद्यपि आईं अवश्य परन्तु अध्यात्म का नाम लेकर उन्हे दबाने की चेष्टा की गई कृष्ण ने जहाँ भी राधा के रूप अथवा यौवन की बात की

अथवा उनके प्रति जहाँ भी आसक्ति दिखाई उसमे एक डरा डरा, बँधा बँधा प्रेम कृष्ण का व्यक्तित्व था। उन्होने जहाँ भी राधा से पूँछा, कुछ मुखर हुए, वहाँ अपनी स्वाभाविक उक्तियो को दबा करके। एक उदाहरण लें। राधा अकस्मात कृष्ण को ब्रज में मिल जाती हैं। कृष्ण का सम्भवतः पहिला ही परिचय है। परन्तु पूर्व-राग उनमें राधा के प्रति था, सुन करके ही उन्होंने राधा को समझा था।

बूझत स्याम कौन तू गोरी !
कहाँ रहत ? काकी है बेटी ? देखहु नाहि तुमहि ब्रज खोरी !
काहे को हम ब्रज तन आवत, खेलत रहत आपने खोरी
सुनत रहत नदन का ढोटा, करत रहत दधि माखन चोरी,
तुम्हरो कहाँ चोरि हम लैहैं, चलहु संग मिलि खेलन जोरी ! !

कृष्ण राधा से पूँछते हैं, कि तुम हो कौन ? राधा बता देती है कि उनके विषय मे वह सुना करती थी, कि एक नंद के ढोटा (लड़के) है, वह दही और माखन की चोरी करते हैं, कृष्ण का उत्तर सुन्दर हैं, तथा सुन्दर शब्दों मे सूर ने उसे निबाहा भी है। कृष्ण ने उत्तर दिया अच्छा हम तुम्हारा क्या लेंगे, चलो साथ खेलें। सूर ने बडी साधारण सी उक्ति सुन्दर ढंग से कह दिया, परन्तु यह मर्यादा, यह सकोच सूर पर न होता यदि कृष्ण उनके आराध्य देव न होते। कहने का तात्पर्य यही कि रूप-वर्णन की संस्कृति और सम्बन्ध औचित्य को ध्यान मे रखकर हुआ है।

गाय दुहते दुहते देखिए सौन्दर्य कितना ज्वलंत हो जाता है।

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी !
एक धार दोहनि पहुँचावति, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी,
मोहन कर ते धार चलति पय, मोहन मुख अति ही छवि बाढ़ी ! !

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे, और प्रत्येक दिन के कार्य-क्रमो में भी कवि ने अपने स्थान को ढूँढ ही लिया और उसकी कल्पना ने सौन्दर्य-सृष्टि कर दी। सलोने मुख पर दूध की धार पड़ने से उस मुख की छवि और बढ गई। सौन्दर्य की इस रूप-रेखा को प्रस्तुत करने वाले कवि पर उस समय को संस्कृति और प्रचलित रीतियो का कितना प्रभाव है। आज कवि यदि नौका विहार मे अथवा जगलो में शिकार करते करते नायक नायिकाओं का संगम दिखाता है और उनके सौंदर्य को उस समय बढा हुआ मानता है तो उस समय के कवि ने दूध दुहते 'रति को बढा' दिया है। दूध पड़ने से वह मुख निखर उठा इस सौन्दर्य के निरूपण के पीछे उस समय की संस्कृति और विशेषकर भक्ति-भाव से दबे हुए सूर के भावुक हृदय की झाकी है जिस पर अध्यात्म का लाख दबाव है परन्तु रूप वर्णन में उनका भावुक मन भाता नही। एक दूसरे उदाहरण में स्थिति वैसी ही है। राधा कहती हैं—

तुम पै कौन दुहावै गैया।
इत चितवत, उत धार   यहि सिखयौ है मया

सूर के काव्य में प्रेम के आविर्भाव की सीधी साधी और भोली भाली व्यंजना है। यशोदा राधा को मना करती है, वह चाहती हैं कि राधा बार बार उत्पात करने न आये। राधा का उत्तर सुनिये—

बार बार तू ह्याँ जनि आवै !!
"मैं कहा करौ सुतहिं नहिं वरजति, घर ते मोहि बुलावै,
मोंसो कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान,
छोह लगत मोको सुनि बानी, महरि ! तिहारी आन !!"

राधा की कितनी भोली उक्ति है। सौंदर्य का, स्वाभाविक उक्ति के, कारण कितना स्वस्थ चित्रण है।

इस प्रकार से सूर का सौंदर्य बड़ा ही स्वाभाविक है और अपने भोलेपन के कारण ही बहुत सात्विक हो गया है, भक्ति का भय सूर को इतना नहीं दिखाई पड़ता जितना तुलसी को। हम आगे देखेगे कि तुलसी का सौंदर्य लोगो को आक्रान्त कर देता है। उनके राम सौंदर्य के पुन्ज हैं जिन्हे देखकर ग्राम की वधूटियाँ वेतरह रीझ जाती हैं। वह सीता से ही पूँछती है,कि साँवरे रंग के ये तुम्हारे कौन हैं। सौंदर्य की ज्वाला इतनी तीव्र है और आक्रान्त करने की उसमे इतनी शक्ति है ग्राम वधूटियाँ तो यहाँ तक कह देती हैं—

"कहिये जग पोच न सोच कछू फल आपनि लोचन तो लहियैं।

बनवासी राम को देखते ही ग्राम की वधूटियाँ आयी। वे बातें करती हैं कि चलो चलकर देखे कि ये रात्रि मे कहाँ रहेंगे, हमसे वे बोले या न बोलें, आपस मे तो कुछ कहेगे ही। हमारे कान उनकी बातों को ही सुनकर तृप्त हो जायेंगे। यदि समाज इस कृत्य पर कुछ कहे भी तो सोच क्या ? हमारे नेत्र तो पुनीत दर्शन से तृप्त होंगे ही। यद्यपि यह उक्ति भक्ति के आवेश मे कही गई है परन्तु इसमें स्वाभाविकता है, इसमे सत्यता है। राम का रूप, एक स्वस्थ, सुरूप युवा का ही तो रूप है, यदि ग्राम की स्त्रियाँ उस रूप की प्रशंसा करती हैं तो आश्चर्य क्या परन्तु सूर और तुलसी के रूप वर्णन में अन्तर यही है कि एक का रूप वर्णन दाहक है, अपने ओर मैंगनेटिक शक्ति से खींचता है तो दूसरे का रूप वर्णन बहुत ही स्वाभाविक और अपने स्वाभाविक ढँग से वह आकर्षण भी करता है। अतएव तुलसी के सौंदर्य विधान मे तो राम के ब्रह्म होने की बात थी राम ब्रह्म है, ब्रह्म का रूप इसी भाँति आकर्षित करता है परन्तु सूर के कृष्ण तो कारे, मित्र कृष्ण हैं—अतएव उनके रूप का तो जैसे सूर ने आभास किया वैसा ही चित्रण किया।

अतएव भक्ति काल मे सौन्दर्य - निरूपण के पीछे कवि की स्वाभाविक वृत्ति क्रियाशील नही थी, कुछ निश्चित सँस्कार थे और व्योहार के प्रति परम्परा से चली आती हुई निश्चित [illegible] थी उन्हीं को [illegible] करके उस काल का कवि आगे बढ़ा इसके अतिरिक्त भक्ति काल में भक्ति की [illegible] होने के कारण

भक्त कवि ईश्वरोपासक थे, ईश्वर के विभिन्न रूप ही उसकी कल्पना के विषय होते थे, उस स्थिति में राधा सीता के सौन्दर्य की कल्पना बँधे बँधाये शब्दों में अपेक्षाकृत हुई थी।

इतने दिनों की बँधी हुई भावनाएँ मुखर हो गईं रीतिकाल में, और इस काल का कवि राधा और कृष्ण की उपासना के पीछे भी रूपासक्त हो गया। राधा का अनिन्द्य सौन्दर्य कवि के लिए मोहक तो पहिले भी हो सकता था परन्तु राधा का आध्यात्मिक व्यक्तित्व उन्हें ऐसी कल्पना से रोक देता था। रीतिकाल में धीरे-धीरे अध्यात्म का बोझ कम होने लगा था। इसी लिए रीतिकाल मे सौन्दर्य वर्णन अपनी चरम सीमा पर है।

रीतिकाल और सौन्दर्य वर्णन

रीतिकाल के काव्य में सौन्दर्य वर्णन अपनी चरम सीमा पर है। इस काल के काव्यमे सौन्दर्य, भोलापन, सुकुमारता का वहसारल्य प्राप्त होता है जो छायावादी काव्य में देखने को नहीं मिलता। कवि में विवेक का प्राधानता ही सौन्दर्य की स्वाभाविकता और सरलता को समाप्त कर देता है। इस दृष्टि से यदि सौन्दर्य की सीमाओं को बाँध दिया जाय तो वस्तुतः यही कहना पड़ेगा कि रीतिकाल के पश्चात् सौन्दर्य का भोलापन तो मिलता ही नही। काव्य में भावना का उत्तरोत्तर अभाव दीख पड़ने लगा, फल यह हुआ कि भावनापूर्ण सौन्दर्य वर्णन के स्थान पर तर्कपूर्ण सौन्दर्य, विवेक की कसौटी पर कसा हुआ सौन्दर्य हमें रीतिकाव्य के पश्चात देखने को मिलता है। रीतिकालीन कवि अपनी मानव सुलभ कविता में ईमानदार हैं। क्या कोई और भी वर्णन हमे देखने को मिलता है जिसमे फागुन का मादक वातावरण हो 'अबीर की भीर' में गोकुल की गोरी कृष्ण को खीच ले जाय और 'मन की करे' फिर 'आँख नचा कर, मुसकरा कर' कहे कि 'लला फिर आइहो खेलन होरी', पद्माकर का कवि इन पंक्तियों में स्वस्थ और यौवन की उद्दाम प्रवृत्तियों की उपासना कर रहा है। वीभत्सता तब आती जब कही इन्द्रिय लोलुपता होती, परन्तु इस वर्णन का तो केवल एक संकेत है और आवाहन है यौवन और रूप का। काव्य की सरलता का यही लक्षण भी है जो हल्की सी अनुभूति जगा कर हमारे हृदय को स्पर्श भर कर जाय—यह स्वानुभूति का उच्च कोटि का प्रदर्शन है। यद्यपि इस काल का सौन्दर्य वर्णन स्थूल है, परन्तु सौन्दर्य का वर्णन करना और अपनी रागात्मक अनुभूतियों के प्रति ईमानदार होना तो हमे इस काल के साहित्यकार ने ही सिखलाया है। भक्ति काल में भक्ति की प्रधानता थी सौन्दर्य का वर्णन जहाँ हुआ भी वहाँ बहुत ही नपे तुले शब्दों में। सूर और तुलसी यदि राधा और सीता के सौन्दर्य वर्णन करने में विवश हुए तो भक्ति की मर्यादा ने उनकी प्रवृत्तियों पर रोक लगा कर इनके वर्णन

वर्णन, उनका सौन्दर्य इस काल मे कवि को अविभूत कर गया। राधा का रूप भक्ति कालीन कवियो को किसी दूसरे रूप मे दिखलाई पड़ा, परन्तु रीतिकालीन दृष्टि ने उस सौन्दर्य मे रँग भर दिया। अतएव इस काल के सौन्दर्य वर्णन को हम दो भागों मे विभाजित कर सकते हैं—

(अ) वाह्य सौन्दर्य निरूपण।

एवम् (ब) आन्तरिक सौन्दर्य निरूपण।

वाह्य सौन्दर्य मे प्रकृति एवम् वातावरण की सुन्दरता और उनके द्वारा कवि आकर्षण का अनुमान करता है। इसके अन्तर्गत ऐसा सौन्दर्य वर्णन भी आता है जिसका कि निरूपण परोक्ष (Direct) रूप से कर दिया जाता हो। उदाहरण के लिए—

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत कननि छ्वै,
हँसि के बोलनि में छवि फूलन की, बरषा उर अपर जात है स्वै,
लट लोट कपोल कलोल करै, कल कण्ठ बेनी जल जावली द्वै,
अँग अँग तरंग उठै द्युति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै।

सम्पूर्ण अंग की सुन्दरता बता करके स्पष्ट कर दिया कि ऐसा होता है कि अभी रूप चू पड़ेगा। बाहरी सकेतो एवम् वर्णन के द्वारा सौन्दर्य निरूपण की यह परोक्ष रीति है। वातावरण चाहे जैसा भी हो, आन्तरिक चेतना चाहे जैसी भी हो वर्णित युवती सुन्दरी इस लिए है कि वह वस्त्र मे सुन्दर है।

आन्तरिक सौन्दर्य परोक्ष रूप में है साहित्यकार केवल शरीर की ही सुन्दरता का प्रमाण नहीं देता परन्तु वह उसके अन्तर्गत नायिका की चेष्टायें है जिसके द्वारा उनके अन्तर्मन का प्रतिबिम्ब देखने वालों पर (नायक) पड़ जाता है। परोक्ष सौन्दर्य तो रीतिकाल की ही निधि होकर रह गया, परन्तु अपरोक्ष सौन्दर्याङ्कन का ढंग प्रगति करता गया। मानव के अन्तर्मन का विश्लेषण ज्यो ज्यो बढ़ता गया ठीक उसी गति से चेष्टाओं के द्वारा नायक नायिकाओं के अन्तर्गत का विश्लेषण करके साहित्यकार सकेतों को भाषा बद्ध करके अपने विचारों को प्रकट करने लगा। इस प्रकार से अपरोक्ष सौन्दर्य वर्णन रीतिकाल से छायावादी युग, और प्रगतिवादी तक क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता गया। अपरोक्ष वर्णन का एक रीतिकालीन उदाहरण लीजिए—

धार में जाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उबरी न उधेरी,
री! अँगराय गिरी गहरी, गहि फेरि फिरी न, घिरी नहि घेरी,
देव कछू अपनो बश ना, इस लालच लाल चितै भई चेरी,
बेगहि बूड़ि गई पतियाँ अँखियाँ मधु की मखिया भई मेरी

उपर्युक्त चित्रण में पिछले चित्रण की भाँति बाहरी शरीर के सुन्दर होने का

खीचता चलता है। 'धार-में निराधार होकर गिरना' अगँराकर (अँगड़ाई लेकर) गिरना, फेरने से न फिरना आदि क्रियाएँ हैं नायिका के अन्तर्मन की ओर संकेत करती हैं, और इन क्रियाओ को वर्णन करने वाले कवि में आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति प्रखर है। कवि ने नारी के बाह्य रूप का वर्णन नहीं किया है उसकी भावनाओं के आन्तरिक पर्त मे गहरा गोता लगा कर नारी के मनोवेगों का चित्रण किया है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि रीतिकाल में सूक्ष्म सौन्दर्य को आँकने की प्रतिभा विकसित हो रही थी। रीतिकालीन नायिकाएँ अपने हाव-भाव, अपनी चेष्टाओं तथा संकेतों के द्वारा ही नायकों को आकर्षित करती रही।

इस प्रकार से सौन्दर्य के वर्णन में रीतिकाल का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। छायावाद का सूक्ष्म सौन्दर्य तथा प्रगतिवादी युग का अमासल रूप इसी आधार पर आधारित है। सौन्दर्यानुभूतियों में प्रगति का तात्पर्य हम यहाँ स्पष्ट कर दें। सौंदर्य बोध की भावना में विकास का तात्पर्य यह नही समझते कि इस भावना में विकास क्रमश. एक, दो, तीन के Mathematical order में हुआ है, परन्तु इस विकास के पीछे आधार और उस आधार पर बढ़कर अनुभूतियाँ कितनी सूक्ष्म हुई हैं, यही देखना उन अनुभूतियों के मूल्याङ्कन का आधार रहा है। सौंदर्य की दृष्टि से हम ऊपर कह चुके हैं, कि यह काल स्वस्थ काल रहा है, कवियों की अनुभूतियाँ रूपवर्णन पर आकर केन्द्रित अवश्य हुई हैं, परन्तु उस रूप मे सुन्दर आकर्षण है, सात्विक आकर्षण है। केवल रीति की कल्पना कर लेना ही सौंदर्य वर्णन का ध्येय नही रहा है, रीति-वर्णन के अतिरिक्त नायिका का स्वाभाविक और भरा हुआ यौवन कवि ने देखा है। इसके अतिरिक्त रूप उनके लिए मोहक रहा है, जलाने वाला नही रूप के इस स्थूल वर्णन ने सूक्ष्म वर्णन को पैदा किया।

इसके अतिरिक्त साहित्य मे सौंदर्य वर्णन क्रमागत, परिधि मे बँधकर नही चला करता।[1] सौंदर्य को आँकने की नई कसौटी भी बनती है, नए ढंग से रूप को अनुभव करने की दृष्टि भी मिलती है। इन दृष्टियो को समझ करके, प्रत्येक युग की सामाजिक चेतना को पी करके ही रूप की अनुभूति निश्चित की जाती है। रीति, छाया और प्रगतिवादी युग की सौन्दर्यानुभूति मे ये तत्व भी विचारणीय हैं।

छायावाद काल और सौन्दर्य वर्णन

सौन्दर्याङ्कन के क्षेत्र में हिन्दी कविता अपने रूप को परिवर्तित करती आती है। छायावाद कवि की सौन्दर्याङ्कन शक्ति के विकास के फलस्वरूप आया। काव्य के

---

1. It may be admitted that the history of aesthetic products show progressive cycles, but each cycle has its own problem and progressive only to that problems.

Aesthetics Cro
Literature and Art pp 2

प्रगति में, कवि की सौन्दर्यानुभूति का ही प्रमुख हाथ रहा है, छायावाद का विकास भी कवि की रुचि के ही परिष्कृत होने और विकसित होने मे है। सौन्दर्य का आधार व्यक्ति का निरपेक्ष मन है साहित्कार का यही मन अपनी अनुभूति एवम् चिन्तन से वाह्य जगत से उपकरण की उपलब्धि करता हैं और उसी का शब्दो के द्वारा प्रदर्शन करता है। साहित्कार की अव्यक्त चेतना का स्वरूप जब मुखरित होता है तभी शब्दों का निर्माण होता है, अतएव काव्य व्यजना में कहाँ तक सौन्दर्य का आभास है, यही देखना है।

शब्द अपनी शक्ति के द्वारा रूप - विन्यास पैदा करता चलता है, इस रूप-विन्यास के पीछे काम करने वाली रुचि और सौन्दर्य भावना साहित्यकार के परिष्कृत मन की उपज होती है। छायावादी साहित्यकारों की इस सौन्दर्य बोध की भावना के पीछे सामाजिक सस्कार तथा भावनात्मक प्रतिरूप छिपे हैं। सामाजिक संस्कार से तात्पर्य है समाज की उन भावनाओ का जिनके द्वारा रुचियों पर प्रभाव हुआ है। इस प्रकार से चेतना से विकसित होते हुए अन्तराल ने उस रूप को ग्रहण कर लिया है। प्रत्येक युग मे उस समय की राजनीतिक एवम् धार्मिक हलचलों की छाप हमें स्पष्ट दिखाई जाती है। सौन्दर्य के विकास में छायावाद का स्थान विशेष है। अनुभूतियो का परिष्कार एवम् स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख हो जाना ही छायावादी सौन्दर्य-साधन की विशेषता रही है।

अपने आन्तरिक भावो को वर्णन करने तथा प्रकट करने में छायावादी कवियों ने अनेक मार्ग ढूढे। वे सभी साधन सौन्दर्य से ही सम्बन्धित हैं। अपने भावो को स्पष्ट करने मे शब्दो का माध्यम तो होता ही है उन्हीं माध्यम को सुन्दर से सुन्दरतर बनाना कवि को इष्ट रहा है। इसी क्रिया की उपलब्धि मे,(कवि को शब्दों मे अधिक व्यंजना लाने के लिए) प्रतीक मिल गया। यो तो प्रतीको का प्रयोग बहुत पुराना है परन्तु अभिव्यक्ति के, साध्य के रूप मे कम और सूक्ष्म निरूपण के रूप में अधिक छायावादियों ने ही इसे लिया। इसके अतिरिक्त अलकार जो केवल वाणी की सजावट के लिए माना जाता था, पन्त जी ने भावो की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार[1] के रूप मे उन्हें पा लिया। इस प्रकार से अनुभूतियों के ही आधार पर अलंकार और प्रतीको का नवीन रूप में प्रयोग होने लगा। अलंकार को पहिले वाणी की सजावट के लिए माना जाता था, उनका कार्य वाणी की सज्जा का ही था, परन्तु

१. अलकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भावों की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।

की भूमिका

पन्त

भावो की अभिव्यक्ति भी उनके द्वारा की जाने लगी। प्रतीक भी अब तक केवल भावों की बाह्य अभिव्यक्ति करते थे, छायावादियों ने प्रतीक का प्रयोग अधिक अन्तर्मुखी और अधिक सूक्ष्म बना दिया। भाव और अभीष्ट सौन्दर्य के पूर्ण गठबन्धन के पश्चात कवि रूप-विन्यास की सांस्कृतिक शब्दो के द्वारा अभिव्यक्ति करता है। काव्य के क्षेत्र में यह सांकेतिक स्थानों की ओर संकेत का प्रयास 'प्रतीक' के नाम से जाना जाता है। उदाहरण के लिए 'विद्युत' शब्द को लें विद्युत से बिजली का अर्थ बोध हुआ, व्यञ्जना के द्वारा प्रकट हुआ कि स्मृति उथल-पुथल मचाने वाली है, जिस प्रकार से बिजली चमकती है फिर लीन हो जाती है, कौंध ही उसकी विशेषता है, उसी प्रकार से कवि के मस्तिष्क में स्मृति आती है और फिर एक कौंध पैदा करके लीन हो जाती है।

विद्युत माला पहने फिर मुसकाता सा आँगन में।
फिर कौन बरस जाता था, रसधार हमारे मन में॥

कवि के मानसिक आँगन मे कोई स्मृति बिजली की तरह कौंध कर आती है, कवि का मन उसका आभास करता है, फिर अनुभूति की प्रखरता के कारण उसके मन पर कोई (स्मृति लाकर हो) रसधार गिरा देता है। अतएव विद्युत के पीछे कौंधना, काँप जाना, ये सभी मिले हुए हैं, विद्युत का यह विस्तृत अर्थ प्रतीकात्मकता के द्वारा ही प्रकट हुआ'। अतएव प्रतीकों का प्रयोग भी सौन्दर्य के लिए ही हुआ है। काव्य मे सौन्दर्य को लाने के लिए और उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए ही इसका प्रयोग हुआ।

छायावाद ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। एक शब्द का प्रयोग कवि के पूरे अन्तरमन पर पड़ी छाया को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देता है। मन पर पड़े गहरे प्रभाव को अभिव्यक्ति के द्वारा वैसा ही उतार देना, छायावादी कवियों को इष्ट रहा है। सौन्दर्य का यह आभास उत्तरोत्तर विकास तो नही कर पाया, परन्तु भावो की स्थूलता, सूक्ष्मता मे अवश्य परिणत होती गई। रीतिकालीन वर्णनों में जहाँ कहीं उरोजों का वर्णन आया है, कवि बड़े सनसनी पूर्ण शब्दों में उसका वर्णन करने मे सफल रहा है, परन्तु छायावादी ऐसे ऐसे नाजुक स्थलो को भी शब्दो में गहरी व्यंजना भर कर बड़े ही सुघड़ और सुन्दर ढंग से कह देता है। कामायनी का कवि ऐसे स्थलों के वर्णन में सिद्धहस्त है।

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजुली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग॥

नील परिधान के मध्य अधखुला अंग, कवि को, 'बिजुली का फूल' लगता है पलकें झपा देने वाली चमक आलोक, उतना ही कवि को आकर्षित कर देता जितना कि बिजली का आलोक सौन्दय वर्णन में शब्दों को शक्ति तो ह

युग का अद्वितीय चमत्कार रहा है और 'प्रसाद' जी इसके प्रतिनिधि रहे है। एक दूसरा उदाहरण ले—

श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओ से ग्रथित रहा,
जीवन के उस पार उड़ाता, हंसी, खड़ा मै चकित खड़ा रहा!!

'मुक्ताओ से ग्रथित नखदान' का तात्पर्य स्पष्ट है। श्यामा के शरीर पर नखदान और नाखून के द्वारा रगड़ से उस रेखा के चारो ओर जो सफेद सफेद बिन्दु हो जाते हैं, कवि की प्रतिभा ने उसे मुक्ता कह दिया। ऐसे ही सौदर्य पर तो कवि अपने को निछावर कर देता है।

'सौंदर्य सुधा बलिहारी, चुगता चकोर अंगारे'

कवि का व्यक्तित्व तो सौदर्य-सुधा की बलिहारी जाता है, और ऐसे चकोर को भी जो सौंदर्य प्रेमी इतना है, कि अंगारे चुगता है। इसमें चकोर की महत्ता नही है, महत्ता है चकोर की प्रेरणा देने वाले सौदर्य की जिसने उसे बाध्य कर दिया अंगारे चुगने को। कवि ऐसे ही सौंदर्य की बलिहारी जाता है। अतएव रीतिकाल के सौंदर्य-वर्णन और छायावादी-सौंदर्य-वर्णन मे अभिव्यक्ति, अनुभूति और सौदर्य को देखने के विभिन्न दृष्टिकोण की वृद्धि ही हम मानते हैं। रीतिकाल से छायावाद काव्य मे सौन्दर्य दृष्टि में विकास ही हुआ है। यह सौदर्य वर्णन बाह्य न होकर आन्तरिक मनोवृत्तियो को उकसाने वाला रहा है। इस विकास के पीछे हमे सौदर्य दृष्टि का एक क्रमागत विकास ही दिखलाई पड़ता है। इस विकास में समाज, संस्कृति, परम्परित मान्यताओं आदि का प्रभाव पड़ता है, यह ऊपर सकेत किया जा चुका है। इसलिए सौदर्य-दृष्टि का विकास इसी सीमा मे ही हमे देखना है, परन्तु कवि की अनुभूति किन किन शब्द-रूपों को चुन लेती है, चुनने की यह क्रिया, कवि को मानसिक विकास और दृष्टि के परिष्कार के रूप में ही मिली है। अन्त मे हम प्रगतिवादी विचारधारा में सौन्दर्य का निर्वाह देखेगे।

सौन्दर्य का निर्वाह प्रगतिवादी काव्य में भी हुआ परन्तु रूप-परिवर्तन तथा मापदण्डों के परिवर्तन के पश्चात्। 'दिनकर' ने 'मिट्टी की ओर' में संकेत किया कि सौन्दर्य सृष्टि के लिए कला को उन्मुक्त कल्पना की आवश्यकता है।[1] 'उन्मुक्त' शब्द का तात्पर्य समझ लेना है। उन्मुक्त कल्पना तभी हो सकती है जब कवि मस्तिष्क किसी व्यक्ति विशेष की सत्ता से आक्रान्त न हो, जब मस्तिष्क किसी

---

१. सौंदर्य सृष्टि के लिए कला को ऐसी कल्पना की आवश्यकता है जो उन्मुक्त हो जिस पर विधि या निषेध के कठिन बन्धन नहीं हों। कल्पना की रोमांटिक धारा अपने ही नियमों का अनुगमन करना चाहती है। उसके बाद वे अनुशासन या दमन सत्य नहीं है। उपमा की नपी तुली रस्सी उसे बाँध नहीं देती। यमक की मधुरता उसे छिपा नहीं सकती। —मिट्टी की ओर

विशेष व्यक्तित्व से बँधा हुआ रहेगा (रीतिकालीन कवियो की भाँति) तब. उस अवस्था मे उससे वह स्वतन्त्रता और निरपेक्ष सम्मति एवम् धारणा नही करती बनेगी जैसी कि वह स्वतन्त्र स्थिति में करता आया है । अतएव वास्तविक सौन्दर्य की सृष्टि, कला द्वारा, तभी होती है जब कवि का मस्तिष्क पूर्ण स्वतन्त्र हो । अपनी उक्ति के दौरान मे कवि ने (दिनकर ने) यह भी बताया है कि 'उपमा और यमक की रस्सी उसे बाँध नहीं सकती ।'

आज की कविता मे सौंदर्य-बोध की धारणा मे परिवर्तन हो जाने का कारण यह भी है कि काल की मान्यतायें बदल गई है । यथार्थ भावना के उदय के साथ ही साथ जीवन की सी कड़ुवाहट काव्य में भी आ गई है. अब तक काव्य कवि के स्वप्नों की ही फुलवारी की भाँति सुन्दर था, स्वप्नो की सुन्दरता से तात्पर्य ऐसी सुन्दरता से है जो वास्तविक जीवन से बहुत दूर थी परन्तु अब 'विवशता, भूख, तथा मृत्यु' भी सजाने के बाद ही पहिचाने जाने लगी । सर्वेश्वर दयाल के शब्दों में दुनिया का यह ओछापन नही है, महज उसका सौंदर्य बोध बढ गया है ।[1] भूखा मनुष्य किस प्रकार से अपनी भूख शान्त करता है, और मृतक व्यक्ति को किस तरह सजा बजा कर उसका अन्तिम सस्कार किया जाता है, इन क्रियाओं के पीछे भी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति कार्य करती है । अतएव कहने का तत्पर्य यही कि जीवन की वास्तविक और यथार्थ परिस्थिति में भी हम सौन्दर्य को स्थापित कर सकते हैं, और आज का मानव, विकसित सौन्दर्य-दृष्टि का मानव, इस रूप मे ही समाज को देखना चाहता है । सौन्दर्य समाज और जीवन के मूल्यों से सम्बन्ध रखता है अतएव मानवीय चेतना विकसित होते-होते सत्य के इस स्वरूप को पहिचान लेती है और फिर कुरूपता और रूपवान होने और समझने की भी तो अपनी - अपनी दृष्टि है । काव्य में जीवन के दोनों पहलू आने लगे । प्रगतिवादी

---

१. आज की दुनिया में विवशता,
भूख,
मृत्यु.
सब सजाने के बाद ही पहिचानी जाती है ।
बिना आकर्षण के दूकानें टूट जाती हैं,
शायद उनकी समाधियाँ नहीं बनेंगी,
जो मरने के पूर्व,
कफ़न और फूलों का
प्रबन्ध नहीं कर लेंगे ।
ओछी नहीं है दुनिया,
मैं फिर कहता हूँ,
महज उसका सौन्दर्य-बोध बढ़ गया है (दयाल

साहित्य में आते - आते कवि के सौन्दर्याङ्कन की दृष्टि और बढी और तीखी हुई। छायावादी कवियों ने सौन्दर्य से अपने को आक्रान्त पाया है परन्तु प्रगतिवादी काव्य में इस भावना का विकास और ही रूप में हुआ। छायावादी कवियों ने सौन्दर्य-तत्व स्वीकार किया परन्तु उसमें लीन होकर स्वय बेसुध हो गया और वह भावना इतनी बढ़ी कि कही - कहीं विचित्र स्थल आए, कहीं इसी सौन्दर्य की ओट में कवि ने रहस्य का सङ्केत सुना, इस कल्पना की मीठी चाँदनी मे कवि का व्यक्तित्व स्वय खो गया - सौन्दर्य सृष्टि ने उन्हे विभोर कर दिया, सौन्दर्य उनकी दृष्टि मे इतना बढ़ा कि उसे अप्राप्य, कही - कहीं पर अलभ्य मान लिया गया। बच्चन ने तारों के सौन्दर्य की बातें करते - करते स्पष्ट किया था कि "तारो के सौन्दर्य को जग क्या पहिचाने और जाने, कवि उसे जग द्वारा पहिचाना जाना सम्भव ही नहीं मानता। सौन्दर्य बोध का स्तर इतना ऊँचा था, कि उसमे इस लोक के ऊपर की बातें निहित समझी जाती थी परन्तु नया सौन्दर्य, बोध प्रत्येक-सौन्दर्य को रूप को, जगती का ही मानता है और उसी से सम्बन्धित पाता है यदि सम्बन्धित नही है तो वह सौन्दर्य अपूर्ण है, सारहीन है। सौन्दर्य-बोध का मापदण्ड अब यह निश्चित किया गया कि उसके अन्तराल मे जीवन का यथार्थ है और मानवता के प्रति सूक्ष्म मोह है।

प्रगतिवादी कविताओं ने सौन्दर्य को इसी रूप में लिया है। छायावाद ने सौन्दर्य को वाह्य रूप में स्वीकारा, उसके एकाङ्गी रूप को लिया उसे जीवन से ऊपर की वस्तु मान लिया। परन्तु प्रगतिवाद ने उसे जीवन की वस्तु बना ली, जीवन उसी से सँवारा जाने लगा। सौन्दर्य का वह रूप जो अब तक कोमल था, सरसता और राग में ही सीमित था अब उठ कर सामाजिक धरातल तक आने लगा। इस प्रकार से समाज के सुखदुःख की भावनाएँ पीड़ा, श्रम, आदि का भी बोध हुआ। काव्य सौन्दर्य केवल दुकूल कालिन्दी तट तथा नायिका के उरोजों तक तथा उषा के गाल' तक ही सीमित न रह करके मिल के काले धूओं तक आया और जिन्दगी का कवि उन धूओ को भी सुन्दर समझकर उसकी प्रतीति करने लगा। सौन्दर्य के विकास में क्रमागत प्रगति होती आई है। उस प्रगति के पीछे समाज के, संस्कार, राजनीतिक एवम् बौद्धिक चेतना सक्रिय रूप से काय करती रही है।

इधर का कथा-साहित्य

छायावादी साहित्य अपने में एक अद्भुत प्रगति का सर्जन कर सका है, परन्तु उस साहित्य से जो सूक्ष्मता मिली वह व्यक्ति की ही रह गई, भाव प्रवणता एवम् टेकनिक की सूक्ष्मता और आगे आई और प्रगतिवादी काल के उपन्यासों में वह स्पष्ट लक्षित होने लगी।

उपन्यासों का मुख्य अंग है कथानक। कथानक का चुनाव, उसकी बाह्य रूपरेखा और उसके अन्तर्जगत में प्रवेश करके कथानक कहाँ तक उभरा है, इसी में उसकी सफलता का रहस्य सञ्चित रहता है। कथानक का चुनाव जीवन के किसी भी क्षेत्र, एवम् किसी भी दृष्टिकोण से हो जाता है। इसी भावना के फलस्वरूप प्रगतिवादी कथाकारो ने जीवन मे केवल आदर्श की स्थापना न करके यथार्थ को भी अपनाने की चेष्टा की। पाश्चात्य उपन्यासों में (Naturalism) प्रकृतिवाद को अपना कर अपने स्वाभाविक ढग मे ही तथा नायकों को स्वाभाविकता देकर ही कथा साहित्य का निर्माण हुआ। वही प्रभाव हो, अथवा भारतीय कथाकारो की विकसित चेतना एवम् प्रयोग का फल हो, कुछ भी हो, हिन्दी उपन्यासो ने भी प्रकृतिवाद को अपना लिया गया। इस काल के उपन्यासो में जीवन का वह पहलू लिया गया हो जो पूर्ववर्ती उपन्यासकारों ने छोड़ दिया हो यह बात नहीं, जीवन का वह पक्ष जिसका वर्णन पहले हो चुका था, वही पक्ष भी कथा-साहित्य मे फिर से वर्ण्य विषय बन गया, परन्तु उस स्थिति के अप्रोच में अन्तर आ गया, साहित्यकार के बदलते दृष्टिकोण ने जीवन को जब दूसरे रूप में लेना शुरू किया तभी समाज के विभिन्न रीति नीतियो को भी नए दृष्टिकोण से आँकना शुरू हुआ। फलस्वरूप उपन्यासो मे वर्णित कथा वस्तु की नवीनता प्रशंसनीय नहीं रही, वरन् उस कथा वस्तु को परिस्थिति विशेष में, जीवन को एक नए ढंग से अपना की कला उल्लेखनीय हो गई।

उपन्यासों के वर्णन में मानव का आन्तरिक पक्ष जागरूक हो गया। आन्तरिक पक्ष के जागरूकता ने ही मानव के मन का विश्लेषण करना आरम्भ कर दिया। घटनाओ को गौण रख कर उनके सहारे पात्रों के आन्तरिक भावचक्रों को खोल कर रखना ही आधुनिक उपन्यासकारों का उद्देश्य हो गया। कथा की समय सीमा भी लम्बी चौड़ी न रख कर विस्तार से अधिक भावों की गहराई की ओर

लेखक का ध्यान अधिक आकर्षित होने लगा। 'अज्ञेय' के शेखर मे रात मे देखे गए एक का ही प्रक्षेपण है, 'नदी के द्वीप' से डेढ़ वर्ष की कथा है, परन्तु समय की सीमा को कम करके नायक के मनोवृत्ति, उसके मन पर पड़े उस वाह्य समाज द्वारा प्रभाव, तथा प्रतिक्रिया, एवम् भावों के उतार चढ़ाव की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। यह तो उपन्यास के आन्तरिक कलेवर की बात रही, वाह्य पक्ष मे भी स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होने लगा। पात्रो की रचना मे भी लेखक अधिक सतर्क हुआ, अब तक पात्रों की संख्या अधिक होती थी, परन्तु विवेचना पद्धति के विकास ने पात्रों की सख्या को भी कुछ कम कर दिया, शेखर, नदी के द्वीप, सुनीता, त्याग-पत्र, कल्याणी मे भी पात्रो की सख्या तीन, चार से अधिक नही है। वर्णनात्मकता से हट कर विश्लेषण, मन और मस्तिष्क पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। पात्रों की रचना में एक पात्र के मन से हट कर कई अन्य मन मे प्रवेश करके उसका तुलनात्मक विवेचन करना लेखक को इष्ट हो गया। कथा के प्रवाह में आकर जहाँ पात्रो की सख्या बढ़ती भी दिखलाई पड़ी है वहाँ आत्मकथा के द्वारा, दैवी, प्रकोपो के द्वारा अथवा किसी भी अन्य साधनो को अपना करके उन बढते हुए पात्रों को मार्ग से हटा दिया गया है, अतएव पात्र की संख्या सकुचन करके उनके मनोदेश में प्रवेश करके लेखक ने भाव-दशा, मन-दशा तथा मानसिक-दशा का चित्रण किया है।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यास वाह्य घटनाओं से लदे रहते थे। घटनाओं का, तथा उनके प्रभाव का बड़ा महत्व समझा जाता था, इसी महत्व ने, घटनाओं के इसी भारी भरकम, लदान ने वार्तालाप को पनपने नही दिया था। पात्रो का वार्तालाप ही उनके आन्तरिक विचारों का प्रदर्शन करता है, अतएव आन्तरिक जगत की किया ने घटनाओं के वाह्य रूप को गौण करके वार्तालाप की पद्धति को अपना कर पाठकों के समक्ष पात्रों के आन्तरिक संघर्षों को लाकर समक्ष रखने की एक नई शैली अपना ली। उपन्यास का कथानक अधिकांश वार्तालाप से ही घिरा रहने लगा। चेतन मन की सूक्ष्म स्थितियों भावों एवम् सवेदनाओ को सफलता पूर्वक शब्दबद्ध, करने के प्रयास ने आधुनिक उपन्यासों को बहुत ही आकर्षक बना दिया। ऐसी कथावस्तु को चित्रित करने के लिए चरित्र का निर्वाह दो विधियों को अपना कर किया गया। पहिली पद्धति में साक्षात् या विश्लेषणात्मक पद्धति आ जाती है। इसके उपन्यासकार अपने पात्रो की चारित्रिक विशेषताओं को स्वयं बता जाता है। इस प्रकार से उपन्यासकार और पाठक के बीच कोई व्यवधान नही आने पाती अतएव इसे साक्षात्-विधि का नाम दिया गया है। दूसरी पद्धति परोक्ष, वा सांकेतिक पद्धति है। इस पद्धति के अन्तर्गत उपन्यास में चरित्र चित्रण केवल घटनाओ के प्रस्फुटन के द्वारा ही होता है उपन्यास केवल संकेत करता चलता है घटनाओं के चक्र को बनाकर अथवा वाह्य रूप रेखा को प्रस्तुत कर अपने सदेश को

सकेत के द्वारा ही पाठक को समझा देता है। यह पद्धति सांकेतिक पद्धति है। आजकल दोनों पद्धतियो का समावेश है, परन्तु नाटकीय अथवा सांकेतिक पद्धति को अधिक प्रश्रय दिया गया है। टेकनिक की दृष्टि से यह प्रगति अवश्य है। जहाँ पर विचारो का स्पष्टीकरण स्थूल रूपसे किया जाता था और उन विचारों को बोधगम्य करने के लिए शब्दों की ओर उसके सीधे सीधे अर्थ को अपना लिया जाता था वही पर व्वन्यात्मकता के द्वारा ही अर्थ बोध कराया जाने लगा। काव्य मे जो स्थान प्रतीकात्मकता का है वही स्थान उपन्यास साहित्य मे सांकेतिक पद्धति का है। टेकनिक की दृष्टि से उपयासों में यह प्रगति है।

वर्णनात्मक उपन्यासों में पाठक की रुचि वाह्य कलेवर तक ही सीमित होती थी, इनका पाठक प्राय. श्रोता होता था, वह आश्चर्य के साथ, चकित हो करके अपने समक्ष घटित घटनाओ की रूपरेखा देखता जाता है, उसका ध्यान उपन्यास के आन्तरिक विश्लेषण की ओर न होकर उसके वाह्य पक्ष के विश्लेषण की ओर होगा, परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का पाठक उपन्यास के वाह्य को न देख कर उसके अन्तर्जगत में होने वाले भावो में आलोड़न विलोड़न एवम् मन्थन कीगति को तोलता रहता है वर्णनात्मक उपन्यासोके साथ पाठक का साथ एक इतिहास को घटना कासा रहता है, वह निर्जीव, नीरस होकर पात्रों के वाह्य पक्ष को निरखता रहता है पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लेखक पाठक को अपने मानसिक मन्थन को तो समझाता ही है इसके अतिरिक्त परिस्थतियों को पदा करके, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात का वर्णन करके स्वयं पाठक को एक ऐसी स्थिति देता चलता है और उसके मानसिक चेतना को इस ओर विवश करता चलता है कि वह अपना फैसला (Self Judgement) स्वय दे देती है।

इन्ही तथ्यों को ले करके आज का उपन्यास साहित्य आगे बढ़ा है। इसमें प्रधानता है सामाजिकता और मनोवैज्ञानिकता की यों तो सामाजिक प्रवृत्ति वहिर्मुखी प्रेमचन्द काल में ही थी, परन्तु आन्तरिक सामाजिक चेतना का प्रवाह तथा प्रचार फ्रायड, मार्क्स एवम् जग की विचारधारा का प्रभाव वर्तमान काल में स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। हमें जैनेन्द्र के प्रमुख उपन्यासो में इन्हीं गतिविधियों को आंकना है।

परख

जैनेन्द्र की कथाओ में समाज जन्य विषमताओ का प्रभाव तो मिलता ही है इसके अतिरिक्त उनके पात्रों में दमन (Repressicn) मनोविकृति एवम असाधारण प्रवृत्ति भी पायी जाती है। ९ अपने जीवन में नए आदर्शों की

से प्रस्फुटित होने लगता है और वह कट्टो के विवाह की बात सोचने लगता है, वह बाल-विधवा थी, अतएव वह कोई सुपात्र की तलाश मे रहता है। इसी बीच मे उसके मित्र बिहारी इस कार्य के लिए उसे सूझ जाता है और उसकी बहिन गरिमा के साथ विवाह करने पर वह सनद्ध हो जाता है। यह प्रस्ताव वह कट्टो के समक्ष रखता है, परन्तु वह सत्यधन के चरणों में ही बैठकर अपना जीवन धन्य समझती है। कट्टो का यह निश्चय सत्यधन के मस्तिष्क मे एक संघर्ष उत्पन्न करता है, वह सोच नही पाता कि वह सामाजिक गौरव, धन और यश की ओर झुके गरिमा से अपना विवाह करा ले अथवा वह प्रेम और दृढ़ता की ओर मुड़े, अन्त में वह गरिमा से विवाह की बात मान लेता है। दूसरी ओर बिहारी और कट्टो को लेकर कथा का सूत्र बढ़ा है। जब बिहारी का परिचय कट्टो से होता है तो उसे सत्यधन की ओर उन्मुख हुई देख करके बिहारी को निराशा एवम् क्षोभ नहीं होता वरन् वह कट्टो के त्याग और सच्चे प्रेम पर आसक्त ही हो जाता है, और इस वृत्ति का वह प्रशसक भी बन जाता है। बिहारी के स्वाभाविक एवम् सरल कार्य, कट्टो के हृदय में एक स्थान उसे दे ही देते है, वह इसकी ओर भी आकर्षित होने लगती है, दोनों परिणय की प्रतिज्ञा में आबद्ध होते है, तथा निश्चय करते हैं कि विवाह नही करेंगे, किन्तु साथ ही रहेगे। जैनेन्द्र का यह वाक्य 'हम एक होगे दो प्राण, एक तन, कोई हमें जुदा नही कर सकेगा।' दोनो के निश्चय की ओर सकेत करता है।

गरिमा और सत्यधन का विवाह सम्पन्न हो जाता है। गरिमा गाँव भी आ जाती है, परन्तु गरिमा अपने व्यक्तित्व को प्रसार नही दे पाती, गाँव के अपरिवर्तनशील और नीरस वातावरण से ऊब कर वह सत्यधन के साथ शहर लौट जाती हैं। सत्यधन गरिमा के पिता का व्यवसाय सम्हालने लगता है। परन्तु गरिमा के पिता जी सत्यधन के व्योहार से शान्त नहीं प्रतीत होते अतएव अपनी सम्पत्ति का अधिकार वह बिहारी को दे जाते है। सत्यधन के जीवन मे एक मोड़ इस समय भी आई है, और उसका व्यक्तित्व धन के आकर्षण से आक्रान्त मालूम होता है, वह धनाभाव के कारण फिर कट्टो एवम् बिहारी से धन सम्बन्धी सहायता को स्वीकार कर लेता है। बिहारी धन की चिन्ता नही करता वह आदर्श का पालन उतना ही करता है, उसे उतना ही प्रैक्टिल रूप देता है जितना कि सत्यधन आदर्शों की रूपरेखा खीच कर संतोष करता है। वह सब कुछ छोड़ गाँव में हल जोतने की इच्छा से चला जाता है और कट्टो बच्चों को पढ़ाती रहती है। एक ओर तो त्याग और आदर्श की कल्पना है, कट्टो का स्वाभाविक त्याग है, एक सुनिश्चित एवम् सुनियमित जीवन को व्यतीत करने की इच्छा है, और दूसरी ओर सत्यधन के बाहरी आदर्शो की बातें, और खोखला व्यक्तित्व जो कि केवल थोथले आदर्श की ओर ही भाग रहा है, जहाँ कही आदर्श को कार्यान्वित करने की बात आई है, वही पर सत्यधन व्यक्तिगत हित को ही अपना सर्वस्व समझ उसे खो अपना बैठा है। कट्टो आदर्श जगत की अलौकिक सृष्टि है जिसे धन

की कोई लालसा नही, कोई विशेष इच्छा नही, और दूसरी ओर सत्यधन अपने चरित्र के उठान का अन्त तक सम्हाल न पा करके गिराता ही गया है।

'परख' जैनेन्द्र के उपन्यासो मे एक विशेष स्थान रखता है। छायावादी युग की सीमा की प्रगति के कलेवर को वह छोड़कर एक कदम बाहर आया अवश्य है। अतएव इस उपन्यास मे जैनेन्द्र की भावुकता अपना केचुल छोड कर बौद्धिकता की ओर अग्रसित होने लगी है। लेखक ने इस वृत्ति के सम्बन्ध में स्वीकार किया है कि घटना के बोझ से लदे रहने के कारण और उस बोझ को उतार फेंकने के लिए ही 'परख' की रचना हुई है। घटना और कल्पना इन दोनो तत्वों ने मिलकर ही इसकी सृष्टि की है। भावुकता को छोड करके बौद्धिकता और उस के फलस्वरूप समाजिकता को लेकर इसकी रचना हुई है।[१]

इन्हीं परिस्थितियों मे और इन्ही मान्यताओ की आत्मस्वीकृति ले करके 'परख' की रचना हुई है। लेखक अपने प्रारम्भिक अनुभवो को व्यक्त करता है और प्रेम तथा परिणाम की सदा से चली आती हुई सबल भावना के प्रति वह अपना निजी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, एक ओर तो परख' में आदर्श है, कट्टो जिसे लेखक ने अपनी 'समस्त भावनाओं का वरदान माना है। जिसेकि वह प्राणप्रण से पूज पाया है, परन्तु यह उपन्यास जैनेन्द्र माहित्य में बढा हुआ हो न हो, प्रगतिवादी उपन्यासों की शुरुआत इसी से लगती है, समाज के प्रगति अपना निजी दृष्टिकोण, नारी की ओर 'प्रसाद' का सा त्याग और श्रद्धा का दृष्टिकोण जैनेन्द्र ने पाया है, उसी के फलस्वरूप उनकी भावनाओ ने, (बुद्धि तथा सामाजिक वास्तविकता ने नहीं,) कट्टो को वरदान के रूप में मान लिया है। अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण इसमे मिलता अवश्य है, परन्तु उस विश्लेषण मे, वह मार्मिकता और गहराई नहीं है जो आगे के उपन्यासों मे है फिर भी यह एक ट्रायल है, जिस पर औपन्यासिक कला निखरती गई है। अतएव प्रसाद साहित्य ने हिन्दी जगत को एक अन्तर्द्वन्द्व प्रदान किया, मानसिक संघर्ष की स्थापना की, यद्यपि उस अन्तर्द्वन्द्व मे मानसिक विश्लेषण और वर्तमान उपन्यासकारो की सी मानसिक विवेचन का रूप तोड़-फोड नहीं था, आज का उपन्यासकार मानसिक अन्तर्द्वन्द नही उठाता वह तो मन का, प्रवृत्ति का एक-एक भाग सामाजिक चेतना और आघात प्रतिघात में जुडा मानता है, और नायक अपनी आन्दोलित मनःशक्ति में ही एक संकल्प कर बैठता है, और वह उसके दृढ़ निश्चय का ही परिणाम होता है। जैनेन्द्र साहित्य इस मन.शक्ति के निश्चय करने की प्रवृत्ति में एक कदम आगे बढ़ा हुआ है। अन्य उल्लेखनीय उपन्यास है 'सुनीता' इस उपन्यासके आरम्भ मे ही लेखक यह मानता है कि कहानी सुनाना उसका' उद्देश्य नहीं है,' वास्तविकता भी यही है कि सुनीता में कहानी नही सुनाई गई है बल्कि

---

१. तैयारी नहीं थी, कुछ सीखा नहीं था. जाना नहीं था, ऐसी हालत मे सन १९२९ में परख' लिख गया। प्रश्न होगा किन प्रेरणाओं से वह पुस्तक लिखी?

कहानी के पीछे मानव में कुण्ठा का, नारी के विकृतियों का और कुछ अर्थों में उसकी शक्तियो का पूरा विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया गया है। एक भरा पूरा परिवार किस प्रकार से एक अन्य के सहयोग में आ करके मानसिक विकृतियो का शिकार बन जाता है, कहाँ-कहाँ मानव और मानवती के भाव टकराते है, पति और पत्नी के मध्य से उसके कैसे-कैसे जटिल प्रश्न के अतिरिक्त सामाजिक मर्यादाओ को अतिक्रमण करके व्यक्तिवादी कुण्ठाओ का विकास हो जाता है, यही लेखक ने दिखलाने की चेष्टा की है।

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि सुनीता मे कहानी कुछ भी नही है, चरित्रो के मनोवैज्ञानिक गुत्थियो को अवश्य सुलझाने की चेष्टा की गई है। सुनीता की कथा, एक पारिवारिक विवाहित नारी के पति प्रेम और उसके अन्य प्रेमी, इनके दुहरे व्यक्तित्वो मे कसे हुए नारी की कहानी है। हरि प्रसन्न सुनीता के पति श्रीकान्त का कालेज मित्र रहा है, श्रीकान्त ने वकालत करना प्रारम्भ कर दिया है और हरि प्रसन्न राजनीतिक पार्टियों के जाल में फँसकर क्रान्तिकारी हो गया है। वह अपनी पार्टी के कार्य के लिए श्रीकान्त के घर पर आकर रुकता है, वही उसका परिचय सुनीता से होता है, और उसकी ओर आकर्षण भी। सुनीता को वह साधारण आदतों का पुरुष नही ज्ञात होता, साधारण के स्तर से ऊपर उठा हुआ। थोड़ा असाधारण वृत्तियों वाला पुरुष वह सुनीता को लगता है। हरिप्रसन्न मे एक काम आसक्ति (Frustration) की भावना है, और उसी भावना ने उसे कर्कश तथा उदण्ड भी बना दिया है। ऐसा लगता है वह आसक्ति की उसके जीवन की एक ग्रन्थि बन गई है और इसी नेउसे काम, हिंसा और विध्वंस का मार्ग प्रस्तुत किया है। सुनीता किसी प्रकार से उसे असाधारण से साधारण बनाने की चेष्टा करती है। इसी चेष्टा में उसका व्यक्तित्व निखरा है, एक ओर अपने पति की ओर आस्था, विश्वास और संस्कारवश उसमें भक्ति की भी कमी नही होने पाती वह अपने प्रत्येक कार्यो का विश्लेषण करती है, आन्तरिक रूप से वह हरिप्रसन्न की ओर आकृष्ट है, श्री कान्त की अनुपस्थिति में जब सुनीता को हरिप्रसन्न अपने पार्टी के लोगो को मिलाने के लिए जंगल में ले

उत्तर में बाहरी परिस्थितियो की प्रेरणा को यह कहिए कि मैं खाली था और नहीं जानता था कि अपना और अपने मध्य का क्या बनाऊं। दूसरी जिसे भीतरी कहनी चाहिए, यह कि एक घटना का बोध मन पर था। जिससे दबा न रहूँ तो मुझे हल्का ही रखना लाजिमी था। कह नहीं सकता कि पुस्तक में घटित घटना और अपने मन का ताना बाना किस प्रकार बैठा। पुस्तक घटना और कल्पना का रासायनिक मिश्रण है कि उन दोनो के किसी अणु को भी एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

साहित्य का श्रेय और प्रेय—जैनेन्द्र पृष्ठ ४३१

जाता है और वहाँ किसी को न पाकर उसकी दमित इच्छाएँ निखर उठती हैं और वह सुनीता को नग्न रूप मे देखना चाहता है । सुनीता भी इस व्यक्ति के समक्ष जो कि अपनी काम आयुक्ति के कारण इतना दुर्घर्ष और नीरस हो गया है कि पीडा का अनुभव करती है, वह अपने को निरावस्त्र प्रस्तुत करने मे कोई सकोच का अनुभव नही करती, इतना होने पर भी उसके चरित्र की ऊँचाई को लेखक ने कहीं गिरने नही दिया है । सुनीता अपने मनोत्तापके कारण, अपने को शान्ति देने के लिए, हरिप्रसन्न जो भी चाहता है उसके समक्ष अपने को अर्पण कर देती है लेकिन इसके पीछे भी फ्रायड के सिद्धान्त का सत्य है । आखिर वह क्यों उसे अप्रसन्न करने मे अशान्त है, सुनीता की अशान्ति उसके अचेतन पक्ष का हरिप्रसन्न की ओर उन्मुख होना क्या नहीं सिद्ध करता । वह उसे एक साधारण व्यक्ति बनाना ही क्यों चाहती है, शायद उसका खिचाव और आकर्षण उसे विवश करता है । यह तो सुनीता का अपने प्रेमी की ओर झुका हुआ का व्यक्तित्व हुआ, दूसरा महत्वपूर्ण विश्लेषण जैनेन्द्र ने संस्कारो का और उनके प्रभाव का किया है सुनीता अपने सस्कारो से विवश है । पति की ओर से आन्तरिक रूप से विमुख होने के पश्चात् भी वाह्य रूप से वह पति के प्रति आस्था प्रकट करती है । वह अपने पति को जगल मे निरावस्त्र होने की बात भी ज्यो की त्यो बता देती है और अपने पति से दूर रहने पर भी अपने पति की ओर है । अपनी संस्करगत भक्ति को भूल नहीं पाती ।[1]

यद्यपि वही कुछ मैला मैला सा उसको अपने चरित्र में लगता है, परन्तु जैनेन्द्र ने उसके संस्कार की भावनाओं का परम्परित प्रभाव कह कर टाल दिया है । मनोवैज्ञानिको ने अचेतन मन का भी स्थान माना है, चेतन मन अपने को मुक्त पाता है, उसे आभास होता है कि वह ठीक ही कर रही है, अपने आचरण को वह कारण

---

१. आज दिन फूटने से भी पहिले सब बिसार उसने यही काम किया, श्रीकांत के चित्र के समक्ष होकर उसने अपने आत्मसमर्पण का स्मरण किया । समग्र रूप से किसके चरण में वह अपने को चढ़ा चुकी है वह यहाँ नहीं भी है तो क्या ? उसके लिए तो वही है, वही है, उसके लिए कहाँ वह नहीं है । वह तो अत्यन्त अभ्यन्तर में सदा ही प्राप्त है ।

'उसका अंग पुलक से भर गया । उसका सब संकोच सब संशय भाग गया । श्रीकान्त के सम्मुख बैठे बैठे जब उसकी मुँदी आँखें खुली तब मानो सामने चहुँ ओर उसे प्रीति ही प्रीति दिखी । सब प्रभुमय लगा ।'

'अपने चित्त में सम्पूर्ण रूप से धारण करके सुनीता ने मानो अपने अणु अणु में सुचिता भर ली है । मानो अपने को वे ढाल कर वह पूर्ण

दे करके सिद्ध करता है कि वह उचित ही है, परन्तु अचेतन मन ही सुनीता को पति के प्रति ईमानदार बनाने के लिए पति की स्मृति धारण कराता है और उसे ऐसा लगने लगता है कि वह पति की स्मृति को धारण करके सुचिता को धारण कर रही है। यह मनोस्थिति जैनेन्द्र ने परम स्थिति माना है इसमें किसी के अन्य के प्रति विद्वेष और विरोध नही रहता, अन्य अन्य नही रहता क्योंकि सब प्रेममय हो जाता है। इसी चरित्र की गहराई को प्राप्त करके सुनीता अपने को साधारण से ऊपर उठा लेती है और अपने आचरण को साधारण स्थूल दृष्टि से रोकने का साहस ही नही होता वह टेकनिक का विकास है जो 'अज्ञेय' तक आते आते अपनी सीमा पर पहुँची प्रतीत होती है। इस प्रकार से परिस्थिति का निर्माण करके प्रेम और वासना का संघर्ष दिखा कर जैनेन्द्र ने नारी मनोविश्लेषण सफलता पूर्वक किया है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि वर्तमान कथा साहित्य में मानव के अन्तर्प्रदेश की व्याख्या हमें मिलती है। फ्रायड, एडलर, जुङ्ग, वर्गसाँ, आइन्सटाइन आदि मनोवैज्ञानिको ने मानव-मन के अन्तः प्रदेश मे भी न जाने कितने स्तरों को ढूँढा है। इन्ही स्तरों का विश्लेषण करते हुए आज का कथा साहित्य अग्रसित हुआ है। इस जगत में नए-नए प्रयोग, नई टेकनिक को प्रचलित किया जा रहा है। वर्गसाँ ने अपने सिन्द्धातो को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सत्ता निरन्तर परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशीलता के पीछे सृजन की भावनाएँ छिपी हैं। सहजानुभूति के द्वारा कथाकार जिन सामाजिक तथ्यो का अनुभव करता है, उसे सोचता है अथवा उसके अन्तस्तल में यदि कही कोई गाँठ छिपी रहती है वह उसे ही आधार मानकर अपने कथा जगत के नायक का निर्माण कर देता है। आज के उपन्यासकार जीवन को व्यवस्थित रूप में सजाई गई दीपमालिका के रूप मे नही मानते।[1] वह तो एक ज्योति मण्डल की भाँति है जो अपने प्रकाश से, चेतना से हमे आच्छादित रखता है मनोवैज्ञानिक उपन्यासों मे जटिल से जटिल मानव-मन का चित्रण हमें मिलता है। मानव जगत आज जटिल होता जा रहा है, इसीलिए उनके अन्तर्मन का विश्लेषण भी जटिल से जटिलतर हो गया है। इस विश्लेषण पर आने के लिए मानव-उपन्यासकार ने तीन टेकनीक अपना लिया है। पूर्वदीप्ति (Flash back) चेतना प्रवाह (Stream of conciousness) और काल-क्रम की उलट-पुलट (Time changes)।

पूर्व दीप्ति से तात्पर्य है कि घटनाओं के अतीत के क्रमिक वर्णन का न होना—केवल पात्रों की स्मृति से अतीत को वे दीप्ति करती चलती है।

चेतना प्रवाह शब्द का प्रयोग विलियम जेम्स के द्वारा हुआ हमे मिलता है।

---

1 Life is not a series of gig lamps symmetrically ged

life is a us halo, a semitian spaent envelope und

उन्होने यह सकेत किया है कि मानव मस्तिष्क की प्रत्येक निश्चित मूर्ति उसमे स्वछन्दता पूर्वक प्रवाहित होने वाले जल प्रवाह के रंग में डूबी रहती है।[1] इस प्रकार से इन सभी का प्रभाव आज कथाकार पर हमें प्रत्यक्ष रूप से देखने को मिलता है।

जैनेन्द्र के पश्चात और भी ऐसे कथाकार हैं जो फ्रायड तथा उनके अनुयायियों से प्रभावित हैं और उन्ही के सिद्धान्तो को अपने कथा में स्थान दिया है। अज्ञेयकृत शेखर एक जीवनी भी बाल मनोविज्ञान और चित्त विश्लेषणवादी बाल मनोविज्ञाम को सृजनात्मक रूप देने का प्रयत्न ही शेखर का निर्माण कर दिया।

दमन के द्वारा हमारी स्वाभाविक चित्तवृत्ति पर अनन्त प्रभाव पड़ता है। मानसिक क्रिया का विश्लेषण और विक्षोभ का उत्पन्न हो जाना—ये ऐसे तत्व हैं जिनका बाल मनोविज्ञान से सम्बन्ध रहा है। चित्त का विश्लेषण हमें अज्ञेय की कृतियों में विशेषकर शेखर एक जीवनी में कदम-कदम पर मिलता है। शेखर के बहिन सरस्वती की शादी के अवसर पर शेखर के आन्तरिक मन में एक उथल-पुथल देखने को मिलती है। शेखर को १०३ डिग्री का बुखार हो आता है। अपने बहिन पर वह अपना अधिकार समझता था उसके अधिकार को छीना जाना, उसे असह्य हो रहा था। दूसरी बात मानव, विशेषकर बालक लोगों की सहानुभूति भी तो अपनी ओर खींचना चाहता है—बीमार होकर ही सहानुभूति पाना शेखर के अचेतन मन का इष्ट रहा है।

अज्ञात रूप में शेखर का अपनी मौसेरी बहिन सरस्वती को 'सरस' बोध करना शारदा और शीला का अधिक निकट हो जाना भी मनोवैज्ञानिक तथ्यो से भरा पड़ा है। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक नियतिवाद (Psychic Determinism) भी हमे इनके कथा साहित्य में भी मिलता है। कोठरी की बात लेखक की कहानियों का संग्रह है। इस कहानी में जेल की कोठरी ने स्वयं अपने मुह में से तीन नवयुवकों के विषय में अपने अनुभवों का वर्णन किया है। सुशील नामक एक विद्रोही भी इस कहानी संग्रह से सम्बन्धित है। वह विद्रोही है तो इसीलिए कि इसके सिवाय उसके लिए और कोई दूसरा चारा भी नहीं था। वह क्रान्तिकारी इसलिए हुआ कि उसकी प्रवृत्ति इससे शान्त होती है—उसे अपनी प्रवृत्तियो में जीवन की चेतना तथ प्राणदायिनी शक्ति मिलती है। यदि कहा जाय कि सुशील शेखर का ही छोटा सा

1. Every Definite image in the mind is steeped and dyed in the force water that flows round it. The significance, the value of the image is all in this halo or penumbra that surround and [illegible] it. [illegible]ess does not appear to itse chopped up in bits. It is nothing jointed. Let us call us the

है तो अतिश्योक्ति न होगी। इसी बीज ने वृक्ष शेखर का रूप धारण कर लिया है। सुशील के विद्रोह की प्रेरणा घरों मे, माता-पिता से और उसकी परिस्थिति से ही उसे मिलती है।

इस प्रकार से हम इसी निष्कर्ष पर आते है कि अज्ञेय की कथाओं ने एक नया मोड़ दिया है। गहमरी, प्रेमचन्द, प्रसाद तथा निराला ने एक निश्चित कदम उठाकर कथा-साहित्य को प्रगति दिया परन्तु अज्ञेय ने मनोविश्लेषको के निश्चित सिद्धान्तों को आधार बनाकर अपने पात्रों मे उन्ही सिद्धान्तों तथा प्रवृत्तियों को साकार कर दिया है।

सांस्कृतिक विकास

सांस्कृतिक प्रगति पर आने से पूर्व हमे यह जान लेना है कि संस्कृति से हमारा तात्पर्य क्या है। समाज में रहते हुए प्रत्येक मानव को समाज के नियमों से अवगत होना ही पड़ता है। उन्ही नियमों के अनुकूल ही उसके कार्य भी होने लगते हैं, यदि यह कहा जाय कि उसका आचरण भी अथवा व्यवहार भी उसी प्रकार होने लगता है तो अनुपयुक्त न होगा। इसलिए संस्कृति के अन्दर मानव के परम्परित व्योहार (Patterned behaviour) ही आ सकने हैं। परम्परित व्यवहार के अतिरिक्त और बहुत से व्यवहार हैं जिसे मानव परम्परा से आये हुए ही बातो से नही सीखता परन्तु आवश्यकतावश जिसे अपना लेता है। ऐसे व्यवहार भी सांस्कृतिक क्षेत्र के अन्तर्गत आ सकते हैं। अतएव संस्कृति मानव के परिमार्जितज्ञान, व्यव हार और आवश्यकताओ की वह प्रवृत्ति है, जिसे प्रत्येक मानव ने अपने समाज से सीखा है। इतने अनुभव के पश्चात जो उस समाज का मानसिक विकास हुआ संस्कृति उसी का आधार है। अतएव संस्कृति समाज का मानव पर एक संस्कार है।

संस्कृति के अन्तर्गत एक सबसे बड़ा तथ्य है जो आदमी को जानवरों से भिन्न रखता है वह तथ्य है भाषा का। ज्ञान की वृद्धि में भाषा भी पूर्ण रूप से सहायक हुई है। सम्भवत. यदि भाषा न होती हो तो विचार और अनुभूतियों का स्पष्टीकरण ही न हो पाता। जानवरो के पास भी एक प्रकार की बोली है, परन्तु यह बहम कि वे उस बोली के द्वारा अपने विचारो का स्पष्टीकरण कर सकते हैं, कुछ सीमा तक भ्रामक है। भाषा के द्वारा प्रत्येक मनुष्य वही नपा तुला अर्थ समझता है जो एक मनुष्य दूसरे से कहना चाहता है। अतएव, सम्पूर्ण समूह का भाषा के द्वारा समाजीकरण होता है परन्तु जानवरो की बोलियो मे यह बात नहीं आती, उनके अन्दर भी एक विचार को उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति है और उन विचारों के स्पष्टीकरण के लिए एक उफान जब उठता है तभी स्वभावत. एक प्रकार की आवाज उत्पन्न होती है, परन्तु प्रत्येक स्थानों पर और सभी समयों में वह बोली एक प्रकार की ही हो, यह नहीं देखा जाता। यदि यही तथ्य उस प्रवृत्ति मे भी होता तो भाषा का एक दूसरा स्वरूप उन्हे भी दिया जा सकता था। जहाँ तक ध्वनि का सम्बन्ध है यह स्पष्ट है कि विभिन्न क्रियाओ के द्वारा जानवरों पर जो एक प्रभाव पड़ता है उसी के एक ध्वनि पदा होती है परन्तु उस ध्वनि का फर्क

ही चिल्लाता है। इस पों-पों की ध्वनि को बाह्य रूप से देखने पर तो वह एक सी प्रतीत होती है परन्तु यह आवश्यक नही कि प्रत्येक दिन मारे जाने पर कुत्ता उतनी ही देर तक और उतने ही चढ़ाव उतार के साथ चिल्लाता रहे जितना कि पिछली बार मारने पर चिल्लाया था। कहने का तात्पर्य यही कि भाषा में तो निश्चित नियम हैं, उसके चुने हुए शब्द हैं और उन शब्दो के निश्चित अर्थ भी हैं इसलिए भाषा एक दूसरे के भावों और विचारों के आदान प्रदान मे सहायक होती हैं, परन्तु जानवरो की बोलियाँ (जिसका कि उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है) बिल्कुल भिन्न हैं, उनसे विचारों का आदान प्रदान नहीं हो पाता। इसलिए संस्कृति के विकास में भाषा का एक महत्वपूर्ण स्थान है, और यही (भाषा ही) मनुष्य को जानवरों से भिन्न रखती है। यद्यपि अपनी कुछ प्रवृत्तियो मे वह जानवरों से अधिक निकट है। यदि साँस्कृतिक प्रगति में हम भाषा का स्थान देखें तो स्पष्ट होगा कि किसी भी संस्कृति में उस स्थान की भाषा से गहरा सम्बन्ध होगा और उस स्थान की भाषा भी यह स्पष्ट कर देगी कि मानव की भाषा तथा संस्कृति मे (१) प्राकृतिक तथ्यों से कितना सम्बन्ध है (२) और भाषा ने सांस्कृतिक विकास में कितना अधिक सहयोग दिया है। संस्कृति के परिवर्तन होने पर कुछ नये-नये शब्द प्रयुक्त होते है। एस्किमों का उदाहरण लें, वे कितने ही शब्दो का प्रयोग वर्फ के लिए करते हैं, और उससे विभिन्न वर्फ के गिरने का, बर्फ पर फिसलने का आदि आधुनिक भारतीय समाज में एक थोड़ा सा परिवर्तन हुआ, यहाँ की सस्कृति पर वाह्य प्रभाव पड़ा और उस वाह्य संस्कृति ने कितने नये शब्द भारत को दे दिये। नये आविष्कारों के द्वारा बिजली, टेलीफोन, और रेडियो के तकनीकी शब्द प्राप्त हुए, शायद इन आविष्कारों के पूर्व इन शब्दों की पृथक सत्ता ही नही रही होगी। बिजली से तात्पर्य केवल आकाश में चमकने वाली बिजली से ही रहा होगा। सस्कृति के विकास के साथ ही साथ शब्दों में भी बहुत गति आई और वे अपना यथास्थान अर्थ लेकर स्पष्ट प्रकट होने लगे। कुछ शब्दों की जिनका प्रयोग साधारण जनता में हो जाता है उनकी एक निश्चित पृष्ठभूमि रहती है और उस पृष्ठभूमि का उस स्थान विशेष की संस्कृति से सम्बन्ध रहता है। वातावरण, अनुभव के आधार पर भाषा में वृद्धि होती आई है। शायद यदि भाषा का यह स्वरूप न होता तो समाज का प्रत्येक मानव दूसरे मानव से इतना हिल - मिल न पाता, क्योंकि उसे अपने शब्दों के प्रदर्शन करने के लिए कोई निश्चित भाषा ही न रहती।[1]

1. A person's membership in a speech community is not merely something supperadded to his existence as a biological unit. Human behaviour is entirely permeated by social factors. With the possible exception of some physiological processes the activities of a human individual cannot be classified or predic-

भाषा का स्वरूप – प्रयोग आदि बातें समाज की 'सांस्कृतिक' दशा पर भी निर्भर रहती हैं। समाज कुछ शब्द लेकर अपनी अनुभूति के द्वारा ही अर्थ-बोध कराने लगता है। उदाहरण के लिए 'पन्त' के साहित्य मे प्रभात, बूँद आदि शब्दो का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग मे होता है। 'पन्त' के पहले के सभी साहित्यिक प्रभात को पुलिंग के रूप मे प्रयोग करते थे। परन्तु अनुभूति की तीव्रता के कारण पन्त ने (अनुभूति की तीव्रता भी संस्कार के द्वारा होती है।) प्रभात में एक झीनी झीनी आकर्षक आभा देखी और उन्होंने उसे अधिक मधुर बनाने के लिए स्त्रीलिंग मे उस शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ किया।

संस्कृति की परिभाषा करते समय यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि संस्कृति, जन्म जात नही उसे मानव ने समाज से सीखा है। समाज में प्रचलित कार्यों को वह देखता है, उसे धीरे-धीरे वह स्वयं ग्रहण कर लेता है। इस परम्परित व्यवहार (Patterned behaviour) के द्वारा मानव जिन प्रवृत्तियो को अपने अन्दर आत्मसात कर लेता है वही उस समाज की संस्कृति है। व्यवहार की कुशलता ही समाज में सब कुछ है।

संस्कृति तथा सभ्यता

हिन्दी में संस्कृत शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के कल्चर के स्थान पर होता है; समाज अपनी तमाम विकृतियो के अतिरिक्त भी पूर्ण है, पूर्ण इस रूप मे कि सामाजिक परम्परित नियमो का पालन करते आ रहे हैं, और इस प्रकार से परम्परितनियमों के द्वारा उन्हें अतीत अनुभव का एक इतिहास प्राप्त होता जा रहा है। वह इतिहास उनके लिए लाभदायक सिद्ध हो रहा है—अतीत की उन बोलती रेखाओ के रूप में, स्मृतियों के रूप में जिनमे उनके विजय और पराजय दोनो के कारण सञ्चित हैं। मानव अपने अतीत में पराजित होने के कारण को जान कर आगामी जीवन में सतर्क होता जा रहा है। इतिहास-परम्परित व्यवहारो को मानने से उसे एक यही लाभ हो रहा है—और इन्ही परम्परित व्योहारो को पालन करना ही सस्कृति का द्योतक है। संस्कृति मानव के (अन्य मानव के प्रति) व्यवहारों तक ही सीमित है, परन्तु सभ्यता उससे आगे की वस्तु है, वह बतलाती चलती है कि हमारे पास है क्या ? एक समाज सभ्य तभी कहा जा सकता है जब उसके अन्दर साहि-

ted on the sole basis of biological equipment, but depends very largely upon the society he lives and upon his place in this society.

— Aspects of pp. 175

त्यिक सांस्कृति राजनीतिक और कलात्मक अभ्युदय अथवा जागरण हुए हों।[1] मानव के इतिहास में सम्भवतः ऐसा युग जिसमें हिन्दू संस्कृति अपनी पराकाष्ठा पर थी। वह युग ३०० और ५०० ईस्वी सन् के मध्य का रहा है। वह ऐसा युग है जब संस्कृत साहित्य की अपनी एक विशिष्ट सत्ता थी। संस्कृति, किसी एक विशिष्ट युग के पश्चात् आगामी युग तक प्रगति करती ही जाय, यह निराधार प्रतीत होता है। सांस्कृतिक प्रगति से तात्पर्य यह कदापि नहीं कि पिछले युग में संस्कृत के स्वरूप से अधिक विस्तृत और अधिक गौरवपूर्ण ही आगामी युग में संस्कृति का स्वरूप हो। इसका कारण है, एक युग की संस्कृति दूसरे युग की संस्कृति से कितने आगे है—यह कहा ही नही जा सकता। परिस्थितियाँ और अनुभव ही सदा से संस्कृति और सामाजिक प्रगति में गतिशील रहे हैं, और ये दोनों तथ्य अनुभव और परित युग और समय के बन्धन में बाँधे नही जा सकते। प्रत्येक परिस्थितियाँ अपनी एक नई समस्या उत्पन्न करती है, और प्रत्येक अनुभव एक नवीन मार्ग ढूँढ़ लाता है, इस नवीनता मे परम्परा की पुरानापन तो रह ही नहीं पाता। इतना अवश्य होता है (जैसा कि कह चुका हूँ) कि इस अनुभव का आधार हमारा पिछला अनुभव कई अंश तक (जहाँ तक कि प्रस्तुत परिस्थितियाँ) एक सा हो जाता है, उसी स्थल पर मनुष्य अपने पिछले अनुभवों से लाभ उठा लेता है। उसे ज्ञात हो जाता है कि ऐसी परिस्थिति होने पर ऐसा कार्य हुआ था, और उस कार्य का फल उसे वही सतर्क करा देता है।

एक संस्कृति दूसरी संस्कृति से भिन्नता रख रखती है। उसके स्वरूप और स्तर में कुछ अन्तर पड़ सकता है चाहे वह अन्तर नैतिक स्तरों पर आधारित हो

---

1. Civilization of a Society however created—whether by elite of that society through their own effort a through borrowing from some other society—becomes effective only through the lives of individuals. Civilization to be effective must therefore be appreciated, absorbed and acted upon by the individuals and groups composing the society. This individual aspect as opposed to the group–aspect, in other words the realistic and operative aspect illustrated in the lives of individuals composing the society may be properly termed culture Civilization is the sum-total of social heritage projected on the social plane while culture is the same heritage focused on the individual plane. "Civilization is what we have and culture is what we are."

—Culture and Civilization by G. S. Gharve

Culture and Society pp. 3

अथवा बौद्धिक स्तर पर इसका कारण केवल अनुभव और परिस्थितियाँ ही हैं। अतएव इसी आधार पर संस्कृति को हम चार भागों में विभक्त कर सकते है। (१) संस्कृति, (२) उच्च सभ्यता, (३) बहुत उच्च सभ्यता, और (४) पूर्ण सभ्यता। संस्कृति की इन सीमाओं से तात्पर्य कुछ विशेष है। इन सीमाओं के पीछे तो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति छिपी है, वह प्रवृत्ति है प्रगति की। संस्कृति और उच्च संस्कृति के बीच की दूरी मनुष्य की आवश्यकताओं से ही उत्पन्न है—उसने तभी पहला वर्ग (संस्कृति) को छोड़कर उच्च संस्कृति में प्रवेश किया होगा जब उसने कुछ अन्वेषण (Adventure) और अनुभव किए होंगे। यही अन्वेषण और अनुभव उस प्रगति की ओर ले जा रहे हैं। यद्यपि कुछ विद्वान संस्कृति और सभ्यता को प्रगति इस रूप में (as a value) नहीं मानते।[1] परन्तु उनके देखने का यह दृष्टिकोण भी नहीं है। उनके विचार में संस्कृति प्रगति के साथ ही साथ, सभ्यता की प्रगति के साथ ही साथ जीवन मे आर्थिक विषमताएँ पैदा होती जा रही हैं, जीवन अधिक जटिल होता जा रहा है। अतएव वे अपने विचार से यह उचित नहीं समझते कि यह विकसित प्रगति की सीमा में आ सकता है।

अन्त में सांस्कृतिक विकास का स्वरूप निर्धारित करते समय हम यही कह सकते हैं कि एक स्थान की संस्कृति से दूसरे स्थान की संस्कृति से भिन्नता रखती है, एक जाति की संस्कृति दूसरी जाति की संस्कृति से कुछ अपनी कुछ अलग सत्ता रखे हुए दिखलाई पड़ती है। इसका कारण जो भी हो चाहे व्यवहारिक जीवन मे अन्तर अथवा परम्पराओं की मान्यताओं में अन्तर हो परन्तु एक स्थान अथवा जाति की संस्कृति मे भिन्नता तो पाई ही जाती है। यदि इसी तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए भारत को देखें तो यह बात अधिक स्पष्ट प्रतीत होगी। मुसलमानो और अंग्रेजों की पराधीनता में रहने पर भी भारत की संस्कृतिक के मूल में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ। यद्यपि वाह्य-आचरणो में एक विशाल परिवर्तन है और वह परिवर्तन वाह्य-संस्कृतियों के ही आधार पर है परन्तु मूलाधार में परिवर्तन नहीं हो सका। संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान विल्सन डी० वेलिस के अनुसार—

"[2]संस्कृति (पूर्ण रूप से) एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं यात्रा किया करती।

---

1. Social development has been a gigantic mistake, that, the farther man has travelled from a simple state the more unhappy has his lot become, that civilization is radically vicious."

—J. B. Bury

2. A culture does'nt travel in toto into other culture areas though the peoples who carry if may extend their and so enlarge the and geographical boundries and their culture. Morever when people travel to new territory usually that culture is modified, it does't remain identical with its old self though of course it may *preserve* many old traits Thus the culture of the old

अधिकांश रूप में यह देखा गया है कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपनी संस्कृति के प्रचार करने वाले लोगों में उस स्थान की संस्कृति के अनुसार ही कुछ परिवर्तन हो गए हैं। इस प्रकार से पुरानी दुनिया की संस्कृति पूर्ण रूप से नई दुनिया में नहीं पनपी।" यद्यपि मूलाधार में परिवर्तन से नहीं मानते, परन्तु फिर भी एक स्थान की संस्कृति दूसरे स्थान की संस्कृति में पूर्ण रूप से बिठाई नहीं जा सकती। इसका कारण है, प्रत्येक स्थान की अपनी आवश्यकता से और अपने ही उत्तर है। यह अवश्य है कि एक संस्कृति का दूसरे संस्कृति पर अन्तरावलम्बन अवश्य है। इसका कारण है, भारत पर होने वाले आक्रमण और विभिन्न जातियों का एवं दूसरे से मेला यदि संस्कृति मानसिक विकास की एक सीढ़ी न होती तो शायद ऐसा न हो पाता। अन्य जातियों के सहयोग से या आक्रमणकारी के अधिक निकट आने से ही साँस्कृतिक परिवर्तन होते आए है। पहले तो एक जाति दूसरी जाति की मान्यताओं को घृणा की दृष्टि से देखेंगी, उसे अपनाने में हिचकेगी परन्तु वही मान्यताएँ घृणा करने वाली जाति के निकट दिखलाई पड़ने लगेंगी—क्यों, इसका कारण मानसिक संघर्ष का वह धरातल है जहाँ संस्कृतियों के प्रति घृणा संचित नहीं थी परन्तु व्यक्ति विशेष अथवा जाति विशेष के प्रति घृणा और द्वेष संचित था—व्यक्ति विशेष या जाति विशेष के प्रति घृणा ज्यों ही दूर हुई त्यों ही उनकी संस्कृति पहली संस्कृति पर अधिकार जमा बैठी। घृणा के फलस्वरूप ही युद्ध था, युद्ध के फलस्वरूप ही मान्यताओं में अन्तर था परन्तु संघर्ष के समाप्त होने पर जब एक जाति दूसरी जाति के निकट आई तो स्वभावतः बिना जाने हुए दोनों संस्कृतियों में कुछ आदान-प्रदान होने लगा। एक दूसरे की वेष-भूषा, कला और चिन्तन धाराओं में कुछ एक से (common) तथ्य मिलने लगे। यदि वेश-भूषा को लेकर चलें तो भारत ने बहुत सी चीजें आक्रमण से अपनाई है। प्राचीन भारत में उत्तरीय और अधोवस्त्र का प्रयोग होता है। आर्यों के आक्रमण ने 'उष्णीष' (पगड़ी) और द्रापी (एक प्रकार की बण्डी) का प्रचलन हुआ। अचकन कुशान-नरेशों की देन है।[१] यह अपने विविध रूपों में होता हुआ मुगल काल तक आया, इससे कुछ ही भिन्नता लिए हुए काश्मीरी कोट है। पगड़ी का प्रचलन भी आर्यों के साथ भारत में आया पहले यहाँ पगड़ी का प्रयोग नहीं मिलता था पहनावे के अतिरिक्त रूढ़ियों और रीति-रिवाजों पर अन्य देशों का भी काफी प्रभाव पड़ा है। महाभारत काल तथा रामायण काल में गन्धर्व और स्वयंवर द्वारा ही विवाह प्रचलित था। अपने भुज बल से—उसका स्वामी बन सकता था। यह भी आवश्यक नहीं था कि विवाह को किसी एक प्रथा को ही एक पुरुष जीवन भर अपनाएँ। यदि वह एक ही प्रथा अपनाता तो शायद आज की भाँति

world was not transplanted entire to the new, but only certain traits crossed the Atlantic.......

—Culture areas and culture traits
(Culture and progress) pp. 18
by Wilson D Wallis

उसका जीवन अधिक संयमित और नियमित रहता, परन्तु महाभारत काल के पात्रों में यह बात स्पष्ट पाई जाती है। अर्जुन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। वह एक बार—पहिली बार, द्रोपदी से विवाह सम्मिलित रूप में स्वयंवर से करते है दूसरी बार कृष्ण की बहिन को गन्धर्व-विवाह से वरण करते है, उलूपी (नाग-कन्या) का भी विवरण उसके जीवन मे एक विचित्र हल-चल और वैवाहिक प्रथाओं मे एक मोड़ उत्पन्न करता है। वह युग बाहुबल प्रधान युग था—वही मनुष्य सब कुछ कर सकता था जिसमें कुछ शारीरिक शक्ति हो, और इसी शारीरिक शक्ति पर ही उस समय की वैवाहिक पद्धति भी आधारित थी इसके अतिरिक्त स्वयंवर प्रथा मे स्त्रियो को अपने मनोनुकूल वर वरण करने की स्वतंत्रता अवश्य थी—परन्तु इस स्वतंत्रता का आधार भी स्वच्छन्द था। कोई भावुकता नही थी बल्कि इसके पीछे भी पुरुष की वीरता का प्रश्न रहता था—द्रौपदी और सीता का स्वयंवर दो विभिन्न युगों की एक सी प्रचलित रूढ़ियों का ही प्रमाण है। इन स्वयंवरों के पीछे भी एक परीक्षा—बल - वैभव दिखलाने की जो प्रवृत्ति छिपी रहती थी वह प्रशंसनीय है। इन स्वयंवरों में वही विजयी होता था जिसकी भुजाओं मे बल हो, जो अपने कार्यो से लोगों को चकाचौंध कर सके। द्रौपदी का स्वयंवर अर्जुन के बल - विक्रम की आज भी प्रशंसा कर रहा है। धीरे-धीरे भारत में विदेशी आक्रमण हुए युद्ध हुए—जिनमें जय अभारतीयों के हाथ और पराजय भारतीयों के हाथ लगी। जय, पराजय के पश्चात भी दो जातियाँ—अपनी विभिन्न सांस्कृतियो को लिए आगे आईं। मुगल शासको की विलासिता को हिन्दुओं ने भी अपनाना प्रारम्भ किया हिन्दू भी अधिक विलासी हुए। यद्यपि इसके भी पूर्व यदि हम आदिकाल तक जायें तो उसी दिन से हमें इतिहास में 'दासता' का विवरण मिलेगा जब मानव दल ने लहलहाती हुई पृथ्वी को देखा, स्वयं उग आती घास को देखा तभी खेती का विचार उदय हुआ और श्रम की तभी से नींव पड़ी। खेतों में उगी हुई फसल का प्रयोग करने के लिए, काटने - छाँटने के लिए मानव ने अन्य मानवों से भी कार्य लेना प्रारम्भ किया—इस प्रकार मे श्रम की वृद्धि, उत्पादन के साधन ने कुछ ऐसे व्यक्तियो को पैदा किया जो कार्य करके अपने स्वामियों से उसके लिए कुछ माँग लिया करते थे और तभी से इन श्रमिको का स्वामी सोचने लगा (अपने हित के लिए) कि इनसे कार्य अधिक से अधिक और उस कार्य के फल-स्वरूप जो भी धन अथवा धान्य दिया जाय वह कम से कम मात्रा में हों। संस्कृतियाँ अपना रूप बदलती गईं मानव ज्यो - ज्यों अपने को अधिक सभ्य कहने लगा त्यों-त्यों वह श्रमिकों को और दबाता गया। सभ्यता के विभिन्न रूपों के साथ दासता के रूप भी बदले हैं। प्रारम्भ काल मे ये खेतिहरो के सहायक रहे, सामन्त युग में ये सामन्तों के दास रहे और आधुनिक युग में भी श्रमिक शोषित है, मिल के मालिक आज भी इन्हीं के आधार पर बढ़ते जा रहे हैं, अधिक पूँजी का सञ्चय करते जा रहे हैं। प्राचीन काल में होने वाले युद्धों में जब भी दो राजाओं का आपस

संघर्ष चलता था अन्त में हारे हुए व्यक्ति विजयी को दास दासियाँ भी देता था। इन दासों पर राजा का पूर्ण अधिकार था, वे इनको बेच सकते थे, किसी वस्तु से बदल सकते थे अथवा इनका किसी प्रकार से शारीरिक प्रयोग कर सकते थे। महाभारत काल ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। युधिष्ठिर का द्रौपदी को जुआ पर लगा देना क्या यह पुरुष का पूर्ण रूप से नारी पर अधिकार नही सिद्ध करता ? उस समय की क्रीत दासियों से भी पुरुषों का सम्बन्ध होता था।

राजाओं अथवा शक्तिशाली व्यक्तियों ने अपनी दासियो के साथ भी भोग किया है, पाण्डवों की उत्पत्ति इसका प्रमाण है। यद्यपि दासियो को भोग करने का आदेश उन्हे शास्त्रों द्वारा नहीं मिला, दासियों से विवाह करने का भी आदेश शास्त्र नहीं देता फिर भी उनकी कामान्ध शक्ति ही ने उस समय ऐसे रिवाज को प्रचलित कर दिया था। मनु ने केवल आठ प्रकार के ही विवाहों का विवरण दिया है। उनके अनुसार ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ऐसे आठ प्रकार के विवाह हैं। इन आठो विवाहो की विधि और तुलनात्मक कोटियाँ भी उन्होने निश्चित की हैं। ब्राह्म विवाह में योग्य वर को सत्कार पूर्वक बुलाकर गहनों से युक्त कर कन्या का दान किया जाता है। दैव विवाह में यज्ञ आदि करके कन्या का दान वर को कर दिया जाता है। एक गौ और एक बैल अथवा दो गौ और दो बैल को लेकर वर को कन्या देना आर्ष विवाह है। बैल और गाय को देना उस समय की ओर सङ्केत कर रहा है जब मानव ने जानवरो को पालना प्रारम्भ कर दिया था, और खेती करना भी सीख लिया था। शायद आर्ष विवाह मे गौ और बैल का दान इसी खेती के आधार पर ही है। 'हे वर तू इसी कन्या के साथ गृहस्थ धर्म आचरण करना' यह कहकर के कन्या का दान करना प्राजापत्य विवाह है, इच्छानुसार धन देकर विवाह करना असुर विवाह है। वर और कन्या के तैयार हो जाने पर संयोग हो जाना गन्धर्व विवाह है। युद्ध या बल पूर्वक कन्या का हरण करना ही राक्षस विवाह है, चोरी से कन्या का हरण करना पैशाच विवाह है।[२]

---

१. दासता का इतिहास अत्यन्त लोमहर्षक है। चाहे उसका संगठन ऐशियाई-अफ्रीका में हुआ हो चाहे योरप-अमरीका में। दासता के इतिहास और उसके भारतीय रूप का अध्ययन बर्बर और सभ्य काल—दो स्पष्ट स्कन्धो में उपादेय होगा। दासता का उदय बर्बर काल में हुआ।

—दास प्रथा का विकास
डा० भगवतशरण उपाध्याय।

२. आठ प्रकार के विवाहों का श्रेणीगत विभाजन इस प्रकार से हुआ है।

ब्रह्मोदैव आर्षः प्राजापत्य आसुरोगांधर्वोराक्षसः पैशाचइत्यष्टौविवाहः। योग्य-वरमाहूयालं कृत्यकन्यादान विधिनातस्मैदानंब्रह्मो विवाहः यज्ञे ऋत्विक कर्मकुर्व-[illegible] [illegible] च दैवे[illegible]मिथुन द्वयामुहीत्वातस्मै कन्याप्रधमार्ष

महाभारत काल में राक्षस विवाह और पैशाच विवाह का का विवरण मिलता है। अर्जुन ने अनेक स्थानों पर—कही तो कन्या का हरण करके कहीं पर आपस में ही निश्चित करके ही विवाह किया है। ऐसे विवाह के लिए वे कहाँ तक अधिकारी थे, यह दूसरी बात होगी। हाँ स्त्रियो को दासी बना कर रखना या दासी रूप ले लेना यह कही भी धर्मशास्त्र में नही मिलता। समय - समय पर ही शक्तिशाली पुरुषों ने अपनी इच्छानुसार हो दास और दासियो के साथ अमानुषिक व्योहार किए हैं। अतएव दास प्रथा भारत की पुरानी प्रथा है, सांस्कृतिक विकास के साथ ही साथ दासों का यह रूप मन्द पड़ता जा रहा है। ज्यो-ज्यो एक चेतना और जागृति का उदय हो रहा है, वैसे ही वैसे मानव अपने को पहिचान रहा है। उत्तर वैदिक काल के साहित्य और इतिहासों में भी दास प्रथा का विवरण मिलता है। सिकन्दर के हमले के पूर्व तक्षशिला में दास दासी वेचे जाते थे जिनमे ऐसी कन्यायें भी थीं जिन्हे पिता बेच दिया करते थे। आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश में हमे लड़कियो का लुक छिपकर व्योपार करने वाले लोग मिलते ही हैं। काव्य काल मे विशेष कर कालिदास के काव्य मे दास दासियों के लेने देने की प्रथा का विवरण मिलता है। चन्द्रगुप्त के शासन काल का विवरण देते हुए मेगस्थनीज ने भी चन्द्रगुप्त को कई दासियो से घिर कर चलने की ओर सङ्केत किया है—शायद इनका मुँह देखना बहुत शुभकर माना जाता था।[1]

इदं गोमिथुनग्रहणम्ननिदितम् तस्यकुमारीपूजनार्थत्वेन- कन्याविक्रयासावति त्व-यैतयेनसहगृहधम आचरणीय एत स्या जीवनपर्यन्त विवाहांतर चतुर्थश्रमोवान कार्यइत्वाभाष्यकन्यादानं प्राजापत्यः ज्ञातिभ्योपथेच्छधनदंदत्वा विवाह आसुरः वर वध्वोरिच्छयान्योन्यसमोगे गान्धर्व. । युद्धविना बलाद्धार्यराक्षसः चौर्येण-कन्याहरणपैशाचः पूर्वंचतुर्थपूर्वः पूर्वः श्रेष्ठः उनरेषुत्तरउत्तरोनिद्यः तत्र विप्रस्य ब्राह्मदैवोप्रशस्त क्षत्रिय स्य गांधर्व राक्षसौ असुरौ वैषस्य आर्ष प्राजापत्य पैशाचः सर्वेषा संकटे राक्षस मिवाः सदाविप्रस्य ब्राह्मदैवेत्तरेषट क्षत्रिस्य वैश्य शूद्रयो ब्राह्मदैवराक्षस मित्राः पच सर्वेष्वपिविवाहेषुत्तत्तत्कारे कन्यापरिग्रहोत्त र स्वस्व गृह्यरीत्याविवाह होमादि विधिरा वश्यकः दानविधिनादन सर्वत्रभवति पैशाचा-दौसप्तपदीविधिः पूर्व मन्यस्मैकन्यादेयः ब्रह्मादिष्वपिकन्यादानोत्तरमपि सप्तपदी-विधेः पूर्व वरस्यषढ्त्वादिदोषज्ञातेवरमतौ वा कन्यास्यस्मैदेया ब्राह्मादिष्कपि-कन्यादानोत्तरमपि सप्तपदीविधेः पूर्व वरस्यषढत्वादिदोषज्ञानेपरम तौवा कन्या-न्यस्मैदेया ब्राह्मविवाहोढायंजतिः पुत्रोदशपूर्वान्दिशपरान् पितृ स्तारयेत् देवोढा-पुत्रःसदासहा प्राजापत्योढापुत्रः षट्षट् आर्षोढापुत्रस्त्रीहंगीन् ।

धर्म सिन्धु तृतीय—परिच्छेद पृ० ३७३।

१. ईसा पूर्व चौथी शती मे होने वाले चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि राजा का उठते ही इन नारियो का मुख देखना ——— है। तत्वा नयिक सिल्युकस राजदूत ने भी चन्द्रगुप्त के नारियों से घिरकर चलने

शुभ और अशुभ मगल अथवा अमंगल का आधार किसी भी राजा की सम्पति पर ही आधारित था, जो जितना अधिक सम्पतिशाली रहा होगा वह उतने ही दास दासियों को रख सकता होगा, इसी रूप मे ही राजा अपने शक्ति का सँतुलन और मूल्यांकन करता था। दास दासियों का दल उसके शक्ति का और विजय की ओर सङ्केत करता था।

अतएव दास-प्रथा भारतीय संस्कृति के इतिहास का एक विशिष्ट अध्याय है। सस्कृतियों के अन्तरावलम्बन के कारण, बाह्य-प्रभावों के कारण मूल चेतना में एक परिवर्तन अवश्य हो गया है परन्तु 'मूल चेतना' का आधार वही है। चन्द्रगुप्त और कुशान राजाओं के दास धीरे-धीरे मुसलमान काल में आते आते स्वयं अपना एक विशिष्ट स्थान ले लेते है। मुसलमान काल के इतिहास मे गुलाम-वंश इसी का उदाहरण है। अब दासो में एक सगठन-शक्ति आ गई थी, उन्होने अपने बहुसंख्या में होने का लाभ उठाया और स्वयं शासक बन गए, बलबन इसका नेता रहा। धीरे-धीरे युग और आगे आया—गुलाम बनाना हेय समझा जाने लगा—यह युग की प्रवृत्तियो के परिवर्तन के फलस्वरूप ही था, परन्तु फिर भी इसकी सत्ता आज श्रमिकों के रूप में है आज के मिल मालिकों ने उनके श्रम को थोड़े से जगमगाते हुए सिक्कों को देकर मोल ले लिया है, वे उसका जिस प्रकार भी चाहें प्रयोग कर रहे हैं और उनके श्रम का मनमाना लाभ उठा रहे हैं। यद्यपि उनके शरीर पर अब पहले का सा स्वामियों का अधिकार नही, फिर भी उनके श्रम का उपयोगितानुसार अभी मूल्यांकन नही हो पा रहा है। अतएव यह बात प्रमाणित है कि दास प्रथा बहुत पुरानी प्रथा है, इसका जन्म (इतिहास के पन्नो के अनुसार) मुगलकाल में ही नहीं परन्तु हिन्दू-काल में ही है। यह हो सकता है कि दास और दासियों के साथ बर्ताव और व्यवहारों में वह कटुता न रही हो जो मुगल काल मे थी अथवा जो कटुता ग्रीक और रोम दासो के साथ किए गए व्योहारों में मिलती है। यदि दास प्रथा का आविर्भाव पहले से ही न होता तो हरिश्चन्द्र के बिकने की कहानी और शैब्या के दासी के रूप में कार्य करने के वास्तविकता का कोई आधार ही न होता। राम के

की ओर सकेत किया है। ये यवनियाँ कौन थीं इसका विस्तृत प्रथम शती ईस्वी के अज्ञात ग्रीक लेखक द्वारा प्रस्तुत 'इरिथ्रियन-सागर का पेरिप्लस' नामक ग्रन्थ करता है। उसमें लिखा है कि किस प्रकार ग्रीक आदि नगरों से दासियाँ जहाजों में भर भर कर सुरा और अन्य व्यापारिक वस्तुओं के साथ भारत के पश्चिमी तट के बेरीगाजा (भृगु-कक्ष-भड़ोच) और शूर्पारिक कल्याण आदि बन्दरगाहों पर उतारी जाती थीं जहाँ से उज्जैन होती हुई वे उत्तरी नगरो के राजप्रसादों और श्रीमानों के महलों में पहुँचती थीं। —दास प्रथा का विकास

भारतीय समाज का आर्थिक विश्लेषण पृष्ठ ३१३

डा० भगवत शरण उपाध्याय

विवाह में भी जनक से महात्मा रघुनाथ जी को दहेज में सौ करोड़ दीनार (सुवर्ण मुद्रा), दस हजार रथ, दस लक्ष घोड़े, छः सौ हाथी, एक लाख पैदल चलने वाले (पदाति) और तीन सौ दासियाँ दी।[१] सम्भवतः आज भी उसी दास प्रथा का शेषांश पूर्वी-उत्तर प्रदेश के सनातन धर्म की रीति से होने वाले विवाहों मे प्रचलित है[२] (कालिदास-काल) ऐसे अनेक उदाहरणो से भरा पड़ा है। पार्वती ऐसी साध्वी जिसने तप के द्वारा शकर पर विजय पायी उसके लिए भी पिता का (वर के घर जाते समय) आशिर्वाद है कि पति के रुष्ट होने पर भी तुम रोष न करना[३] यह तो ठीक है, कौटुम्बिक शान्ति को स्थिर रखने के लिए यदि एक पक्ष किसी दूसरे पक्ष के रोष करने पर यदि शान्त ही रह जाता है तो उसका दासत्व नहीं हुआ परन्तु उसके शील और अच्छे स्वभाव का ही परिचय है, इसके अतिरिक्त पिता यह भी आशिर्वाद के रूप में कहता है कि पति के कुल में तुम्हारा दासत्व भी उचित है।[४]

संस्कृत साहित्य मे प्रयोगकिए गए 'दास' शब्द का अर्थ कहाँ तक मुगल काल के दास दासियों से मिलता है, यह ठीक-ठीक बहुत सोचने के बाद भी कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता परन्तु दास दासियों का अपने शरीर पर भी अधिकार नहीं था। क्या वह अपने स्वामी की इच्छा के विरोध मे कुछ कह सकते थे, किसी दास ने ऐसा कुछ कहा है, इसका भी काव्य-काल मे कोई उदाहरण नही मिलता हैं। अपने विषय में कुछ बोल न सकना ही उनके दासत्व की ओर संकेत कर रहा था। इस प्रथा का, ज्यों-ज्यों युग बढ़ता गया परिमार्जन होता गया—और वह परिमार्जन विभिन्न युगों के मानसिक स्तरों के कारण ही था। पिछले पृष्ठों पर सांस्कृतिक विकास की कई मंजिल देख चुके हैं। इस प्रगति का कारण केवल मानव ही रहा है—यदि वह सामाजिकता से ओत प्रोत न होता तो सम्भवतः वह अपने सामने उपस्थित वातावरण में रहते हुए भी अपने अनुभवों की ओर ध्यान ही न दे पाता। उसका यही दृष्टिकोण—विगत अनुभवों की ओर ध्यान देना ही कभी-कभी परम्परा में एक परिवर्तन उपस्थित कर देता है। आदि काल से अब तक जो प्रमाणित और अनुभव द्वारा प्राप्त की हुई विचारों की श्रृङ्खलाएँ चली आ रही हैं उनमे एक नई कड़ी जोड़ने का प्रयास आगे के युग का अभाव ही करता रहा है और यही पुराने और नवीनतम परिस्थितयो का

---

१. इति स्तुत्वा नृपः प्रादाद्राघवाय महात्मने।
दीनाराणां कोटिशतं रथानामयुतम् तदा।
अश्वानां नियुतं प्रादाद्गजानां षट्शतं तथा।
पत्तीनां लक्षमेकं तु, दासीनां त्रिशतं ददौ।
—अध्यात्मरामायण—सर्ग ६ श्लोक ७६-७७

२. आज भी लड़की के साथ अन्य निश्चित दहेज की वस्तुओं के साथ ही साथ लौंडो गुलाम के लिए १ रु० दे दिया जाता है।

३ भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपंगमः

४ पतिगृहे तव दास्यमपि क्षमम्। (कुमार सम्भव)

सन्धिस्थल है जब सांस्कृतिक प्रगति का सूत्रपात होता है। पुरानी मान्यताएँ अपने पुरानेपन के कारण टूटती हैं, हेय समझी जाने लगी है और उनका स्थान नवीन मान्यताएँ ग्रहण कर लेती है। यह मानव के चिन्तन का स्वाभाविक विकास है जो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है। उसके विवेक और अनुशीलन करने की क्षमता में एक ऐसा मोड़ उत्पन्न हो जाता (युग की प्रवृत्तियो के कारण) जो उसको एक नई दृष्टि प्रदान कर देता है—यह नयापन और कुछ नही है केवल पुरानेपन के आधार पर खड़ा हुआ अनुभवो का वह ढाँचा है जो नवीन समस्याओं के फलस्वरूप ही आकर खड़ा हो गया है। पुरातन की ओर से, नवीन अवश्यकताओं और मान्यताओं के उपस्थित हो जाने पर नवीनता की ओर जाना यही सांस्कृतिक प्रगति है। हिन्दू काल से ही प्रचलित दास-प्रथा, बहुविवाह प्रथा उस युग के समस्याओ के अनुकूल ही थी। दास-प्रथा का सूत्रपात मानव की खेती मे अधिक कुशलता और दक्षता प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने ही दिया, वह कम से कम श्रम के द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता था अतएव अपने हित के लिए उसने दूसरे के हित पर शासन करना प्रारम्भ किया, क्योंकि उसके पास श्रम के साधन पूँजी अधिक थी इसलिए पैसो की आवश्यकता समझने वाले श्रमिकों ने अपना श्रमदान करना प्रारम्भ किया एक स्वामी और उसके दास का समाज बन गया, युद्ध हुआ आपस में दो स्वामियों से उनमें से एक जो विजयी रहा उसने पराजित स्वामी के दास दासियों, सम्पत्ति को हड़प करना प्रारम्भ करना किया, फल यह हुआ कि वह (अपहरण द्वारा) अधिक शक्तिशाली बन गया, शक्ति का विकास यहाँ पर एक ही ओर हुआ अतएव वह शक्ति सामूहिकता के कल्याण मे बाधा उपस्थित करने लगी, वह शक्ति व्यक्ति विशेष की हुई जिसने सामूहिकता पर कुप्रभाव डाला, धीरे-धीरे युग और आगे आया उसके कुछ सामाजिक समझने लगे कि कुछ मनुष्यो की स्वेच्छा और इच्छाओं पर शासन करना उचित नही निन्द्य है उन्होंने शासित वर्ग की ओर से बोलना प्रारम्भ किया। यह सब परिवर्तन नई मान्यताओ के जन्म के कारण ही है और नई मान्यताएँ चेतना के फलस्वरूप है। जब समाज ने अपने अन्दर जनहित की भावना को आत्मसात किया और मुट्ठी भर जन के सुख के लिए असख्य प्राणियो की टीस और पीड़ा का अनुभव करना प्रारम्भ किया तभी से सभी के हित के लिए एक चेतना का उदय हुआ—यही युग चेतना सांस्कृतिक प्रगति का आधार है, प्रगति इसी चेतना के आधार पर ही होती आई है कहने का तात्पर्य यह नहीं कि उस युग की कोई चेतना ही नही थी, प्रत्येक युग अपने में चैतन्य है परन्तु उस चेतना की कुछ सीमाएँ थी, वह समष्टिगत न होकर व्यक्तिवादी थी, समष्टि ने व्यक्ति पर जिस दिन विजय पाई उसी दिन समष्टिगत चेतना का भी उदय हुआ और इसी उदय के साथ ही साथ रुचियों का परिवर्तन प्रारम्भ हुआ, और इस परिवर्तन का दूसरा रूप सांस्कृतिक विकास ने ले लिया।

भारतेंदु युगीन काव्य एवम् निबंध की रूपरेखा

भारतेन्दु युगीन काव्य अपने पीछे रीतिकालीन काव्य की परम्परा को छोड़ कर आगे आया है। नायिकाओं का नखशिख वर्णन, समस्यापूर्तियाँ आदि ऐसे काव्य के स्वरूप थे जो रीतिकाल में प्रचलित थे, भारतेन्दु युगीन काव्य में भी हमें इन सभी का दबा हुआ स्वर मिलता है, परन्तु काव्य के वस्तु विन्यासों को छोड़कर उस काल का काव्य और आगे बढ़ा है। इस काल के अन्य कवियों के द्वारा महामारी, अकाल, टैक्स आदि विषयों पर काव्य रचना हुई। वस्तु विधान में ही केवल परिवर्तन नहीहुआ परन्तु रूप विधान में भी हमें परिवर्तन मिलता है। लोकगीतों के रूप में इन काव्य वस्तुओं में रचनाएँ हुई। दरबारी संस्कृति में एक नवीन चेतना का उदय होता दिखलाई पड़ रहा था, यद्यपि पूर्ण रूपेण उस समय का काव्य दरबारी प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाया था, समस्यापूर्तियाँ उसी के अवरोध के रूप में थी, शृंगार रस का प्रयोग भी इसी के लक्षणों में से एक था। 'पूरी अमी की कटोरिया सी, चिरजीवी सदा विक्टोरिया रानी' नामक पंक्ति में समस्यापूर्ति ही की ध्वनि का आभास मिलता है।

भारतेन्दु-युगीन प्रयोगों में एक नया प्रयोग है लोकगीतो में सामाजिक एवम् राजनीतिक चेतना का आभास होना। हिन्दी 'प्रदीप' में प्रकाशित आल्हा में अकाल का वर्णन इसी कोटि का है। जनता का रोषभरा रूप और यथार्थ की सच्ची झाँकी हमें इसके पहले के काव्य में नही मिलती। भूख का चित्रण, तथा बेटवा और बिटिया

संवत उन्नीस सौ तिरपन मां, पड़ा हिन्द में महा अकाल,
घर घर फाँके होवन लागे, दर दर प्रानी फिरैं बेहाल,
गेहूँ, सावाँ, चावल, मकरा, सबै अन्न एक भाव बिकाय,
बिन पैसा सब छाती पीटैं, अब तो राम रहा नहिं जाय,
कोई पात पेड़न के चाबैं, कोइ मांस कोई घास चबाय,
कोई बेटवा बिटिया बेचै, अब तो भूख सही न जाय,
कोई घर घर भीखो मांगै, कोउ लूट पाट के खाँय,
बहुत लोग जो अब बेत हैं, राम निहोरे करें सबाब,
बहुत लोग देते हैं फाँसी, अस मल्लिका से चहैं खिताब,
सी०एस०आई०, के०एस०आई०, रायबहादुर केर खिताब,

'हिन्दी प्रदीप'

देखने का चित्र उपस्थित करता हुआ दृश्य हमे इस सरल भाषा में अन्यत्र नहीं मिलता। भारतेन्दु के इस प्रचलित आल्हा में दो चूडान्त दृश्यो को उपस्थित किया गया है, एक ओर तो भीख माँगना, पेड के पत्तों को खाना, लड़के और लड़कियों को खाना और दूसरी ओर रायबहादुरी का खिताब, और बिलासिता का नया-प्रदर्शन। भारतेन्दु ने अपने ऐसे गीतों में यथार्थ वादी परम्परा का निर्वाह किया है, उन्होने जो कुछ अपने आँखों से देखा उसका चित्रण वैसा ही कर दिया है।

भारतेन्दु की कविताओं का बाह्य कलेवर रीतिकाल का सा है अवश्य परन्तु उन कविताओं की आन्तरिक व्यंजना रीति से पृथक सी है। उनमे वह बँधी बँधाई रीति नही, छन्दों का वह प्रयोग नही, यदि कहीं है भी तो उन प्रयोगो में केवल अपने ही व्यक्ति का प्रतिपादन न करके समष्टि के स्वर दबे हुए मिलते हैं। अपने देश की दशा पर आँसू बहाने वाला वह पहिला कवि था जिसने 'सब मिलि रोवहु भारत भाई' की आवाज लगाई है। सभ्यता[१], शिक्षा की बेकारी[२], सरकारी अमलो[३], तथा पुलिस[४] आदि विषयो पर भारतेन्दु ने खुल करके लेखनी चलायी है, रीतियुग केवल काव्य का चित्रण करता था, नायिकाओ की अठखेलियाँ, तथा सौंदर्योपासना ही उनकी काव्य दृष्टि का प्रधान अँग था, भारतेन्दु ने भी शृंगारिक कविताओ की रचना की है परन्तु सामाजिक विषयो पर तथा अभावों पर भी उन्होंने अपनी कलम चलाई है।

आधुनिक सभ्यता के वे विरोधी हो, ऐसी बात नहीं, परन्तु अति आधुनिकता की धुन में सभी की आलोचना, अपने से बड़ो को गँवार समझना आदि अनर्गल विश्वासों पर उन्हें रोष होता था। ग्रेजुएटो की बेकारी, तीन बुलाने पर तेरह आना आदि विषयों को भी उन्होंने काव्य मुकुरियों में ढाला। समाज का बिगड़ना या बनना बहुत कुछ शासन व्यवस्था पर भी आधारित रहता है। सरकारी अमले किस प्रकार से अपने को वेतन के ही अधिकारी समझते थे और अपने नैतिक आदर्शों को भूल करके केवल बाहरी दिखावट को ही अपना रहे थे इन सभी यथार्थ तत्वों को अभिव्यक्त किया है।

---

१. सब गुरुजन को बुरो बतावै, अपनी खिचड़ी आप पकावै,
भीतर तत्व, न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेजी !

२. तीन बुलाये तेरह आये, निज - निज बिपदा रोय सुनावै,
आँखों फूटी भरा न पेट, क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट !

३. मतलब की ही बोलै बात, राखै सदा काम की घात,
डोलै पहिने सुन्दर समला, क्यों सखि सज्जन नहिं सखि अमला !

४ रूप दिखावत सरबस लूटै, फन्दे में जो पड़ै न छूटै,
कपट कटारी हिय में हूलिस क्यों सखि सज्जन नहिं सखि पुलिस !

हरिश्चन्द्र मैगजीन से

लोक गीतों की रचना के पश्चात भारतेन्दु के काव्य का दूसरा अनिवार्य तत्व है प्रकृति-चित्रण। प्रकृति चित्रण प्राय. प्रत्येक कवियो ने किया है परन्तु उनका अपना एक विशिष्ट ढंग है। प्रकृति अब मानव के जीवन की निकट की वस्तु हो गई है, भारतेन्दु ने इसका आभास करना प्रारम्भ कर दिया था। अब तक के काव्य में प्रकृति का वर्णन परोक्ष रूप में हो जाता था, कवि प्रकृति का दर्शकमात्र था, वह देखा करता था उसके परिवर्तनो की ओर उन्हीं परिवर्तनो की रूप रेखा वह खींच देता था, भारतेन्दु के प्रकृति चित्रण मे बाह्य निरूपण ही केवल नहीं रहा, कवि अपनी समस्त अनुभूतियो से पूर्ण सामञ्जस्य तो नही कर पाया, अपने को प्रकृति के अंगो मे रमा तो नही पाया फिर भी प्रकृति उद्दीपन न होकर आलम्बन के रूप में आई। अब तक प्रकृति का प्रयोग नायक नायिकाओं की दशा को वर्णन करने में होता था वियोग दुख, सुख आदि मानव की आन्तरिक भावनाओ को हम प्रकृति के बाह्य रूप में नहीं पढ़ सकते थे। प्रकृति से सामञ्जस्य होना तो छायावादी युग की देन है। अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को तिरोहित कर देना, उसे भूल जाना, तो इस युग के प्रकृति-चित्रण का विषय नही रहा, अब विषय हो गया प्रकृति वर्णन मे आलम्बन रूप एवम् मानव जीवन में उसकी उपयोगिता। यह आधारभूत अन्तर सौन्दर्याङ्कन की दृष्टि के साथ ही साथ होता गया। गंगा-छवि वर्णन मे कवि ने गंगा का प्राकृतिक वर्णन किया है, परन्तु इस वर्णन को सांसारिक वस्तुओं के चिन्तन मे अवरोध रूप में नही किया गया है, जीवन मे उपयोगिता का महत्व उसमे पूर्ण रूप से निर्धारित किया है। इसके अतिरिक्त मानव को अपने अनेक मनोरथों को मिटा देना पड़ता है,भूल जाना पड़ता है, कवि इसी जगत के सत्य की स्थापना अन्तिम पंक्ति मे कर रहा है। लहरो का गिरना और एक का दूसरे पर आना यह स्पष्ट करता चलता है कि मानव मन की तरंगें किस प्रकार से बनती बिगड़ती रहती है। यहाँ 'विविध मनोरथ' अमूर्त से लोल लहर, मूर्त की उपमा दी गई है। इसके अतिरिक्त देश की दुर्दशा का चित्रण भी इसी प्रकृति का आधार लेकर हुआ है। प्रकृति से अब तक शृङ्गार के उपमान ही मिलते आये हैं, परन्तु भारतेन्दु जी ने प्रकृति को एक उपमान रूप में न देखकर प्रकृति से उपमायें देकर वास्तविक जीवन की कहानी कही है, उस समय के सम्पूर्ण वातावरण का चित्रण तथा यथार्थ परिस्थितियो का ज्ञान हमें ऐसे उदाहरणों से होता है—

'भारत में मची है होरी !
धूर उड़त सोइ अबीर उड़ावत सबको नैन मरोरी,

---

१. नव उज्ज्वल जल धार हार हीरक सी सोहति,
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि मोहति,
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत-
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।

दीन दसा अँसुवन पिचकारी सब खिलार भिजयो री !
भई पतझार तत्व कोउ नाही सोइ बसंत प्रगट्यो री,
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री,
सिसिर को अंत भयो री !!

भारत की दुर्दशा का चित्रण तत्काल किया गया है और कुछ एक पंक्तियाँ तो इस गीत में अपना विशिष्ट अर्थ रखती है, और बहुत जोरदार है

'भई पतझार तत्व कँउ नाहीं सोइ बसन्त प्रगट्यो री,
पीरे मुख भइ प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री !
सिसिर को अन्त भयो री !

उपर्युक्त वर्णन में नये उपमानों के द्वारा, भारत की दुर्दशा का चित्रण करना ही कवि को अभीष्ट रहा है । ऐसे और भी वर्णन मिलते हैं, जिसमे पोरस को धार की भाँति तीव्र मान लिया है, तलवारो को बिजुली, बादल को तोपै, इस प्रकार इन्ही शब्दों से सम्पूर्ण प्रकृतिरूप को रूपको से बाध दिया गया है ।[1]

हास्य और व्यंग

हिन्दी काव्य में हास्य और व्यंग का सर्वथा अभाव है । इसका कारण है हिन्दी साहित्य सर्जक अधिकतर या तो संत हुए हैं या तो दरबार के कवि, अपनी स्वेच्छा से कविताओं की रचना करना तो इनका उद्देश्य रहा है अवश्य परन्तु भक्तों के लिए और दरबारी कवियो के लिए स्थिति एक सी थी । भक्त यदि मनमानी बात कहता है तो उसका सर्वस्व, उसका आराध्य उसके प्रतिकूल हो जायेगा,इसलिए आराध्य की इच्छा के विपरीत अथवा उस भक्ति विशेष की चिन्तनधारा विश्वास और आस्था के विपरीत भक्त कवि अपनी कोई स्वतन्त्र धारा बना ही नही सकता, मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी हो जाती है कि स्वतन्त्र चिन्तन अधिकतर भक्त नहीं कर पाते, अपने सम्प्रदाय में ही वे सीमित रहते हैं । यही बात रीतिकालीन कवियों की रही है, अधिकांश कवियों ने अपने राजा अथवा आश्रयदाता की भावनाओं एवम् मनोवृत्ति के विपरीत सोचकर कुछ कहने का साहस ही नहीं किया है । यही कारण है कि कुछ एक भक्त कवियों को छोड़कर व्यंग का अभाव कम ही रहा है । कबीर ने हिन्दी में व्यंग को प्रचलित कर दिया, कबीर ने स्वतन्त्र रूप से व्यंग को काव्य का अंग बनाया यद्यपि उन व्यक्तियो के पीछे समाज को सुधारने की एक स्वस्थ भावना भी रहती है, फिर भी व्यंग का महत्व अन्य कवियो में नगण्य ही रहा । तुलसी ने

---

१ पोरस सर जब रन मँह बरसत, बारिन कै भोरा जोया हरसै,
बिजुली की चमकैं तरवारें, बदरा सी तोपें ललकारें,
बीच अचल गिरिवर सों छजिगज चढ़ देवराज सम परसत,
झींगुर से झनकत हैं बख्तर अबन करत दादुर से टर टर,
आदि !

हास्य का पुट तो अवश्य दिया है, सूर ने उद्धव और कृष्ण की वार्ता में व्यंग का आधार लिया है परन्तु वह व्यंग प्रेम व्यंग ही रह जाता है, उससे समाज की अच्छाइयों बुराइयों पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। वह व्यंग समाज से सीधे रूप में सम्बन्धित नहीं।

सन्त कवियों में कबीर ने अपनी व्यंगोक्तियो के द्वारा समाज के दलित अंगों को छेद दिया है, रूढियो पर आघात किया है उनके पश्चात भारतेन्दु साहित्य में हास्य और व्यंग का पुट मिलता है। समाज की रूढ़ियों को हटाने में एवम् उन्हें एक नया रूप देने में आवश्यकता अन्तर के परिवर्तन की रहती है। जब तक जनता का अन्तस्तल परिवर्तित नहीं होता, उसमे एक नई ज्योति एवम् आत्मा का उदय नहीं होता, तब तक सामाजिक रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास जो बने थे बने ही रहेंगे। भारतेन्दु ने धार्मिक मतमतान्तर जनता की कूपमण्डूकता, विलासी जीवन, बैर, फूट, महंगी इन सभी तथ्यों का आधार लिया है। यह कवि के जागरूक होने की निशानी है कि जनता की कुण्ठा को, तथा उसकी मनोवृत्ति को परिवर्तित करना। भारतेन्दु ने इन्हीं तरीकों को अपनाया जिससे जन – जागरण हो। भारतेन्दु कालीन परिस्थितियों के अध्ययन के बीच हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि दो ही प्रकार की विकृतियाँ एक तो प्राचीन रुढ़ि प्रसूत विकृतियाँ दूसरी विदेशी सम्पर्क से उत्पन्न विकृतियाँ ही राष्ट्र को पंगु बना रहीं थीं।

इस प्रकार से भारतेन्दु ने अपने युग की परम्परा में एक नवीन चेतना जोड़ दिया। व्यंग काव्य का वर्गीकरण करते समय हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति, राजनीति संस्कृति और साहित्य इन सभी अंगों पर कहीं तो विदेशीपन का पहरा है कहीं अपनी ही रूढ़ियों को बल पूर्वक पकड़कर बैठने की जिद। भारतेन्दु ने इन सभी क्षेत्रों में विचारों की परिवर्तनशीलता पर ध्यान दिया।

धर्म के वास्तविक रूप को पहचानने का उनका आग्रह बड़ा ही प्रगतिसूचक विदित होता है। शैव शाक्त और वैष्णव आदि के झगड़े ही उस समय धार्मिक क्षेत्र में वर्तमान थे और जनता वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए इन झूठे झगड़ों में उलझ रही थी भारतेन्दु ने इसका चित्र खींचा है, इन पंक्तियों में उस युग की एक झांकी है—

'रचि बहु बिधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए,
शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाए,
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो,
खान पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो,
जन्म पत्र विधि मिलै ब्याह नहिं होत हते अब,
बालक पन में ब्याहि प्रीति बल नास कियो सब,
करि कुलीन को बहुत ब्याह बल बीरज मारयो
बिधवा - बिवाह निषेध कियो व्यभिचार प्रचारयो

रोक विलायत गमन कूप - मण्डूक बनायो,
और न को संसर्ग छोड़ाय प्रचार घटायो,

इन पक्तियों में भारतेन्दु ने यथार्थ चित्रण करके यथार्थ और वास्तविक कुरीतियो के प्रति एक कुरुचि उत्पन्न कराने की चेष्टा की है। बाल-विवाह के विरोध में, विधवा विवाह निषध के विरोध में उन्होने अपनी आवाज उठाई है। सम्भवत: ये सभी सत्य समाज को अवनति की ओर ले जाने मे सहायक थे, इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड गमन अवरोध और इस प्रकार से अपने सीमित रहने की उन्होंने हँसी उडाई है।

कवि की यह नवीन मोड है जो व्यक्ति को त्याग कर अब समिष्टि की ओर और समाज के गले अगों को नवीन चोला देने मे अग्रसर रहा है। इनकी पक्तियो मे सुधार की दृष्टि से तो कही कही निर्गुण कबीर की सी ध्वनि आने लगी है।

इन व्यगो की भाषा कितनी सरल और सीधी है। अग्रेजी शासन के बीच शोषण, अत्याचार तथा वैमनस्य (आपस का) कितना बढ़ गया था, इसका सही सही चित्र है। भारतेन्दु ने इन विकारों के सही नस को पहिचाना था और उन विचारों की आलोचना-भी की है। सबसे बड़ी बात जो इन्हे खटकने की थी वह थी भारत-वासियों के विचारों में परिवर्तन। भारतीय सँस्कार भारतीयो से दूर होते जा रहे थे। देशवासियों की इस भावना पर व्यंग करते हुए भारतेन्दु ने लिखा भी है। ये पंक्तियाँ शैली के ढंग से तथा भाषा सारल्य की दृष्टि से सर्वथा नवीन है।[1] चाहे देश खाक मे मिल जाय परन्तु राजा, नवाबो का अपना हाथ पैर हिलाकर उसे बचाना अच्छा नहीं, यह आशय भारतेन्दु ने राजा नवाबो के जीवन का लिया है। देश की परतंत्रता का मुख्य कारण मानसिक परतन्त्रता ही हुआ करती है, और इस मानसिक परतन्त्रता के पीछे ही भारत की गुलामी का स्थायित्व बढ़ता गया है।

ऐसी भावनाओं से भारतेन्दु का काव्य - साहित्य भरा पड़ा है। चेतनशील साहित्यकार अपने मे ही सीमित न रह करके समाज और राष्ट्र के प्रश्नों एवम् समस्याओं पर भी अपने विचार प्रकट करता है। भारतेन्दु को हम इस क्षेत्र मे बहुत आगे बढा हुआ पाते हैं। इन्होने समाज की रूढ़ियाँ, शासन के प्रति असंतोष और फिर एक नयी भाषा हिन्दी की ओर अपना झुकाव भी दिखाया है। इसमे

---

१. दुनिया में हाथ पैर हिलाना नहि अच्छा,
मर जाना पै उठ के कहीं जाना नहि अच्छा,
बिस्तर पै मिस्ले लोथ पड़ा रहना हमेशा,
बन्दर की तरह धूम मचाना नहि अच्छा,
धोती भी पहिने गर कोई गैर पिन्हा दे,
उमरा को हाथ पैर हिलाना नहि अच्छा,
मिल जाय हिन्द खाक में, हम काहिलों को क्या,
२ ये पीर—फकीर रम्ज उठाना नहि अच्छा।

सन्देह नही यह कवि अपनी सीमाओ मे नहीं बँधा है, परन्तु कवि अपने साथ ही साथ सीमाओं को बढाता आया है।

कबीर की भाँति भारतेन्दु ने भी वर्ग और छुआछूत की भावनाओं की तीखी आलोचना की है। इन्होंने अधिकतर शैवों और वैष्णवों के आडम्बर की आलोचना की है। वैष्णवों का धर्म केवल कण्ठी और मुद्रा को धारण कर लेना ही नहीं होता, परन्तु आन्तरिक शुद्धि ही इनका प्रयोजन होना चाहिए। ब्राह्मणो के अन्दर भी फैली हुई इस छुआछूत और आचार-विचार को पावन करने की ओर सङ्केत किया गया है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु ने ब्राह्मण तथा अन्य उच्च वर्ग वाले लोगो की भी आलोचना की है, उनका इन पक्तियों को लिखने में संदेश यही है कि आन्तरिक शुद्धि वाह्य शुद्धि से कही अधिक टिकाऊ है। यह भारतेन्दु का प्रगतिशील दृष्टिकोण है।

राजनीतिक क्षेत्रों मे भी ऐसे ही तीखे व्यंग बिखरे पडे हैं। व्यंग की सृष्टि साहित्यकार के अन्तर चेतना से ही होती है, उसका आत्म सम्मान तथा आन्तरिक भावनाएँ जब समाज और शासक के ठोकरों से कराह उठती है तभी वह कुछ न कुछ कहने पर बाध्य हो जाता है। राजनीतिक दशा पर टिप्पणी भारतेन्दु की ही नहीं उस समय की जनता की एक दबी हुई आवाज के रूप में हैं। उन्होंने कहीं तो विदेशियों को, भारत का धन लूट कर ले जाने पर जी भर कोसा है,[2] वहीं उनकी चरित्रगत विशेषताओ को बतलाया है। अंग्रेजों की चरित्रगत विशेषता ही यही है कि हँस हँस कर तन मन दोनो लूट लेते हैं।[3] उस समय की पुलिस का स्वरूप कितना बिगड़ा था, और जो भी उसके फन्दे में पड जाता था बिना लुटाये नहीं जाता था इस ओर भी उनका संकेत है।[4]

---

१. वैष्णव लोग कहावहि कंठी मुद्रा धारि,
छिप छिप कै मदिरा पियहि यह जिय मोंझि विचारि,
होटल में मदिरा पियें चोट लगै नहि लाज,
लोट लए ठाढ़े रहत, टोटल देवे काज।
ब्राह्मण सन छिपि छिपि पियत, जामें जानि न जाय,
पोथी के चोगान में, भरि बोतल बगल छिपाय।

२. अँग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जाति यहै अति ख्वारी,

३. भीतर भीतर सब रस चूसें, हँसि हँसिकर के तन मन धन मूसें,
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखी सज्जन! नहि अँग्रेज?

४. रूप दिखावत सर्वस लूटें, फन्दे में जो पड़े न छूटें,
कपट कटारी जिय पे हुलिस- क्यों सखि सज्जन नहि पुलिस।

निबन्ध रचना

भारतेन्दु युग में नाटको की प्रगति पर एक दृष्टि डाली जा चुकी हैं, नाटकों में कहीं तो व्यंग था समाज की कुरीतियों के प्रति, कही तो व्यंग था परम्परा के पालन के प्रति, इन सभी व्यंगों के बीच गद्यात्मक प्रवृत्ति खूब उभरी। लेखक अपने 'स्व' पर आघात सहते - सहते व्यथा से पागल सा हो गया, फलस्वरूप उसकी भावनाओं को गद्य का साकार रूप मिला। यद्यपि गद्य का शैशव था अभी प्ररम्भिक रूप था परन्तु इसी रूप में कहानियों से लेकर आलोचना तक सम्पूर्ण साहित्यिक विषयों पर गद्य मे ही लिखा गया। 'राजा भोज का सपना[1]' 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न[2]' 'यमपुर की यात्रा[3]' 'आय[4]' आदि शीर्षक निबन्धों मे सफलता मिली है। 'आय' शीर्षक निबन्ध एक नया प्रयोग है। अंग्रेजी के निबन्धो की भांति लेखक अपने से फण्ड का पूरा सामञ्जस्य स्थापित करा लेता है ऐसा लगता है जैसे लेखक अपने से अपना अन्तस्तल खोलकर पाठकों से बात करता चलता है। 'राजा भोज का सपना' शीर्षक निबन्ध में परिचयात्मक रूप अधिक है। शैली विशेष नही, 'वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा भोज का नाम नही सुना' प्रारम्भ ऐसा ही है। राजा भोज ने सम्पूर्ण दान पुण्य जो भी किया सब कुछ अपनी कीर्ति के विचार से, लेखक का उद्देश्य है कि मोटे तगड़े लोगों को दान देने से कहीं अच्छा है कि उन्हें दान दिया जाय जो इसके अधिकारी हैं, अधिकारी इस अर्थ में जिसे आवश्यकता है कि जो क्षुधा से क्षुधित है, और भूख की ज्वाला ने जिन्हें कंकालवत कर दिया है। स्वप्न में राजा उन्हीं भूखो तथा नंगों की सूरतों को देखता है जिन्हें दान देकर वह लाभ उठा सकता था, परन्तु उसकी कीर्ति उसमें न होती। गांव और इलाके जिनमें कि कुओं की आवश्यकता थी, तथा जहाँ खेती की वृद्धि हो सकती थी, राजा ने उन गांवों के लिए कुछ न करके केवल दान ही दिया है। यह एक व्यंग चित्र है, जिसमें वास्तविकता की झांकी स्पष्ट देखने को मिलती है भोज का सारा दान

---

१. शिव प्रसाद सितारेहिन्द

२. भारतेन्दु

३. राधाचरण गोस्वामी

४. प्रताप नारायण मिश्र

५. कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे उस आइनें में दिखलाई देते जिन्हें राजा खाना पहिनने को देसकता था परन्तु न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे कट्टे मोटे मुसण्डे खाते ोतो को देता रहा जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफारिश ले आते थे। कभी - कभी वे दीन दुखी दिखलाई देते जिनपर राजा के कारदार जुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तह की बात और उपाय न किया........।

तथा पुण्य बेकार है, क्योंकि वह दान अपने स्वार्थ तथा हित के लिए दिया गया है। कीर्ति मात्र ही उनका उद्देश्य है।

इस प्रकार से हिन्दी के निबन्धों ने सामाजिक, साहित्यिक एवम् सांस्कृतिक जागरूकता का संदेश दिया है। इसी के बीच जनता की स्वतन्त्र चेतना का विकास करना ही इनका मुख्य उदेश्य रहा है। भारतेन्दु - युग के निबन्ध चाहे जैसे भी हों अथवा जिस कोटि के हो उन सभी के पीछे एक दबी हुई चेतना छिपी रहती है जनता के सर्वांगीण विकास की, उसको जागृत करने की यही कारण है कि वे निबन्ध अब तक के अज्ञान और अचेतन युग की धरोहर के रूप में मिलते हैं। निबन्धो के विषय निर्धारित करते समय इनके निबन्धो को निम्न क्रम में रखा जा सकता है :-

अ–ऐतिहासिक रचनाएँ

ब–धार्मिक रचनाएँ

स–आख्यान

एवं द–प्रहसनात्मक

जागृति एवम् चेतना के दृष्टिकोण से उपर्युक्त विभाजन समाज के शाश्वत सभी अंगों को आच्छादित कर लेता है। यदि सरसरी दृष्टि से देखें तो हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि भारतेन्दु युगीन निबन्धों की पहिली विशेषता है समाज सापेक्षता। अब तक का साहित्य समाज के लिए उतना हितकर न होकर या तो व्यक्तिगत अनुभूतियों का चित्रण करता था या व्यक्ति के एवं विशिष्ट मनोभूमि की समाज सापेक्षता से तात्पर्य यह है कि इस युग का निबन्ध समाज को दृष्टि मे रख कर उसके गलित अंगों को कुरेद कर उसे स्वस्थ करने की कामना रखता है। ऐतिहासिक रचनाओं के सृजन में उनका मुख्य उद्देश्य है कि भारत के अतीत को उसके सही रूप में जनता के समक्ष रख देना। अंग्रेज इतिहासकारों ने भारत के इतिहास को उतना व्यापक और चेतन रूप नहीं दिया है जितना कि होना आवश्यक था। ऐसा न करने पर हम उन्हें दोषी नहीं ठहराते, शायद उनका मानसिक अपनत्व भारतीय इतिहास से उतना नही हो सकता जितना कि एक भारतीय का। जो भी करना हो हमें यहाँ विवादो की ओर न जाकर यह स्पष्ट कर देना है कि भारतेन्दु ने ऐतिहासिक रचनाओं का सृजन करके, भारत के अतीत की झाँकी प्रस्तुत करके, वर्तमान को उस अतीत से प्रेरणा लेने की पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी। यही कार्य आगे चल कर 'प्रसाद' ने भी किया है अपने नाटको में उन्होने भारत के अतीत को पुनंजागृति प्रदान की है। इन रचनाओं में केवल भारतीय महापुरुषों की या वंसावलियो का संदर्भ दिया हो ऐसा नहीं है उन्होंने नैपोलियन तृतीय सुकरात लार्ड (मायो) लार्ड लारेंस आदि पर भी प्रकाश डाला है। अतएव इन रचनाओं का विश्लेषण एक एक कर हम करेंगे।

ऐतिहासिक रचनाओं के अन्तर्गत इनका पहला लेख है महाराष्ट्र देश का

इतिहास। इसके दो भाग है पहिले के अन्तर्गत शिवा जी और दूसरे के अन्तर्गत पेशवाओं का वृत्तान्त है। निबन्ध का प्रारम्भ महाराष्ट्र देश की रूप रेखा से हुआ है, तत्पश्चात शिवा जी का सम्पूर्ण जीवन चरित तथा उनके द्वारा जीते गए नगरों का इतिहास है। इन्होने सन् १६७६ मे रामगढ में शिवा जी का अभिषेक माना है। उनका सम्पूर्ण शासन आठ मुख्य प्रधानों के द्वारा ही चलता था, इसका उल्लेख है।[1]

दूसरा लेख है रामायण का समय। यह एक खोजपूर्ण लेख है। इसमें रामायण काल की पुरातत्व सम्बन्धी खोजों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण मे वर्णित यंत्रों और शस्त्रो की भी मीमासा की गई है। रामायण काल की चेतना कितनी थी अथवा उस काल मे भी सड़कें, और तीव्र चलने वाले रथ आदि मौजूद थे, इसका भी लेखक ने इस लेख में विवरण प्रस्तुत किया है। रामायण के प्रत्येक काण्ड में वर्णित यंत्र आदि का इन्होने विश्लेषण तो किया ही है, इसके अतिरिक्त उस काल में स्त्रियो की वीरता एवम् उनका शस्त्र चलाने की विद्या में निपुण होना, उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है।[2] स्त्री शिक्षा का तथा नारी-जागरण का संदेश देना ही भारतेन्दु का लक्ष्य रहा है। अतएव पुराने उद्धरणो को एकत्रित करके वे विद्वन्मण्डली को यह समझा देना चाहते थे कि नारियाँ भी आदि काल से वीरांगना रही हैं। समाज में उनको पूजा एवम् उन्हे प्राथमिकता दी जाती थी और आज के युग मे भी उन्होंने इसकी आवश्यकता का अनुभव किया है।

इनका अन्य उद्धरणीय लेख है 'अगरवालो की उत्पत्ति'। लेख का प्रारम्भ ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति का विवरण देने से हुई है, और इस उत्पत्ति का आधार

---

१. सन् १६७६ मे रामगढ में शिवाजी का विधिपूर्वक राज्याभिषेक हुआ और तब इसने अपने आठ मुख्य प्रधान रखे थे। पेशवापंत, अमात्य, पंतसचिव, मंत्री, सेनापति, सुमंत, न्यायाधीश और पण्डित रावा यही आठ पद उसने नियुक्त किए थे और अपने जीते हुए देशों का काम आका जी सोनदेव को अधिकार दे दिया।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली
(महाराष्ट्र देश का इतिहास)
सम्पा० ब्रजरत्नदास पृष्ठ १७२

२. जिस समय राजा दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ किया था उस समय का वर्णन है कि रानी कौशिल्या ने अपने हाथ से घोड़े को तलवार से काटा। इस बात से प्रगट होता है कि आगे की स्त्रियों को इतनी शिक्षा दी जाती थी कि वह शस्त्र विद्या में भी अति निपुणता रखती थी।

वही० पृष्ठ ३८०
'रामायण का समय'

..या गया है। ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख, क्षत्री की भुजा, वैश्य की जाँघ और शूद्र की चरण से मानी गई है। अगरवाल वंश में राजा वल्लभ तथा प्रतापी राजा अग्र की बात बताई गयी है। नागकन्या माधवी सब अगरवालों की जननी मानी गई है और सर्पों के कुल से अगरवालों का सम्बन्ध दिखाया गया है।

मध्य भाग में बड़े विस्तार पूर्वक अगरवालों का वासस्थान (बसने की जगह) के भी (१६ स्थानों के) नाम दिए गए हैं। आगरा और अगरोहा को राजा अग्रसेन के नाम से प्रसिद्ध माना है। इन्होने अपनी राजधानी में महालक्ष्मी का एक बड़ा मंदिर भी बनवाया था। कुछ अगरवालों ने कुछ समय पश्चात वेद धर्म को त्याग दिया था वेद धर्म न छोड़ने वालों में दिल्ली और आगरा के अगरवाल थे। इस वंश के राजा दिवाकर का नाम उल्लेखनीय है जिन्होने कि अपने वेद धर्म को छोड़कर जैन धर्म का अवलम्ब ग्रहण किया था[२] लेख के अंत मे अगरवालों का "संक्षिप्त इतिहास बताते हुए मुगलकाल के अंत तक लेखक आ गयी है। मुगल काल में इन लोगों को राज्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई। इस लेख का उद्देश्य अगरवालो की उत्पत्ति का क्रमिक विकास ही प्रस्तुत करना रहा है तथा बीच बीच में सनातन धर्म का सनातनी होना और बहुतायत से अङ्गीकार किए जाने की बात भी बतलाई गई है।

अगरवालो की उत्पत्ति की भाँति इन्होंने अपना एक अन्य लेख खत्रियो की उत्पत्ति शीर्षक लिखा है। इस लेख में खत्री वंश के विषय मे जो भी भ्रान्तियाँ है उनका विवरण दिया गया है। कुछ लोगो ने खत्री को खात राजपूत के वंश से माना है, कुछ ने इन्हें बढ़ई के वंश से माना है। अन्य स्थानों पर लेखक ने इनकी उत्पत्ति

---

१ एक समय नाग लोक से नागों का कुमुद नाम का राजा अपनी माधवी कन्या को लेकर भू लोक में आया और उस कन्या को देख कर खुद मोहित हो गया और नागराज से वह कन्या माँगी, पर नागराज ने इन्द्र को वह कन्या नही दी और उसका विवाह राजा अग्र से कर दिया। यही माधवी कन्या सब अगरवालो की जननी है और इसी नाते हम लोग सर्पों को मामा कहते हैं।

प्रकाशक : —भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग तीसरा

काशीनागरी प्रचारिणी सभा। अगरवालों की उत्पत्ति पृष्ठ ८

संकलनकर्ता :

बाबू ब्रजरत्नदास बी० ए० एल० एल० बी०

२ 'इस वंश में दिवाकर एक राजा हुआ जो वेद धर्म छोड़कर जैनी हो गए और उसने बहुत से लोगो को जैनी किया और उसी काल से अगरवालो में वेद धर्म छूटने लगा परन्तु अगरोहा और दिल्ली के अगरवालो ने अपना धर्म नही छोड़ा।

—वही—पृष्ठ १०

के विषय में अपनी स्वतन्त्र धारणा को भी व्यक्त किया है। उनके अनुसार पञ्जाब में 'क्ष' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग होता है, अतएव वहीं से 'क्षत्री' ही खत्री कहलाने लगे। कुछ लोगों ने खत्री को हयहय वंश (क्षत्रियों में) माना है। सहस्त्रार्जुन से और परशुराम से युद्ध ठनने पर परशुराम ने समस्त क्षत्रियों को मारने का बीड़ा उठाया था, तभी कुछ क्षत्री अपने को खत्री कह कर बच गये थे, सम्भवतः खत्री उसी का नामकरण है।

कुछ भी हो लेखक ने,अनुमान से कहीं-कहीं शुद्ध ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करके, खत्रियों की उत्पत्ति का कारण ढूँढा है। उक्त लेख की शैली तो बहुत ही साधारण है, तथा भाषा भी बोलचाल की ही खड़ी बोली है परन्तु अगरवालों की उत्पत्ति और खत्री की उत्पत्ति शीर्षक लेखों में जिज्ञासा प्रधान अधिक है। भारतेन्दु युग में जब कि लेखों का (गद्य का) विकास नहीं ही के बराबर था, इतनी (Rational-intellect) का होना इनके लेखों का अपना एक विशिष्ट गुण है। जाति अथवा उप-जाति की उत्पत्ति में इनका झुकना यही बताता है कि कृत्रिम इतिहास और अन्वेषणात्मक जाति की ओर लेखक की कितनी रुझान थी।

प्रगति की पृष्ठभूमि के रूप से इतिहास का महत्व छिपा रहा है, और इतिहास के अभाव में प्रगति का ठीक-ठीक रूप भी आंकना दुर्लभ सा रहता है। भारतेन्दु की जिज्ञासा की प्रगति इतिहास के खण्डहरों को पारकर तथा उन्हीं अवशेषों से एक नवीन गति ग्रहण कर आगे बढ़ी है। इसी के फलस्वरूप कुछ ऐतिहासिक लेखों का जैसे दिल्ली दरबार दर्पण, अकबर और औरंगजेब तथा बूँदी का राजवंश शीर्षक लेखों का निर्माण हुआ है।

बूँदी का राजवंश उनका अन्य उल्लेखनीय ऐतिहासिक निबन्ध है। इसमें राजवंश तथा कोटा की शाखा की वंशावली प्रस्तुत की गई है। इस वंश का मूल पुरुष अन्हल चौहान माना गया है। अन्हल शब्द की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए भारतेन्दु जी अन्हल के मूल रूप में अनल शब्द ही पाते हैं। अनल का अर्थ अग्नि के होता है, आबू पहाड़ के आस-पास के चार क्षत्री वंश[1] अग्नि से ही उत्पन्न किए गए माने जाते हैं।

---

१. भारतेन्दु जी ने पुराणों के आधार पर अग्नि कुल की उत्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार की है। "जब परशुराम जी के भोर क्षत्रिय कुल का नाश हो गया तब उन्होंने पृथ्वी की रक्षा के हेतु चिन्ता करके आबू पर्वत पर ऋषियों से इस विषय का परामर्श करके सब के साथ क्षीरसागर पर जाकर भगवान से स्तुति किया। आज्ञा हुई की चार कुल उत्पन्न करो फिर ऋषियों के साथ ब्रह्मा, रुद्र और इन्द्र आबू पहाड़ पर आये और वहाँ यज्ञ किया। इन्द्र ने पहले अपनी शक्ति से घास का पुतला बनाकर कुन्ड में डाला जिससे 'मार मार' कहते हुए माला लिए एक पुरुष निकला, जिसको ऋषियों ने प्रमार नाम देकर धार और

इस प्रकार बूंदी वंश की पूरी जानकारी ऐतिहासिक आधार पर लेखक के द्वारा प्रस्तुत की गई है। इतिहासकारों में लेखक प्रिंसिप, टाड तथा अंक गजेटि-को उद्धृत किया है।

ऐसे खोज पूर्ण लेख लिखने के पीछे भारतेन्दु की ऐतिहासिक चेतना का विकास होना ही मुख्य कारण है। भारत के राजवंशो तथा जातियों उप जातियो के सम्बन्ध मे अंग्रेज इतिहासकारों के अनेक मत है, कुछ मत तो जातीयता एवम् राष्ट्रीयता की भावना को भारतीयों के मस्तिष्क से कुचल देने के लिए ही जबर-जस्ती ले लिए गए हैं, भारतेन्दु ने अपने ऐतिहासिक लेखों मे इन्ही भ्रमों को दूर करने तथा उनका उन्मूलन करने के लिए ही ऐसा विषय इन सतर्क आधारो के साथ प्रतिपादित किया हैं। दूसरी कोटि में ऐतिहासिक निबन्ध आते हैं जिनमे अंग्रेजों के प्रति भारतीयों की कैसी धारणा थी अथवा भारतीयो के मस्तिष्क से कितनी परा-धीनता थी इसका उल्लेख किया गया है।

ऐतिहासिक निबन्धों की सूची में अन्य निबन्ध आता है 'उदय-पुरोदय'। इस लेख में प्राचीनता की झांकी दर्शनीय है। इतिहासकार टाड कृत 'राजस्थान' और 'फरिश्ता' नामक प्रजरी के आधार पर मेवाड़ के प्राचीन ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। इन्होंने राजस्थान मे मेवाड़ और जैसलमेर राज्य को सबसे प्राचीन माना है।[1] आठ सौ वर्ष की परतंत्रता के बाद भी यह राज्य जैसे का तैसा है, इसकी गुरुता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

उज्जैन का देश दिया। उसी प्रकार ब्रह्मा ने वेद और खड्ग लिए हुए एक पुरुष उत्पन्न किया एक चुलूक (चुल्लू) जल से जी उठने से इसका नाम चालुक्य हुआ और अन्दलपुर इसकी राजधानी हुई। रुद्र ने तीसरा क्षत्री गंगा जल से उत्पन्न किया, यह धनुष लिए काला और कुरूप था इससे इसका नाम परिहार रक्खे वनों और जंगलों की रक्षा इसको दी। अन्त में विष्णु ने चार भुजा का एक मनुष्य चतुर्भुज नामक उत्पन्न किया। इसकी राजधानी (अकवती) हुई। इन्हीं चार पुरुषों से क्रम से पवार, सोलंकी, परिहार और चौहान पैदा हुए।

बूंदी का राजवंश भारतेन्दु ग्रंथावली तीसरा खण्ड पृष्ठ २६५ से उद्धृत

१ राजस्थान में मेवाड़ और जैसलमेर का राज्य सबसे प्राचीन है। आठ सौ बरस से भारतवर्ष में विदेशियो का राज्य प्रारम्भ हुआ, तब से अनेक राज्य बिगड़े और बने पर यह ज्यो का त्यों है। गजनी के बादशाह लोग सिंधु नदी का गंभीर जल पार करके हिन्दुस्तान में आए। उस समय जहाँ मेवाड़ के राज्य का सिंहासन था वहीं अब भी है। बहुत से राजा लोग उस राज्य के चारो ओर, बहुत से वहाँ से और कहीं जा बसे, पर इनके महल अब भी वहीं खड़े हैं जहाँ पहिले खड़े थे सतयुग से आज तक इस वंश के सब पुरुष सिंहासन पर ही थे।

वही—उदय पुरोदय पृष्ठ २१४

इसके पश्चात इन्होंने लाहोर को लवपुर माना है। लवपुर से तात्पर्य ऐसा नगर जिसे रामचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र लव ने अपने राज्य समय में बसाया था। सुमित्रा-पुत्र नामक राजा भी इसी राज्य से सम्बन्धित हैं, वे लव से पचपन पीढ़ी पीछे हुए थे। लेखक ने इस सम्बन्ध में अनेक वंशावलियों का परिचय दिया है।

अन्त में बल्लभी पुर नगर के ध्वंस के कारण लिखे गए हैं, और उस नगर के ध्वंस में किसका हाथ था यह निश्चित नहीं हो पाया है। यह अवश्य बता दिया गया है कि इसको किसी 'असभ्य जाति ने नाश किया'। इसी दौरान में श्वेत वर्ण की एक हूण जाति का भी उल्लेख मिलता है। ये श्वेत वर्ण के हूण शासक के रूप में थे।

"उसी काल में श्वेतवर्ण की एक हूण जाति भी सिन्धु के किनारे राज्य करती थी। हूण जाति नामक प्राचीन असभ्य मनुष्यों का लेख पुराणों और यूरोप के इतिवृत्तों में भी पाया जाता है, संभावना होती है कि इन्हीं दो जातियों में से किसी ने बल्लभीपुर नष्ट किया होगा। पारद और हूण दो जातियों का आदि निवास शाक द्वीप है। महाभारत में शाक द्वीपी और पूर्वोक्त हूणादिकों को इसी प्रकार वर्णन लिखा है। पुराणों में इन सबों को एक प्रकार को अत्री लिखा है। ये सब असभ्य जाति किस काल में यहाँ आये इसका पता नहीं लगता।"[1]

ऐतिहासिक लेखों में अन्य उल्लेखनीय लेख है पुरावृत्त संग्रह। इस लेख में प्राचीन पुस्तकें तथा मुगलकालीन राजा महाराजाओं के जीवन वृत्त और उस राजा की नीति एवम् चरित्र का उल्लेख है। अकबर और औरङ्गजेब की बुद्धि एवम् दोनों में तारतम्य दिखाना ही लेखक का इष्ट है।

लेखक ने अकबर की सर्वप्रियता का उल्लेख किया है।[2] अकबर का चरित्र चित्रण करके उस समय के बृटिश शासकों का ध्यान इस ओर से आकर्षित करना

---

१. उदय पुरोदय—भारतेन्दु ग्रन्थावली—पृष्ठ २२२, २२३

२. आमेरोरा समुद्रावधि वसुमती यः प्रतापेन शास्त ।
दूरे गाः पाति भूस्योरपि करमुचतीर्थं वाणिज्य भृत्योः
अप्यश्रौषीत् पुराणं जयति, न विम कुशाम योगं विधत्ते ।
गङ्गाम्भो भिन्नमम्भो न च पिबति जयतेव जल्लालुद्दीन्द्रः
अङ्गवङ्ग, कलिङ्ग सिलिहट-तिपुरा-कामता-कामरूपा,
मान्ध कर्णाट लाट द्रविड़ मरहट द्वारिका चोल पाण्ड्याम्,
भोटान्नं मारवारोत्कल मलय खुरासान् कान्धार जाम्बू,
काशी-काश्मीर ढक्का बलख तबखशा-काबिलान्य प्रशास्ति ।।
कलियुगमहिमाऽपचीयमानम् तिमुर मिद्धि जधर्मरक्षणय ।
बुधजनगणस्य तप्रमेयं पुरुषमकब्बरशाह मावलोमि ।।
भारतेन्दु ग्रन्थावली से उद्धृत—पुरावृत्त संग्रह पृष्ठ ११८

चाहते थे कि २ भारतीय शासकों ने भारत को किस प्रकार अङ्गीकार किया, और भारतीय जन परम्परा को कोई भी ठेस नहीं लगने दी है। अकबर की प्रशंसा में लेखक ने अकबर के एक सेवक के पत्र का उल्लेख किया है। यद्यपि उक्तियों में कहीं-कहीं अतिश्योक्ति भी मिलती है फिर भी अकबर की नीति का वर्णन तो स्पष्ट हो ही जाता है। अकबर को उसकी प्रजा किस रूप में मानती थी, इसका प्रमाण है अकबर के एक सेवक का ही उल्लेख। श्लोक का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है—

"जो समुद्र से मेरु तक पृथ्वी को पालता है। जो मृत्यु से गऊओं की रक्षा करता है, जिसने तीर्थ और व्यापार के कर छुड़ा दिये हैं, जिसने पुराण सुना, जो सूर्य का नाम जपता है, जो योग धारण करता है और गंगाजल छोड़ कर और पानी नहीं पीता, उस जलालुद्दीन की जय। अभंग कलिंग, सिल्हट, त्रिपुरा, कामता, कामरूप, अंग, कर्णाटक, लाट, द्रविण, महाराष्ट्र, द्वारिका, चोल, पाण्डव, भोट, मारवाड़, उड़ीसा, मलय, खुरासान, कँदहार, जम्बू, काशी, ढाका, बलख बदलशाँ और काबुल को जो शासन करता है। कलयुग की महिमा से घटते हुए वेद, गऊ, द्विज और धर्म की रक्षा को सगुण शरीर जिसने धारण किया है। उस अप्रमेय पुरुष अकबर शाह को हम नमस्कार करते हैं।" इन पंक्तियों से अकबरशाह का अभिवादन किया गया है। अकबर की विजय के दो ऐतिहासिक प्रमाण हैं, तीर्थ और व्यापार का कर

पुरावृत-संग्रह का अन्तिम भाग दान-पत्रों और स्थान विशेष की महत्ता से ही भरा हुआ है। दान पत्रों में कन्नौज के राजा का दान पत्र,[1] अशोक का दान-पत्र,[2] राजा जनमेजय का दानपत्र[3] और मंगलीश्वर का दानपत्र[4] का उल्लेख किया है।

इन दानपत्रों की ऐतिहासिक महत्ता दिखलाते हुए भारतेन्दु ने काशी एवम् अन्य स्थानों के प्रसिद्ध स्थानों वर्णन किया है। मणिकर्णिका के नाम ने लेखक के

---

१. कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र ने उन्हीं के अन्यतर दानपत्र की प्रति है। लेखक ने उनके दान की महिमा गाई है।

२. महाबोधि मन्दिर के समीप एक पत्थर के टुकड़े पर लिपिडब्ल्यू हार्योन के पायी था, लेखक ने अन्य दान पत्रों के साथ उस दान पत्र का भी उल्लेख लिपि को देकर किया है। द्रष्टव्य भा. ग्रन्थावली पृ. १२१

३. यह दानपत्र युधिष्ठिर के संम्वत १११ का माना गया है। कर्नल एलिस के विचार में यह उस जन्मेजय का नहीं है विजयनगर के राजाओं में से किसी का है।

४. मंगलीश्वर का दान पत्र कलादगी जिले में बदामों में हिन्दूमत की बड़ी गुहाओं के पास खुदा है। मंगलीश्वर कीर्तिवर्मा का भाई पुलकेशी का पुत्र था। इसका राज्य शाक ४७७ माना गया है।

मस्तिष्क में जीवन की असारता का उदय किया है। काशी नामक विवरण में काशी की महत्ता है। काशी के तीन भागों का वर्णन है।[१] इस नगरी में शिव की मूर्तियों के भी उपलब्ध प्रकार भी बताये गए हैं। इस प्रकार से काशी का सांस्कृतिक एवम् ऐतिहासिक विश्लेषण है। काशी की प्राचीनता एवम् गौरव लेखक सहज ही में आकर्षित कर पाया है।

चरितावली

जैसा नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें चरित्रों का सङ्कलन है। चरित्र से तात्पर्य किसी विशेष भारतीय अथवा अभारतीय राजाओं एवम् महापुरुषों से नही है, भारतीय हो अथवा अभारतीय, राजा हो अथवा धर्म प्रचारक एवम् प्रवर्त्तक सभी महान् व्यक्तियों की उपासना की गई है। इसका आधार केवल चरित्र और वीरता की पूजा ही है, चरित्र और वीरता लेखक-की जब भी, जिस किसी में भी मिली है, उसकी प्रतिष्ठा ही ध्येय रहा है। इस प्रकार से विक्रम, कालिदास, रामानुजाचार्य, शङ्कराचार्य, जयदेव, पुष्पदत्ताचार्य वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नैपोलियन तृतीय, जंग बहादुर, द्वारिकानाथ मिश्र, (जहुन) राजाराम शास्त्री, लार्ड मायो, लार्ड लारेंस, महाराजाधिराज जार, की चरित विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

पुस्तक के अन्तिम भाग मे कुण्डलियाँ भी दी गई हैं। पहिली कुण्डली Francis I King of France की है, दूसरी Charls V Emperor of Germany की, तीसरी Napolean III Emperor of France, Fedrick Willian V Emperor of Germany, महाराज मल्हार राव, टीपू सुल्तान,सिकन्दर एवम् रावण की जन्म कुण्डली एकत्रित कर संग्रहीत है।

चरितावली का पहिला चरित्र है विक्रम का। इसका आधार जनश्रुतियों पर न हो करके शुद्ध ऐतिहासिक है। बहिसाक्ष्य मे बुहलर साहब का विक्रमांक चरित नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय लेखक ने बुहलर को ही दिया है। यह ग्रन्थ विलह्ण कवि द्वारा रचित है।

कालिदास का जीवन चरित भी लेखक ने दिया है। कालिदास नाम के कई कवि हुए हैं, मुख्य गिने जाते हैं केवल दो ही। एक तो जो राजा विक्रमादित्य के नौरत्नों में से थे दूसरो जो राजाभोज के समय में हुए हैं। पहिले कालिदास ही सर्वश्रेष्ठ समझे गए हैं। इनके द्वारा ही रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, ऋतुसंहार नामक काव्य-ग्रन्थ रचे गए हैं। इस विवरण में संक्षेप मे कालिदास की जीवनी तो है ही इसके अतिरिक्त कालिदास के कालक्रम को भी निश्चित किया गया है।

---

१. मैं इस कार्य के तीन भाग का वर्णन करूँगा यथा प्रथम भाग मे पाँचकोश का दूसरे में गोसाइयों के काल का, तीसरे कुछ अन्य स्फुट वर्णन। आदि

वही, काशी पृ० १३९

इस प्रकार से इस लेख में प्रतिभाशील व्यक्तियों में, प्रतिभा की स्थापना और उस प्रतिभा को किस प्रकार से विकसित करने के लिए आपत्ति एवं विरोधों का सामना करने पर भी सफलता प्राप्त होती है, इसी का उल्लेख है।

दिल्ली दरबार दर्पण

यह भी एक ऐतिहासिक लेख है। इस लेख के विश्लेषण के लिए हम इसे तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहिला भाग दरबार का वर्णन, दूसरा वाइसराय का व्याख्यान एवम् कृतज्ञता प्रकाशन और तृतीय भाग के अन्तर्गत राजाओं नवाबों को जो उपाधियाँ एवम् सलामियाँ बख्शी गई उसका सम्यक वर्णन।

निबन्ध का प्रारम्भ दरबार के वर्णन से होता है। दरबार के वर्णन के बीच लेखक ने भारत की वास्तविक स्थिति एवम् मानसिक गुलामी का चित्रण किया है। इन लेखों के मध्य में यह स्पष्ट होता चलता है कि देशी (भारत के) राजे रजवाड़े लोग केवल शारीरिक परतन्त्रता के योग्य नहीं थे वरन् उनमें से मानसिक स्वतन्त्रता का बिल्कुल ह्रास हो गया था, शासक के प्रति अपने सहज कर्तव्यों को तो वे अदा कर, अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण समर्पण भी इन्होंने कर दिया था। भारत के परतन्त्रता की यह बुनियाद इसीलिए ठोस रही। लेखक ने छोटे राजाओं के बातचीत के ढंग का भी ढाँचा प्रस्तुत किया है। 'नवाब लुहारू की भी बातचीत सुन करके ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्हें हँसी न आई हो। नवाब साहब बोलते तो बड़े धड़ाके से थे पर उसी के साथ कायदे और मुहावरे के भी खूब हाथ पाँव तोड़ते थे। इनके वाक्य कुछ ऐसे थे जिनके कुछ अर्थ भी नहीं हो सकते, पर नवाब साहब को अपनी अंग्रेजी का कुछ ऐसा विश्वास था कि अपने मुँह से केवल अपने को ही नहीं वरन् अपने दोनों लड़कों को भी अंग्रेजी, अरबी, ज्योतिष, गणित आदि ईश्वर जाने कितनी विद्याओं का पांडित्य बखान गए।[१]" ऐसे उदाहरणों को देने के पीछे लेखक का एक मात्र उद्देश्य है भारत के नवाबों की मनोवृत्ति एवम् मानसिक स्तर का द्योतन कराना। उस स्थिति में जितना भी खुला वर्णन कर सके हैं भारतेन्दु की यथार्थवादी मनोवृत्ति ने उतना ही खुला वर्णन करने की चेष्टा की है। लेखक भारतीय नवाबों एवम् राजाओं की देशद्रोही वृत्तियों को दिखलाने में सफल रहा है।

हिन्दी में ऐसी (डायरी के रूप में अथवा इन्टरव्यू के रूप में) लिखने की शैली प्रचलित नहीं थी, भारतेन्दु ने इस शैली को अपना कर एक नवीन प्रेरणा हमारे समक्ष रखा है। मनोवृत्तियों का दिग्दर्शन इस शैली के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकता है। बीच-बीच में लेखक का व्यंग्य भी निखर आया है जैसे राजाओं और वायसराय मिलन का वर्णन, इस मिलन में लेखक ने राजाओं की प्रशस्ति के साथ ही साथ उनके unmanneid की ओर भी व्यंग किया है।

---

१. दिल्ली दरबार दर्पण वही पृष्ठ १८५

'कोई तो दूर से ही हाथ जोड़ आए और दो एक ऐसे थे जबकि एडिकांग के वदन झुकाकर इशारा करने पर भी उन्होने सलाम न किया तो एडिकांग ने पीठ पकड़ कर उन्हे धीरे से झुका दिया। और भी कोई बैठ कर उठना जानते ही न थे, यहाँ तक एडिकांग को 'उठो' कहना पड़ता था।' ऐसे वर्णन हिन्दी गद्य के लिए नवीन थे; ये वर्णन प्रायः अंग्रेजी साहित्य के डायरी नोटिंग के रूप मे आते है। भारतेन्दु ने ऐसे वर्णनो द्वारा एक नई शैली का प्रतिपादन किया। ऐसी शैली में लेखक अपनी भाषा की तीव्रता के साथ ही सब कुछ कह देता है, उसके वाक्यो की टुकड़ियों की व्याख्या की आवश्यकता रहती है। जैसे ऊपर के उदाहरण मे एडिकाग का 'उठो' कहना, उठो, एक शब्द ही में कितना व्यंग, भारतीय नवाबों की ह्रासोन्मोमुख प्रवृत्तियों एवम् उनके मानसिक जागरण का संकेत हो जाता है।

लेख का दूसरा भाग है व्याख्यान। व्याख्यान के अन्तर्गत देश की वास्तविक स्थिति का तो उतना स्पष्टीकरण नही होता जितना कि बृटिश नेता हमारे देश के लिए क्या सोचते थे, इसका प्रकाशन हो जाता है। व्याख्यान के बीच भी वाइसराय के सलाम करने के ढंग पर लेखक की तीव्र दृष्टि गई है उन्ही के शब्दो मे—

"श्री युत न बड़े ही आदर के साथ दोनों हाथों से हिन्दुस्तानी रीति पर कई बार सलाम करके सबसे बैठ जाने का इशारा किया। यह काम श्री युत का, जिससे हडबार्ड मे की डाली दूनी हो गई, पायोनियर सरीखे अंग्रेजी समाचार पत्रों के सम्पादकों को बहुत बुरा लगा जिनकी समझ में वाइसराय का हिन्दुस्तानी तरह से सलाम करना बडी हेठाई और लज्जा की बात थी।" अन्तिम वाक्य में भारतेन्दु की भारतीय संस्कृति के लिए भक्ति निखर पड़ी है। यह उनकी राष्ट्रीयता का चिन्ह था, जो कि इने गिने लेखको मे उस समय पाया जाता था। भारतेन्दु का चेतनशील मस्तिष्क इस ओर बड़ा ही सजग रहा है।

पञ्च पवित्रात्मा

पञ्च पवित्रात्मा मुसलमानी मत के पाँच प्रवर्तको की सक्षिप्त जीवनी के रूप में है। महात्मा मुहम्मद, आदरणीय अली, बीबी फातिमा, इमाम हसन और इमाम हुसैन की जीवनी संग्रह है। इस लेख को हम उतना ऐतिहासिक रूप न देकर धार्मिक रूप ही देंगे। धार्मिक इस (अर्थ) में कि कही-कही कुछ ऐसे प्रसंगों का प्रतिपादन लेखक ने किया है जो ऐतिहासिक प्रतीत न होकर विश्वास पर ही आधारित अधिक लगता है। जीवनी के मध्य में ही ऐसे प्रसग भी आ गए हैं जहाँ बीबी फातिमा को अच्छे-अच्छे वस्त्र सहसा प्राप्त हो गए है, यद्यपि वह एक विवाह में आमंत्रित हैं और वहाँ जाने के लिए मुहम्मद की आज्ञा भी उन्हें मिल गई है परन्तु वस्त्रों के अभाव में वहाँ जाने में ही उन्हें संकोच है, फिर भी महात्मा मुहम्मद की आज्ञा के कारण बीबी जी अपने फटे पुराने वस्त्रों में ही जाने लगी, 'ईश्वर

के अनुग्रह से उनके मन पर दिव्य   सज्जित हो गए   ऐसा उदाहरण ऐतिहासिक न होकर धार्मिक ही कहा जा सकता है।[1]

जीवनी का कुछ अंश प्रारम्भ में है। महात्मा मुहम्मद का बचपन का जीवन और अरब के जीवन की कुछ झाँकी इस लेख में देखने को मिलती है। लेखक का अभिप्राय केवल जीवनी देना ही नही है वरन् अरब का वातावरण और कुछ आदर्श-मूलक बातें बताने का भी। बाहरी तड़क-भड़क शृंगार और दिखावा पर मुहम्मद का विश्वास नही था, उन्ही के मत का प्रतिपादन करते हुए लेखक अपना भी स्वीकृत सूचक संकेत दे देता है। भारत के अतिरिक्त अन्य राष्ट्र एवं अन्य सस्कृति के उपासक महापुरुषों का जीवन चरित और उद्देश्य देना भारतेन्दु का पहिला प्रगतिशील प्रयास था। अन्त मे उनके ऐतिहासिक लेखों की आवश्यकता के विषय मे यही कहा जा सकता है कि लेखो के पीछे एक तो राष्ट्रीय जागृति का उद्देश्य था, और चरितावली प्रस्तुत करके लेखक अपने महापुरुषो के तथा अन्य राष्ट्र के महापुरुषो के ज्वलन्त चरित्रों की झाँकी प्रस्तुत करते हुए उनका आदर्श अपने वर्तमान साथियो के समक्ष रखना उचित समझता था। रामानुजाचार्य, शंकराचार्य, अकबर और औरगजेब, सुकरात आदि ऐसे व्यक्तित्व हैं जिनके उल्लेख से सामूहिक चेतना जगाना ही, इस प्रकार से व्यक्तित्व का निर्माण करना ही लेखक को इष्ट था।

दूसरे, लेखक अपने इतिहास को पुन. माँज करके, संवार संभार करके भारतवासियों के समक्ष उसके वास्तविक रूप को देना चाहता था। सामाजिक जागृति लाने के लिए इतिहास से परिचय कराना परमावश्यक हो जाता है। चेतना की शृङ्खला अपने अतीत के बलिदान एवम् आहुतियों से अनुप्रणित होकर ही आगे बढती है। भारतेन्दु ने अतीत के गह्वर में प्रवेश करके वर्तमान को उसी रूप में गढने की व्यापक प्रेरणा दी। इस दृष्टि से भारतेन्दु के साहित्य में प्रगति के लक्षण हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

धार्मिक निबन्ध

भारतेन्दु ग्रन्थावली के निबन्धों की सूची के अनुसार निबन्धों की दूसरी कोटि धार्मिक निबन्धो की है। भारतेन्दु ने धार्मिक शब्द को संकीर्ण नहीं रखा है, भारतेन्दु की सामाजिक एवम् धार्मिक परिस्थिति के सदर्भ मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि धर्म के सम्बन्ध मे कितनी भ्रान्तियाँ चल रही थी, ब्रह्मसमाज एवम्

---

१. महात्मा मुहम्मद ने उत्तर दिया कि बेटी तुम किंचित मात्र भी सोच मत करो। हमारे पास उत्तम वस्त्राभरण और धन तो निस्सदेह कुछ भी नहीं है परन्तु निश्चय रखो कि जो आज तक पीले वस्त्र पहन कर अलंकार के उद्यान में फूली फूली दिखलाई पड़ती है वे अपने कुकर्मों से कल तृण से भी तुच्छ होकर नर्क की अग्नि में जलेंगी।

—वही पन्न   पृष्ठ २९०

आर्यसमाज का उदय हो रहा था, सनातनधर्म को उस समय के समाज ने बड़े ही रूढ़िगत धर्म पद्धति के रूप में देखा था। इन सभी भावनाओं की प्रतिक्रिया इनके लेखों में मिलती है। इस परिस्थिति में कुछ निबन्ध तो ऐसे प्राप्त हैं जिनमे कि धर्म का वास्तविक अर्थ स्पष्ट किया गया है और उनका रूप बताया गया है इसके अतिरिक्त कुछ व्याख्यात्मक निबन्ध हैं, वैष्णव धर्म को अथवा उसके अन्तर्गत संस्कारो की व्याख्या की गई है।

तदीय सर्वस्व (उपक्रम) में धर्म के वास्तविक रूप की विवेचना की गई है। उस समय के प्रचलित 'ब्रह्महत्या' एवम् 'पाप'[1] के सम्बन्ध मे इस लेख के प्रारम्भ में ही प्रकाश डाला गया है। भारतेन्दु के अन्दर एक सांस्कृतिक संस्कार की भावना प्रबल दृष्टिगत होती है। सांस्कृतिक संस्कार से तात्पर्य धर्म की निष्ठा के उस आन्तरिक स्वरूप से है जिसके द्वारा हर धर्म का सामूहिक औचित्य एवम् अनौचित्य समझ पाते हैं। कोई भी विचार चलते चलते रूढ़िगत हो जाते है, उन मौलिक विचारों की छाया में सामाजिक प्रतिछाया का भी योग होने लगता है, जहाँ मौलिक सिद्धान्तों में सामाजिकों का अपना दृष्टिकोण एवं सिद्धान्त जुड़ना प्रारम्भ हुआ वहीं वह धर्म-दर्शन रूढ़िगत हो जाता है। सांस्कृतिक चेतना उसी बाह्य आडम्बरों की छाया को दूर करती चलती है उस समय के धर्म का वास्तविक रूप[2] तो बड़ा ही संकीर्ण हो गया था। छुआछूत एवं, ब्राह्मण अब्राह्मण की भावना समाज को पंगु कर रही थी। भारतेन्दु ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से अपना मत प्रकट किया है। कबीर या अन्य सुधारवादियों की भाँति धर्म के मूल तत्वों पर उन्होने विचार किया है, भक्ति का सर्वस्व उन्होंने प्रेम को माना है और परमेश्वर को पाने का पथ भी यही है। 'निश्चय रखें कि परमेश्वर के पाने का पथ केवल प्रेम है और बात

---

१. छोटी-छोटी बातो में ब्रह्महत्या का पाप। तुच्छ तुच्छ बातों में बड़े-बड़े यज्ञो का पुण्य, ब्रह्म ब्रह्म का ज्ञान और मूलधर्म छोड़ कर उपधर्मों में आग्रह ने भारतवर्ष से वास्तविक धर्मों का लोप कर दिया।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली तीसरा भाग

सम्पा० ब्रजरत्नदास ना०प्र० सभा काशी, तदीय सर्वस्व

(उपक्रम, पृ० ५८३)

२. धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे गले सड़े सूत की चिउंटी की दशा हमारे धर्म की हो गई है। हाय!!

—वही

चाहे धर्म की हो या लोक की, दोनों वैसी ही हैं। बिना शुद्ध प्रेम न लोक है न परलोक। जिस संसार में परमेश्वर ने उत्पन्न किया है, जिस जाति या कुटुम्ब से तुम्हारा सम्बन्ध है और जिस देश में तुम हो, उसे सहज सरल प्रेम करो, अपने परम पिता परम गुरु परम पूज्य परमात्मा प्रियतम को प्रेम में ढूँढो। बस और कोई साधन नहीं है। अन्य भक्तिकालीन कवियों की तरह भारतेन्दु ने भी 'रामहि केवल प्रेम पियारा जान लेहु जो जाननिहारा' की ध्वनि में अपनी स्वीकृत दे दी है।

धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार वे पूर्ण रूप से चाहते थे। जनसाधारण में आने के लिए जन-भाषा का स्वरूप भी अंगीकार करना आवश्यक हो जाता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है।[१] जब तक धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार प्रचलित भाषा में न होगा तब तक वर्ग की विशिष्ट चेतना उन सिद्धान्तों को तो ग्रहण कर लेगी परन्तु जन-चेतना उसको ग्रहण करने में समर्थ न होगी, अतएव आवश्यक हो जाता है कि धर्म को सुलभ करने के लिए उसके सिद्धान्तों का प्रचार जन-भाषा में किया जाय। 'धर्म तत्व के मूल ग्रन्थों का प्रचार भाषा में नहीं है' यहाँ भाषा शब्द का तात्पर्य जन-साधारण की भाषा है। भारतेन्दु ने जन-भाषा पर ही जोर अधिक दिया है। धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार भी तभी बहुतायत से हो पायेगा, जब उसका वास्तविक स्वरूप जन-समूह के बीच बिखर जाय, उसकी महत्ता को समाज पहिचान करके अंगीकार कर ले।

'तदीय सर्वस्व' शीर्षक लेख भारतेन्दु की परिमार्जन एवम् जन-चेतना जागरण की प्रवृत्ति का द्योतक है। भक्ति और धर्म के क्षेत्र में संघर्ष तो चल ही रहा था, भक्ति को अपने अपने रूप में देखे जाने का प्रयास हो रहा था, लेखक ने श्री नारद कृत भक्ति का वृहत भाष्य प्रस्तुत करके हिन्दी भाषी लोगों के समक्ष भक्ति का वास्तविक रूप रखना चाहा है। उनकी इच्छा केवल एक विशिष्ट धर्मावलम्बी को ही संदेश देने की न थी, उनको तो समस्त मानवता की चेतना को व्याप्त करना था। अपने उपक्रम में ही इन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि ग्रन्थ वैष्णवों की शैली पर लिखा गया है परमेश्वर के सभी भक्तों को संदेश देना उनका इष्ट था।[२]

---

१. हम आर्य लोगों में धर्म तत्व के मूल ग्रन्थों का भाषा में प्रचार नहीं। यही कारण है कि भिन्नता स्थान-स्थान फैली हुई है।

—उपक्रम (तदीय सर्वस्व)

पृष्ठ ५८३

२ इसमें मुक्त कण्ठ से कहा गया है कि केवल प्रेम परमेश्वर का दिव्य मार्ग है। यद्यपि यह ग्रन्थ वैष्णवों की शैली पर लिखा गया है किन्तु परमेश्वर के भक्त मात्र के हेतु यह उद्योग है। क्रिस्तान आदि विदेशी धर्म प्रेमी

अनुवाद करने की भावना के पीछे ही उनका उद्देश्य या धर्म के वास्तविक उद्देश्यो के प्रचार का इस प्रकार से लेखक के दृष्टिकोण को हम एक रूपक प्रयोग के रूप में मानते है, जिसके द्वारा सामूहिक जनता मे एक जागरण हो सके । ईश्वर की भावना और उसके प्रति विश्वास तो जनता मे, चाहे वह किसी भी जाति की हो अथवा ईश्वर के किसी भी रूप को पूजती हो, एक उन्नति का और Self realisation का मार्ग प्रस्तुत करता चलता हे । भारतेन्दु इसी के सहधर्मी रहे हैं । इसीलिये 'तदीय सर्वस्व' के उपक्रम मे उन्होने भक्ति की इस व्याख्या को तथा ईश्वर के इस रूप को किसी एक विशेष सम्प्रदाय का दृष्टिकोण न मान करके सभी सम्प्रदायों का माना है । भक्ति तो एक व्यापक शब्द है और उसका रूप भी व्यापक है, कोई भी धर्मावलम्बी, कोई धर्म का मानने वाला उसे अपने ही धार्मिक स्वरूप मे न पूज करके एक व्यापक प्रेरणात्मक रूप मे अङ्गीकार करता है। अतएव लेखक की यह कामना कि 'विष्णु' को शिव का रूप, ब्रह्म का रूप अथवा गुरू का रूप दिया जा सकता है, एक Universal God की भावना ही का संदेशवाहक है । परमात्म सत्ता के प्रति यह विचार सभी संगठनो और धार्मिक सम्प्रदायो को एकता के सूत्र मे गूथ देता है ।

वैष्णवता और भारतवर्ष

दूसरा धार्मिक उल्लेखनीय निबन्ध है 'वैष्णवता और भारतवर्ष' । वैष्णव धर्म की वैज्ञानिक मीमासा करते हुए लेखक ने इसी धर्म को भारत का आदि धर्म माना है और सभी सम्प्रदायो को इसके आधीन माना गया है । विष्णु का रूप सर्वव्यापक है और सभी देवताओ के रूपों में भी इस रूप की छाया लेखक को दृष्टिगोचर होती है । वही धर्म दीन हो करके नाना मतमतान्तरो मे बँट गया है। धार्मिक पतन की बात लेखक ने इस लेख में स्पष्ट किया है । इसके अतिरिक्त लेखक

जन समझे कि कृष्ण उनके निर्गुण परमेश्वर का नाम है, वैष्णव की तो कुछ बात ही नही, शैव कहे कि विष्णु शिव का ही नामान्तर है, ब्रह्म समझे कि हरि ब्रह्म ही को कहते हैं, उपासना और आर्य समाज इसे अपना ही तत्व मानें, सिक्ख इसमें गुरू का पथ देखें और ऐसे ही भक्ति मार्ग का वे मात्र सब लोग इसको अपनी निज सम्पत्ति समझें । इसमें कोरे कर्ममार्गी व बहुभक्त वा स्वयं ब्रह्म लोग यदि मुझको गाली भी देंगे तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा ।

वही—उपक्रम
पृष्ठ ५८४

मे सामाजिक दुरव्यावस्था अग्रजी पराधीनता और उससे उत्पन्न भावनाओं का चित्रण किया है। इस लेख के द्वारा लेखक ने सामाजिक चेतना को जागृत करने की चेष्टा की है। कही कहीं उनके अपने व्यंग बड़े ही मार्मिक हो गए हैं। सुधारवादी दृष्टिकोण को उन्होने सर्वथा अपनाया है। सिविल सर्विस मे भाग लेना, विलायत की यात्रा, तथा स्त्री शिक्षा पर मुख्य रूप से प्रकाश डाला गया है। हिन्दुओं ने धर्म की आंड़ मे इन सभी शिक्षाओं तथा समुद्र पर्यटन को अधार्मिक घोषित कर दिया था, उस युग में ये सभी बातें धर्माचरण के विरुद्ध मानी जाती थी, युग की आवश्यकता को देखते हुये यह आवश्यक था इन सभी रूढिग्रस्त बातों को समाप्त किया जाय। भारतेन्दु ने इन सभी की ओर सङ्केत किया है।[1] एकता की ओर भी उन्होंने जोर दिया है, धार्मिक झगड़ो के कारण सभी भारतीय पृथक हुये जा रहे थे और वे सामूहिक शक्ति एकत्रित नहीं कर पाते थे इसका स्पष्ट आभास उन्हे हुआ था। इन ऐतिहासिक कमजोरियो की ओर उन्होंने हिन्दू जनता का ध्यान आकर्षित कराया है।[2] यह लेखक की रूपक मनोवृत्ति है और साहित्य के क्षेत्र में भी व्यापक

---

१. जिस भाव से हिन्दू मत अब चलता है, उस भाव से आगे नहीं चलेगा। हम लोगो के शरीर का बल अब न्यून हो गया है। विदेशी शिक्षाओं से मनोबृत्ति अब बदल गई है, जीविका और धनोपार्जन के हेतु अब हम लोगों को पाँच पाँच छ. छः रहर पसीना चुवाना पड़ेगा, रेल पर इधर से उधर कलकत्ते से लाहोर और बम्बई से शिमला दौड़ना पड़ेगा, सिविल सर्विस का, बैरिस्टरी का, इन्जीनियरी का इम्तहान देने विलायत जाना होगा, बिना यह सब किए काम नहीं चलेगा, क्योकि देखिए कृस्तान, मुसलमान, फारसी यही हाकिम हुए जाते हैं, हम लोगों की दशा दिन दिन दीन हुई जाती है।

वही—वैष्णवता और भारतवर्ष

२. वैष्णव, शैव, ब्राह्म, आर्य समाजी सब अलग अलग पतली पतली डोरी हो रहे हैं। इसी से ऐश्वर्य रूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बंधता। इन सब डोरों को एक में बाँध कर एक मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी, दिग् दिगंत भागने से रुकेगा। अर्थात् अब वह काल नहीं है जब हम लोग भिन्न भिन्न अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाया करें अब महाघोर काल उपस्थित है।

—वही. पृष्ठ ८०१

चेतना का बीजांकुर भारतेन्दु ने ही किया है। लेखक की प्रगति का यह उल्लेखनीय चरण है।

जातिगत और धर्मगत विषमताओं से बहुत ऊपर लेखक ने राष्ट्रीय एकता का संदेश दिया है। इतिहास के पृष्ठ हमें बताते है कि हमारी अवनति का मुख्य कारण हमारी आपस की फूट है, इसी फूट को दूर करने के लिए लेखक प्रयत्नशील रहा है। चाहे आन्तरिक भावनाएँ अलग-अलग हो, पर बाह्य कलेवर भारतीय का एक सा ही होना आवश्यक था। इसीलिए आर्य समाजी अथवा ब्रह्म समाजी कोई भी हों सभी को एकता के सूत्र में बाँधना तो उनका इष्ट था।

लेखक का बाह्य कलेवर तो सरल भाषा का ही द्योतन करता है परन्तु ऐसे लेखों का प्रारम्भ भारतेन्दु ने ही किया। सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय हित का ध्यान अब तक के साहित्यकों का उद्देश्य नहीं हुआ करता था, इन्होंने धर्म के मामले को ले करके, सामाजिक समस्याओं को ले करके तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों का भी विस्तृत उल्लेख किया है। वैष्णवता और भारत वर्ष जैसा कि इस लेख से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु ने शुद्ध वैष्णवता का प्रतिपादन तो अवश्य किया है परन्तु किसी भी धर्म अथवा किसी भी जाति के ऊपर इनका हस्तक्षेप नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक का सन्देश और दृष्टिकोण अनेकांश मे हिन्दू की हित भावना का सम्पादन कर रहा है परन्तु इसके मध्य मे यह भी उनकी प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है कि उन्होंने धर्म के सूत्र मे केवल हिन्दू ही नहीं, अथवा भारतीय ही नहीं, समस्त मानवता को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा की है। उनके भक्ति की व्याख्या और धर्म का विश्लेषण एक विशिष्ट मतावलम्बियो के लिए नहीं है। समस्त मानव जाति के लिए है। उन्होंने मुसलमानों को भी सबके साथ मिलकर और देशहित करने का संकेत दिया है। प्रगति की अपनी सीमायें होती हैं उस युग की चेतना में भारतेन्दु का यह विचार बहुत ही प्रगतिशील हैं। हिन्दू मुसलमान की एकता का स्वर तथा दोनों संस्कृतियों को अभिन्न न बताने का ढंग, इनका अलग था यद्यपि स्वभाव से लेखक वैष्णव है, शुद्ध वैष्णव, परन्तु तार्किक होने के नाते वह कहीं भी राष्ट्रीय भावना से च्युत नहीं दिखलाई पड़ते। 'वैष्णव और भारतवर्ष' शीर्षक लेख इस दृष्टि से एक नया प्रयास है। धर्म की स्वस्थ मनोभूमि पर सम्पूर्ण मानवता को बाँध लेने का प्रयास सर्वथा अभिनन्दनीय है।

भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है

यह एक व्याख्यान है जो कि ददरी के मेले के समय एक नाटक के पूर्व आर्य देशोपकारिणी सभा के तत्वावधान मे दिया गया था। इसका प्रकाशन भी नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में तीन दिसम्बर १८८५ मे हो चुका था। व्याख्यान को दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं, पहले भाग में भारत की उन्नति के उपाय सुझाये गये हैं और दूसरे के अन्तर्गत कुछ तीखे व्यंग भी आते हैं जो कि भारतीय राजा महाराजाओ के तथा यहाँ के अधिकारी वर्ग पर किए गए हैं।

भारत की सारी उन्नति का कार्य भारत के राजे और ब्राह्मणों पर ही भारतेन्दु ने छोड़ा हुआ माना है। आर्यों के समय का उदाहरण देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि वह समय भी ऐसा था जब भारत के ब्राह्मण और राजाओं ने भारत मे नाना प्रकार की नीति और विद्याओं को बढ़ाया था, वही कार्य (उस समय भी) ब्राह्मण और राजाओं के द्वारा सम्पूर्ण कराने का विचार प्रकट किया गया है। भारतेन्दु जी ने अतीत को घातक बताया है, और तब जबकि कोई यंत्रो का इतना वैज्ञानिक और तारतम्यतापूर्वक विकास नही हुआ था उस समय भी ब्राह्मणो तथा ऋषियो ने ताराओ की गतिविधि एवम् कालच्छेद को पहिचाना, भविष्य वाणियाँ की जो कि कालान्तर में जाकर सत्य निकली तो उस समय जबकि अपेक्षाकृत भौतिक विज्ञान काफी उन्नति पर है तब भी ब्राह्मणों और राजाओं ने अपने कर्त्तव्य को नहीं पहिचाना है।

दूसरी समस्या जिससे आज भी निराकरण हो जाता है वह है मेहनत मजदूरी करके पेट पालने वालों का शिक्षा ग्रहण करना। आज भी वही प्रश्न हमारे समक्ष है मजदूरी करने वाला वर्ग जो अपने बच्चो तथा औरत के साथ मजदूरी करता है और उसे जीविकोपार्जन के लिए यह अवश्यक भी हो जाता है, उनके लिए शिक्षा जीविकोपार्जन को नष्ट करके लेना, आर्थिक हानि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, इस विधि की शिक्षा ग्रहण करने से अच्छा उनका जीवनोपार्जन करना ही है। भारतेन्दु ने इग्लैंड और पाश्चात्य देशों का उदाहरण दे करके यह सिद्ध कर दिया है कि यहाँ सबसे बड़ी बात हैं उत्साह का मन्द पड़ना, और शोध-प्रवृत्ति का न होना हैं।[1]

---

१. इग्लैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा दूसरे हाथ से अपनी उन्नति की राह के कॉटों को साफ किया गया इग्लैंड मे किसान, खेतवाले, गाड़ीवान, मजदूर, कोचवान आदि नही हैं। किसी देश के भी सभी पेट भरे हुए नहीं होते। किन्तु वे लोग जहाँ खेत जोतते बोते थे वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी और कौन नई कल या मसाला बनावें जिससे इस खेती मे आगे से दूना अन्न उपजे।

पृष्ठ ८९७ भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो ?

लेख के मध्य भाग मे धार्मिक मत मतान्तरो की चर्चा की गई है। धार्मिकता की आड़ मे तथा अपने सुख की आड़ मे लोग अपने हित की पूर्ति कर रहे है वास्तविकता इस बात की है और इस ओर भारतेन्दु ने संकेत भी किया है कि धन और मान का बलिदान करके देश के हित का कार्य करना चाहिए। आपसी मत भेद की ओर इन्होंने अपने इस कारनामे मे भी संकेत किया है, राष्ट्रोन्नति केवल सगठन पर ही निर्भर है, और सौ दो सौ मनुष्यो का बलिदान, उनके इच्छाओं और स्वार्थों का बलिदान भी आवश्यक है। सभी उन्नति के मूल को धर्म ही माना गया है।[1]

व्याख्यान के अन्त मे बहु विवाह प्रथा, कुलीन प्रथा, लड़कियों को न पढ़ाने की प्रथा को दूर करने की अपील किया है। पढ़ाने का अर्थ उन्होंने शिक्षा के व्यापक स्वरूप से लिया है, वे ऐसी पढाई नही चाहते जिससे केवल वाह्याडम्बर की वृद्धि हो तथा व्यक्ति अपने में ही सीमित रहे उन्होंने मस्तिष्क और शरीर की शिक्षा के साथ ही साथ संस्कारो को शिक्षित करने को कहा है। स्वदेश की भावना, राष्ट्र प्रेम तथा आत्मीय संस्कार ही शिक्षा का व्यापक उद्देश्य होना चाहिए, इन्होने अपने इस मत को प्रकट भी किया है। सभी की एकता, तथा सभी जातियों के हित की भावना ही सर्वस्व है। छोटी जाति के मनुष्यो का अपमान जाति के लिए कलक है, इसीलिए छोटी जाति उच्च जाति के लोगों के प्रति साहस नही कर पाते। अन्त मे हिन्दू और मुसलमान की एकता की बात भी भारतेन्दु ने कहा है और मुसलमान धर्म में जाति भेद का न होना, 'खाने पीने मे चौका चूल्हा का न होना तथा विलायत जाने मे रोक थाम का न होना' भारतेन्दु को अच्छा लगा है। अतएव हिन्दुओं के साथ कधा में कंधा मिला कर चलने की आवश्यकता है और यही एकता की भावना ही राष्ट्र की प्रगति कर सकेगी। अपनी कविता की पक्ति 'पर धन जात विदेश यही अति ख्वारी' भी यहाँ वे भूल नही पाये हैं, उन्होने भारतवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि मलमल तथा अन्य विलायती वस्त्रों के उपयोग से हिन्दुस्तान का पैसा बाहर जाता है, अतएव आवश्यक यह है कि सभी अपने देश के रोजगार और घरेलू धंधो को फिर अपनाओ। अपने युग की आवश्यकता को पूर्ण करने में भारतेन्दु कितने प्रयत्नशील थे, इसका स्पष्टीकरण इनके इस व्याख्यान से हो जाता है। संक्षेप में इन्होंने जाति-पाँति का विरोध, वाद-विवाद का विरोध एवम् बाहरी कपड़ो का

---

१. सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबसे पहिले धर्म की ही उन्नति करना उचित है। देखो, अँग्रेजो की धर्म नीति और राजनीति परस्पर मिली है, इससे उनकी दिन दिन कितनी उन्नति है। उनको जाने दो। अपने ही यहाँ देखो, तुम्हारे यहाँ धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति, समाज गठन, वैद्यक आदि भरे हुए हैं।

—वही भारत की उन्नति कैसे हो सकती है

विरोध किया, भारतेन्दु अपने विचारों मे राष्ट्रोन्नति के परिचायक प्रतीत हुए हैं। की यह दृष्टि प्रगतिशील दृष्टि है। इसका ऊपर उल्लेख पूर्ण रूपेण हो चुका है।

इस प्रकार से इन धार्मिक एवम् सांस्कृतिक निबन्धो की सामान्य विशेषतायें म्न हैं—

.) लेखक ने प्राचीन रूढ़ियों और कुरीतियो से जनता को सचेत किया है। यद्यपि इन लेखों मे कहीं भी प्राचीनता पर प्राचीनता के नाम पर आरोप लगाकर उसे त्याग देने की बात नही कही गई है, फिर भी एक बौद्धिक आधार प्रस्तुत करके और उसकी उपयोगिताओ अथवा अभावो को दिखलाते हुए उन्हीं अभावों के आधार पर प्राचीनता एवं रूढ़ियों को छोड़ देने का संदेश दिया है।

२) देश वासियों के समक्ष प्राचीनता के गौरवशील अँगों का स्पष्टीकरण करना। वर्तमान को अतीत से जोड़ने का प्रयास भी किया गया है, इसके पीछे भारत के गौरवशाली अतीत की प्रशंसा करके और उसके धनाढ्य होने की ऐतिहासिक पुष्टि करके अतीत के गौरव के प्रति सहज अनुराग प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार से वर्तमान को अपने अतीत के गौरवों द्वारा सहज ही प्रेरणा मिली है।

३) स्थान स्थान पर उन्होने विदेशी सभ्यता एवम् संस्कृति को तथा उनके कुप्रभावों को बतला कर, उन्हें अग्राह्य बतलाया है। कोई भी वाह्य संस्कृति को उन्होंने इसीलिए हेय नहीं समझा कि वह वाह्‌य है, बल्कि अपने देश की संस्कृति एवम् सभ्यता में उन वाह्‌य कलेवरों का आत्मसात न होना बतला कर ही, उन्हे त्याज्य माना है। एक देश की सभ्यता और संस्कृति दूसरे देश की साँस्कृतिक रुचि से सम्मिलित नहीं कर सकती, उसके आधारभूत सिद्धान्तों का विपरीत होना ही मिल न सकने के लिए बाध्य कर देते हैं।

४) देश की विभिन्न जातियो एवम् धर्मो मे परस्पर एकता स्थापित करना, उनका उद्देश्य रहा है। यद्यपि सभी धर्मों के सिद्धान्त गत विभिन्नताओं की ओर भी उन्होने प्रकाश डाला है परन्तु राष्ट्रीय हित के लिए, जहाँ पर राष्ट्र का प्रश्न हो वहाँ सभी धर्मों को एक स्वर से राष्ट्र हित की कामना करने के लिये भी संदेश दिया है।

इन्हीं विशेषताओं के कारण हमें भारतेन्दु के निबन्धों में विचारों की प्रगति ा दर्शन होता है। तत्कालीन परिस्थितियों में क्या ग्राह्‌य है अथवा क्या अग्राह्‌य ाह, भारतेन्दु को स्पष्ट विदित होता चलता है, अतएव उनके साहित्य मे भी हमें ए दवत चेतना का होना प्रतीत होता है। साहित्यिक प्रगति का यह प्रधान लक्षण क सामाजिक एवम् राष्ट्रीय चेतना को साहित्य के द्वारा अनुशासित किया जाय वहाँ ये तत्व साहित्य से दूर जाते हैं वही पर साहित्य का विकास रुक जाता है तएव ये निबन्ध वाह्‌य एवम् आन्तरिक कलेवरों मे प्रगति का द्योतन करते हैं

कुरुक्षेत्र का सन्देश

कुरुक्षेत्र श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की कृति है। इस कृति में कवि का ध्यान युद्ध की समस्या की ओर आकर्षित हुआ है। आदि से अब तक केवल एक ही स्वर इस प्रबन्ध मे गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है 'युद्ध होता क्यो है ? क्या युद्ध को रोकने का कोई सफल प्रयास है ?' इन्ही का उत्तर देते हुए कवि ने एक प्रबन्ध की सृष्टि कर दी है। इसके अतिरिक्त यह भी समस्या रही है कि युद्ध का दायित्व हो किस पर ? पुस्तक के 'निवेदन' मे ही यह स्पष्ट किया गया है।

"युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए ? उस पर, जो अनीतियो का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमत्रण देता है ? या उस पर, जो इस जाल को छिन्न विछिन्न कर देने के लिए आतुर है?" 'कुरुक्षेत्र' का महत्व आज भी वैसा है। भारत उन परिस्थितियो मे होकर जा रहा है जब अहिंसा की तथा शान्ति की नीति अपनाने के बाद भी उसे पड़ोसी राष्ट्रो के द्वारा छेड़ा जा रहा है। इस समस्या का उत्तर 'कुरुक्षेत्र' देता है। कवि ने यह संकेत किया है प्रत्येक युद्ध के पहिले द्विधा उमड़ते हुए क्रोध से लड़ती है। मानव रुककर सोचता है कि केवल क्या यही उपचार है, क्या युद्ध के अतिरिक्त और कोई उपाय नही है ? जब वह कोई और उपाय नही पाता तब लड़ने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। कवि के वाचक भीष्म यह संकेत देते है कि आत्मा का युद्ध आत्मा से और देह का युद्ध देह से जीता जाता है। अतएव प्रधान रूप से इन समस्याओ को कवि ने लिया है—

(१) युद्ध के अतिरिक्त क्या न्याय पाने का कोई और साधन नही है।

(२) वर्तमान जगत की फैली हुई विभीषिकाये किस प्रकार से शान्त की जा सकती हैं ? भीष्म वैरागी युधिष्ठिर को सदेश देते हैं—वह सदेश आज के युद्ध के लिए भी एक समाधान प्रस्तुत करता चलता है।

(३) सम्पूर्ण समाज कैसे सुव्यवस्था और शान्ति की प्राप्ति कर सकता हैं ? 'कुरुक्षेत्र' का प्रारम्भ ही कवि की चिन्तनधारा में सिक्त है। कवि सोचता है कि युद्ध में राजा स्वयं क्यों नही आगे बढ़कर लड़ता, किशोरों को कटवा कर, उनका शोणित धरती में प्रवाहित करा करके वह सोचता है कि हमारे देश की लज्जा बच गई—

आश्वस्त होकर सोचता,
'शोणित बहा लेकिन गई बच लाज सारे देश की !'

इसके पश्चात, प्रथम सर्ग मे ही युद्ध के लिए आतुर मानव यह सोचता हुआ दिखलाया गया है कि रणभूमि मे विजय के पश्चात भी, सत्य की प्राप्ति अथवा उस उद्देश्य की प्राप्ति जिसका एक मात्र उपाय ही सत्य को आधार बनाकर चलना था वह नहीं मिला। तब पश्चात्ताप होता है जिस सत्य की प्राप्ति के लिए युद्ध किया जाता है वह विजय के बाद मिला नहीं—शान्ति उसके चरम उद्देश्य के सूत्र मे थी परन्तु वह प्राप्त हुई नही—और नरमेध करने वाला व्यक्ति सोचने लगता है–

'नर का बहाया रक्त, हे भगवान ? हमने क्या किया ?'

इसी चिन्तन धारा के साथ महाभारत के युधिष्ठिर का विचार भी जोड़ दिया जाता है। यद्यपि महाभारत की सम्पूर्ण कथा जैसे की तैसे कवि ने नहीं ली है–

युग की मान्यताओं तथा नवीनीकरण के साथ उस कथा को जोड दिया गया। युधिष्ठिर यह सोचते हुए दिखलाए गए हैं कि द्रोपदी की लज्जा हरे जाने के प्रतिकार में यह युद्ध हुआ–द्रौपदी को सान्त्वना देने के लिए इतना नरसंहार, भारत के इतने राजाओं का विनाश, अभिमन्यु की आहुति, यह सब उसके मस्तिष्क को झकझोर देता है। प्रायः पराजय हुई किसकी ? युधिष्ठिर की विजय तो डँसनेवाली हो गई–राज्य मिला परन्तु श्मशान की भूमि की तरह राज्य जिसमे अभिमन्यु का शव दफ़ना जा चुका हो। इसी दार्शनिक व्यवस्था को करते-करते प्रथम सर्ग की समाप्ति हो जाती है और युधिष्ठिर अपनी शंका का समाधान भीष्म के पास करने को चले जाते हैं। यही समस्या आज के मानव की भी तो है। इतने संघर्ष, इतनी ज्वाला और इतने संहार के पश्चात वह यदि कुछ प्राप्ति करता भी है तो उसे भोगे कौन ? संघर्ष के पश्चात उस विजयी मानव को मिलेगा क्या ? युधिष्ठिर आज के मानव-शासक का प्रतीक है। इस सर्ग के अन्त तक यही प्रश्न प्रधान रहता है—

यह महाभारत वृथा, निष्फल हुआ,
उफ ! ज्वलित कितना गरलमय व्यग है !
पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से,
हो गया संहार पूरे देश का।

× × × ×

रक्त से छीने हुए इस राज्य को,
वज्र हो कैसे सहूँगा भोग मैं ?
आदमी के खून से यह है सना,
और है इसमें लहू अभिमन्यु का।

द्वितीय सर्ग मे प्रश्नों से बोझिल मस्तिष्क को लेकर युधिष्ठिर भीष्म से मिलते हैं। वह पूछते हैं पितामह हार मेरी हुई है न क्योंकि मैं नियति

के व्यंग भरे अर्थों को सुन रहा हूँ। बन्धु-बान्धवों का शव-दाह देख रहा हूँ और सुन रहा हूँ उत्तरा का करुण विलाप।[1] युधिष्ठिर हताश हो जाते हैं। कलिंग के युद्ध के पश्चात वही अशान्ति जो अशोक महान् को हुई वही अशान्ति युधिष्ठिर के मानसिक जगत में भी आई। भारत के अहिंसा का सिद्धान्त, उसका आध्यात्मिक दृष्टि-कोण-मानव को शस्त्रबल से नहीं बल्कि मनोबल से ही जीता जा सकता है—इन सभी का सामूहिक रूप 'दिनकर' का युधिष्ठिर है। भारत की आध्यामिक चिन्तन धारायें उसके व्यक्तित्व मे आकर सिमट गई हैं—एक ओर आध्यात्म प्रधान भारत दूसरी ओर मानव की स्वाभाविक हिंसा, प्रतिकार लेने की भावना है। इन दो विरोधी तत्वो को निपटाया कैसे जाय। भीष्म का दार्शनिक रूप तथा व्यवहारिक पक्ष दोनों प्रधान हैं—वे उद्विग्न युधिष्ठिर को समझाने का प्रयास करते हैं। भीष्म युद्ध की उपमा रोग से करते हैं। जब रोग पास आ गया हो तो वह कड़ुवी औषधि से ही शान्त होगा। उसे मिष्ठान्न से तो नहीं जीता जा सकता।[2] भीष्म युधिष्ठिर को यह भी संदेश देते है कि जीवन में पलायन से कार्य नहीं चलता जब चारो तरफ हमारी आजादी खतरे से घिरी पड़ी हो—तब त्याग, तप और तपस्या से काम लेना कायरों की बात है।

> **छीनता हो स्वत्व कोई, और तू**
> **त्याग, तप से काम ले, यह पाप है,**
> **पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,**
> **बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो!**

तृतीय सर्ग मे भी यही चर्चा होती रहती है। शान्ति का महल सुदृढ़ रह ही नही सकता, जब तक उस महल की रक्षा करने के लिए एक सुदृढ़ हाथ न हो। यदि हमे क्षमा, सहनशीलता, दया के अस्तित्व को रखना है तो शान्ति की पूजा भी आवश्यक है। एक निर्बल का कोई कार्य शोभा नही देता—क्योंकि उसने क्षमा, दया और सहनशीलता विवश होकर स्वीकार किया। यद्यपि भीष्म के ऐसे विचार हैं फिर भी

१—और बैठ मानव की रक्त सरिता के तीर,
नियति के व्यंग भरे अर्थ गुनता है कौन?
कौन देखता है शव दाह बन्धु-बान्धव का,
उत्तरा का करुण विलाप सुनता है कौन?
—कुरुक्षेत्र, द्वितीय सर्ग पृष्ठ, ९

२—व्रण होना चाहता कोई नहीं,
रोग लेकिन आ गया जब पास हो,
तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या?
शमित होगा वह नहीं मिष्ठान्न से।
—वही पृष्ठ १७

वह शान्ति की कामना करते हैं, वह यह सोचने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य भाई भाई होकर कैसे जिए? वह इसी निष्कर्ष पर आते हैं जब सभी सबके अधिकारों को पहिचान लेंगे तभी शान्ति हो सकेगी, जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के ग्रास को कप-टने के लिए कटिबद्ध न हो, जब एक का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ का गला घोट देने को तत्पर न हो, तभी शान्ति हो सकेगी परन्तु यह आदर्श की कल्पना है जो अभी दूर है। अभी तो केवल एक युधिष्ठिर हैं——जब सभी या अधिकांश युधिष्ठिर हो जायेंगे तभी युद्ध की समस्या का अपने आप निदान हो सकेगा। इस समाज की वास्तविक दशा देखते हुए भीष्म के स्वरों को स्वीकार कर ही लेना पड़ता है कि——

पापी कौन! मनुज से उसका, न्याय चुराने वाला,
या कि न्याय खोजते विघ्न का, सीस उड़ाने वाला!

इसी प्रकार से इस कथा का सूत्र आगे बढ़ता है। युद्ध की समस्या का विश्लेषण एवम् निदान ही कवि का इष्ट रहा है। षष्ठ सर्ग में विज्ञान की प्रगति और मानव पर एक नए सिरे से विचार कर लिया गया है। आज का संसार द्वापर से बहुत आगे आ चुका है—द्वापर के मानव की समस्याओं से बहुत आगे, उन सम-स्याओं का नया रूप बल्कि, और उलझा रूप, हमारे समक्ष में आ गया है। हमने विज्ञान की प्रगति भी अपने साथ बाँध ली है—हमारा वायु, वारि, विद्युत और भाप पर अधिकार हो चुका है, इस प्रकार से मस्तिष्क बढ़ता गया है और 'हृदय का देश' पीछे छूट गया है।

'यह प्रगति निस्सीम, नर का यह अपूर्व विकास,
चरण तल भूगोल, मुट्ठी में निखिल आकाश।'

इन दो पंक्तियों में ही समस्त प्रगति की रूपरेखा प्रस्तुत कर दी गई है। एक ओर तो ऐसी प्रगति है—मानव के जय का इतिहास है और उसके प्रत्यक्ष उदा-हरण भी हैं परन्तु इस सम्पूर्ण विजय और अधिकारों को प्राप्त करने के बाद भी मिल क्या रहा है? आज के मानव की विशेषताएँ कवि के ही सशक्त शब्दों में देखिये——

यह मनुज ज्ञानी, शृगालों कुक्कुरों से हीन——
हो किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन,
देह ही लड़ती नहीं, है जूझते मन प्राण,
साथ होते ध्वंस में इसके कला विज्ञान,
इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर छूटते शुभ धर्म अपना भूल!!

इस प्रकार से हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि कुरुक्षेत्र में आज की सम-स्याओं को लेकर विचार किया गया है। एक ओर युधिष्ठिर का अहिंसावाद है और दूसरी ओर भीष्म का संदेश जो इसी जीवन को महान् बनाना चाहता है—वह युद्ध

नही चाहते अन्याय नही चाहते परन्तु अन्याय का पोषण करना भी तो उनका ध्येय नही है भीष्म के व्यक्ति, की महानता यही है कि उनमे वही पलायन नही है। जीवन को आँख गड़ा कर देखा है, उसे समझा है और शान्ति चेष्टा, आत्म समर्पण करके कहीं भी वे नही करते।

कुरुक्षत्र का सप्तम सर्ग तो दार्शनिकता से ओत-प्रोत है। वह दर्शन भी practical philosophy है, दर्शन के लिए दर्शन नही—वह दर्शन जो सम्भव हो सके यथार्थ और आदर्श का एक सफल प्रयोग है। आज के मनुष्यो को युधिष्ठिर के बहाने संदेश है कि मिट्टी से भगो नहीं, इसके भार को सम्हालो[1] व्योम प्रवासी रह करके मनुष्य कुछ पा नही सकता है। माना यहाँ सघर्ष है, ज्वाला है, प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की भट्ठियाँ सुलग रही है परन्तु इसी ज्वाला मे तप-तप करके मृतक को अपने व्यक्तित्व को सुलझाना है। जाते-जाते 'दिनकर' के भीष्म युधिष्ठिर को समझा ही देते है अपर, स्वर्ग की बात इस धरती के लिए उतनी सार्थक नही जितनी कि इस धरती की चिन्ता। इस मिट्टी और यहाँ के जीवन मे सब कुछ है।[2] इसी धरा को तो हमें स्वर्ग बनाना है। एक ओर भारत का अहिंसावादी दर्शन जो गाँधी जी के द्वारा हमारे धमनियो मे रक्त के साथ प्रवाहित कर रहा है और दूसरी ओर कर्म का सिद्धान्त, इन दोनो का निर्वाह युधिष्ठिर और भीष्म के रूप मे हुआ है। जिन्हें कर्म पर विश्वास है, जो जीवन मे स्वस्थ भावनाओ को लेकर सघर्ष करना जानते है, वह ही जीवन के अधिकारी है। विज्ञान ने हमें सब कुछ दिया परन्तु उसका प्रयोग, उस सचित शक्ति का सदुपयोग, हमारी निष्ठा और सद्बुद्धि ही हमें सिखा सकती है। जिस दिन मानव इस सत्य को पहिचान लेगा उसी दिन इस धरती की कुछ समस्यायें तो कम हो ही जायेंगी। संक्षेप में कुरुक्षेत्र का यही आज की विषम परिस्थियो में.पलते हुए मानव को सन्देश है।

समाप्त

१—मिट्टी का यह भार सम्हालो, बन कर्मठ सन्यासी,
पा सकता कुछ नहीं मनुज, बन केवल व्योम प्रवासी!

२—ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में,
धर्म राज ! जो कुछ है, वह है, मिट्टी में, जीवन में!!
भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को, दाग नहीं लग पाये,
मिट्टी में तुम नहीं- वही तुम में विलीन हो जाये!!